ईशादिद्वादशोपनिषद्

विद्यानन्दीमिताक्षरासमलङ्कृत

व्याख्याकार :

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य

यतीन्द्र कुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर

स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज

सम्पादक :

स्वर्ण लाल तुली

स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता कैलास आश्रम के वर्तमान दशम पीठाधीश्वर अनन्तश्री स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज हैं। आपका जन्म भौमवार मार्गशीर्ष अमावस्या वि.सं. १९७८ (सन् १९२१) को गाजीपुर ग्राम जिला पटना (बिहार) में एक समृद्ध ब्राह्मण परिवार में हुआ। बाल्यकाल से ही आध्यात्मिक लगन हृदय में घर किए हुए थी। बीस वर्ष की आयु में घर गृहस्थी को छोड़कर आप नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेकर अखण्ड परमार्थ साधना में लग गए। अपने सद्गुरुदेव अनन्तश्री स्वामी विज्ञानानन्दगिरि जी महाराज एवं उनके गुरुदेव योगिराज अनन्त श्री स्वामी नित्यानन्दगिरि जी महाराज से आपको पर्याप्त मार्गदर्शन प्राप्त हुआ।

संस्कृत विद्या के प्रति हार्दिक आकर्षण उत्पन्न होने से आपने पाणिनीय अष्टाध्यायी और पातञ्जल महाभाष्य का अध्ययन संस्कृत के असाधारण विद्वान् अवधूत श्री ब्रह्मानन्द जी से दो बर्षों तक किया। विद्या पिपासा ने आपको काशी में दक्षिणामूर्त्ति मठ में निवास कर मध्यमा से लेकर शास्त्री, वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य पर्यन्त परीक्षा क्रम से अध्ययन के लिए प्रेरित किया। कुशाग्रबुद्धि सम्पन्न, आप सभी परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। अध्ययन के साथ अध्यापन की लगन भी आप में होने से आपने दक्षिणामूर्त्ति संस्कृत महाविद्यालय में वेदान्त-प्राध्यापक के पद को स्वीकार किया। आपकी अध्यापन शैली से विद्यार्थी अत्यन्त सन्तुष्ट एवं प्रभावित हुए।

ॐ

ईशादिद्वादशोपनिषद्

"अष्टादशाहज्ञानयज्ञोपयोगी"

विद्यानन्दीमिताक्षरासमलङ्कृत

व्याख्याकार :

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य

यतीन्द्र कुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर

स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज

सम्पादक :

स्वर्ण लाल तुली

प्रकाशक :

श्रीकैलास विद्याप्रकाशन

मुनि की रेती, ऋषिकेश (उ. प्र.)

प्रथमावृत्ति : १००० १९७० ई०
द्वितीयावृत्ति : २२०० १९७६ ई०
तृतीयावृत्ति : ३००० १९९५ ई०

मूल्य : दो सौ रुपये मात्र

पुस्तक प्राप्ति स्थान :
श्री कैलास आश्रम, ऋषिकेश - २४९ २०१
श्री ब्रह्मानन्द आश्रम, ऋषिकेश - २४९ २०१
श्री कैलास आश्रम, उजेली उत्तरकाशी - २४९ १९३
श्री कैलास आश्रम, माडल टाऊन, रोहतक -१२४ ००१
श्री कैलास धाम, नई झूसी, इलाहबाद -२२१ ५०६
श्री कैलास विद्या तीर्थ (आदि शंकराचार्य स्मारक),
६, भाई वीर सिंह मार्ग, नई दिल्ली - ११० ००१
श्री राधाकृष्ण मंदिर, ५३/१७, राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली -११० ०६०
श्री चैतन्य कुटीर, १८/७८, पंजाबी बाग, नई दिल्ली - ११० ०२६
श्री विद्यासदन, ४५ गुजराँवाला टाऊन भाग-२, दिल्ली - ११० ००९
श्री सद्गुरुधाम, यू.पूर्वी, मौर्य एन्क्लेव, पीतम पुरा, नई दिल्ली - ११० ०३४
श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार - २४९ ४०१
श्री राम आश्रम, समाना मण्डी (पटियाला), पंजाब - १४७ १०१
श्री कैलास विद्यालोक चैतन्य सत्संग भवन, १३/३६१ गोविन्द नगर, कानपुर - ६
श्री कैलास विद्या तीर्थ, राजगीर (नालन्दा) बिहार - ८०३ ११६
श्री शंकर ब्रह्मविद्या कुटीर, ८३-ए द्वारिका पुरी, मुजफ्फरनगर (यू.पी.) - १२५ ००१
श्री कैवल्यविद्याकान्तम्, १०३-बी, राजोरी गार्डन, नई दिल्ली - ११० ०२७
श्री नर्बदा सत्संग भवन, भिलाड़िया घाट, होशंगाबाद
श्री कैलास शान्ति सदन, सुभाषा नागर, गुड़गांव (हरियाणा)

'Om'

ĪSHĀDIDWĀDASHA UPANIṢHAD

with

VIDYĀNANDĪ MITĀKSHRĀ

By

HIS HOLINESS SWĀMĪ VIDYĀNANDA GIRIJĪ MAHĀRĀJ

Vedānta-Sarvadarshana-Āchārya

Mahāmaṇdaleshavara & Head of the Brahm-Vidyā Pītha Kailās Āshram Rishikesh (Himālayās) India

Edited by

S. L. Tuli

सम्पादकीय

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः

संसारहृत्कः श्रुतिजात्मबोधः को मोक्षहेतुः कथितः स एव

—भगवान् आदिशंकराचार्य

भगवती श्रुति द्वारा प्रतिपादित, ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान ही संसार चक्र से छूटने एवं परमपुरुषार्थ मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र साधन है। अपौरुषेय श्रुतियों के गूढ़ अर्थ को प्रकट करने के लिये भगवान् वेदव्यास जी ने ब्रह्मसूत्रों, इतिहास एवं पुराणों की रचना की। किन्तु उनका सही अर्थ करने में कई विद्वान् भ्रमा गये। अतः अवतारी महापुरुषों-श्री आदि शंकराचार्य भगवत्पादादि आचार्यों ने श्रुतिमन्त्रों, ब्रह्मसूत्रों एवं श्रीमद्भगवद्गीता आदि ग्रन्थों पर भाष्य लिखे, जो उस समय की प्रचलित भारतीय भाषा संस्कृत में हैं। आज जब संस्कृंत भाषा जन साधारण की भाषा नहीं रह गई तो उन भाष्य ग्रन्थों को समझना तो दूर, उनका पाठ मात्र करने में भी लोग असमर्थ हो गये। ऐसी परिस्थिति में भारतीय वेदान्त दर्शन की इस अमूल्य धरोहर को श्रद्धालु जन देखकर एवं उसका अर्थ समझ कर लाभान्वित हो सकें, इसी परोपकारी दृष्टि से कैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्रीमत्स्वामी विद्यानन्दगिरि जी महाराज वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य ने इन ग्रन्थों की सरल सुबोध हिन्दी टीका लिखने की कृपा की।

ईशादिद्वादशोपनिषद् की हिन्दी टीका का नाम 'विद्यानन्दीमिताक्षरा' है, जिसका यह तृतीय संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुये हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस संस्करण की विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक श्रुतिमन्त्र एक अलग पैरा (Para) के रूप में प्रस्तुत किया गया है ताकि इसका पाठ श्रीमद्भगवद्गीतादि ग्रन्थों की तरह करने में पाठकों को सुविधा हो। कम्पोजिंग, छपाई एवं जिल्द सभी नये आधुनिक ढंग से सुन्दर बनाने का प्रयास किया है।

विद्यानन्दीमिताक्षरायुत ईशादिद्वादशोपनिषद् की उपयोगिता महाराज श्री द्वारा अनुष्ठेय अष्टादशाह ज्ञान यज्ञ में सर्वाधिक सिद्ध हुई है। सबसे अधिक प्रसन्नता की बात यह है कि इस संस्करण का विमोचन महाराज श्री के ७५वें जन्म दिवस (हीरक

जयन्ती) के उपलक्ष्य में नड़ियाद (गुजरात) में हो रहा है, जहाँ उपनिषद् अष्टादशाह ज्ञानयज्ञ महाराज श्री द्वारा सम्पन्न होगा। महाराज श्री के कैलासब्रह्मविद्यापीठ पर आसीन होने का यह २७वाँ वर्ष चल रहा है। इस वर्ष में महाराज श्री द्वारा कई दिव्य ग्रन्थों की रचना हो रही है, जिसमें ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य पर हिन्दी व्याख्या मुख्य हैं। इन शुभ प्रवृत्तियों से भारतीय संस्कृति के पोषक कैलास आश्रम को और भी चार चाँद लगेंगे।

सम्पादन कार्य में मेरी प्रवृत्ति महाराज श्री की प्रेरणा एवं कृपा से हुई है। अतः इसमें यदि कुछ सफलता पाठकों को प्रतीत हो तो उसका श्रेय महाराज श्री को है और त्रुटियों के लिये मैं ही दोषी हूँ। अन्तिम प्रूफ के संशोधन में परमश्रद्धेय डॉ श्री उमेशानन्द शास्त्री जी महाराज, मन्त्री श्री कैलासाश्रम ट्रस्ट कमेटी के परिश्रमयुत अमूल्य सहयोग के लिये उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। हरिॐतत्सत्।

—गुरुपादानुरागी

स्वर्ण लाल तुली
४५, विद्यासदन
गुजराँवाला टाऊन-२,
दिल्ली-९

कार्तिक पूर्णिमा वि. २०५२

श्री निर्वाणपीठाधीश्वरश्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य
श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य महामण्डलेश्वर

श्री १००८ स्वामी श्री कृष्णानन्दजी महाराज

की

शुभ सम्मति

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मानिष्ठ महामण्डलेश्वर श्री १००८ स्वामी श्री विद्यानन्द गिरिजी महाराज, कैलासाश्रम, ऋषिकेश वालों की लिखी हुई ईशादि-द्वादश उपनिषदों की राष्ट्रभाषा हिन्दी में "विद्यानन्दी मिताक्षरा" नाम की जिज्ञासु जनोपयोगिनी टीका देखकर हमें बड़ी ही प्रसन्नता हुई। अतएव भूतभावन भगवान् श्री विश्वनाथजी से हमारी हार्दिक प्रार्थना है कि वे लेखक को प्रोत्साहित करते हुए उन्हें अपने कार्य में सफलता प्रदान करें।

प्रस्तावना

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः

असंख्य प्राणियों की इच्छा के अनन्त विषयों को जिन चार भागों में विभक्त किया जा सकता है, उनके नाम हैं अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। इनमें पहले के तीन पुरुषार्थ काल पाकर नष्ट हो जाते हैं, किन्तु नित्य होने से मोक्ष सदा बना रहता है। मोक्ष के नित्यत्व में 'न स पुनरावर्तते' (मुक्त पुरुष फिर संसार में लौटता नहीं) 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' (जहाँ जाकर फिर लौटता नहीं, वह मेरा परम धाम है) ऐसे श्रुति-स्मृति वाक्य प्रमाण हैं। वह मोक्ष उपनिषद् वाक्य रूप प्रमाण-जन्य प्रत्यक्ष ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से ही मिलता है। इसमें अनेकों श्रुति वाक्य तथा विद्वानों का अनुभव प्रमाण है। यों तो उप-नि, उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से उपनिषद् शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'ब्रह्मज्ञान' होता है, किन्तु ब्रह्मज्ञान के जनक संस्कृत वाङ्मय वेद के शिरो-भाग को भी उपनिषद् या वेदान्त कहते हैं। वेद तथा उनकी शाखाओं और उपनिषद् के सम्बन्ध में श्रुति कहती है—

> ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः।
> तेषां शाखा ह्यनेकाः स्युस्तासूपनिषदस्तथा॥
> ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः।
> नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज॥
> सहस्रसंख्यया जाताः शाखा साम्नः परन्तप।
> अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे॥
> एकैकस्यास्तु शाखा या एकैकोपनिषन्मता।
>
> (मुक्तिको०प्र० ११-१४)

ऋग्वद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के विभाग से अपौरुषेय वेद चार माने गये हैं। इनमें ऋग्वेद की २१ शाखायें हैं। हे हनुमन्! यजुर्वेद की १०९ खाशायें हैं। सामवेद की १००० शाखायें हैं और अथर्ववेद की ५० शाखायें हैं। प्रत्येक शाखा की एक-एक उपनिषद् मानी गयी है। ११८० शाखाओं में से आज संहिता भाग के केवल ११ शाखायें मिलती हैं, किन्तु उपनिषद् आज भी ४२० उपलब्ध हैं जो अनेक देशों में छप चुके हैं।

लौकिक साधारण वस्तु से लेकर वेदादि शास्त्र प्रतिपादित बड़े-बड़े यागादि का विज्ञान भी अनुष्ठान के बिना फल देता हुआ नहीं देखा गया है। यथा—कृषि ज्ञान, कलाकौशलादि के ज्ञान के बाद कृषि आदि करने से फल मिलता है, वैसे ही शास्त्र से यागादि का ज्ञान प्राप्त करलेने पर भी उसके अनुष्ठान बिना कभी भी उसका फल नहीं मिलता। जब यह बात सर्वत्र देखी गयी है, तो ब्रह्म ज्ञान के बाद भी साधक को कुछ करना ही पड़ेगा। अनुष्ठान के बिना केवल ब्रह्मज्ञान के फल की आशा दुराशा मात्र है। उत्तर यह है कि—सिद्ध और साध्य भेद से फल दो प्रकार का है। लौकिक कृषि आदि तथा वैदिक यागादि क्रिया से जन्य फल साध्य रूप है। अतएव वह अनित्य है। पर ब्रह्मज्ञान से होने वाला फल नित्य प्राप्त होने के कारण सिद्ध रूप है, क्योंकि सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म सबका आत्मा होने से सदा प्राप्त ही है। केवल अनादि अनिर्वचनीय अविद्या के कारण वह अप्राप्त-सा प्रतीत होता है। उस अविद्या का वेदान्त वाक्य जन्य ब्रह्मात्मैक्य बोध से नाश हो जाने पर साधक अपने आप को नित्य मुक्त ही पाता है। अज्ञान का बन्धन ज्ञान से ही निवृत्त हो सकता है अन्य किसी साधन से नहीं, क्योंकि ज्ञान ही अज्ञान का एकमात्र विरोधी है। जैसे अन्धेरे का नाश एकमात्र प्रकाश से ही होता है और किसी क्रिया से नहीं। हाँ, प्रकाश को उत्पन्न करने के लिये भले ही क्रिया की आवश्यकता हो। पर उत्पन्न हुआ प्रकाश अकेला ही अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ है। ठीक वैसे ही ब्रह्माकार वृत्ति रूप ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व कर्मानुष्ठान एवं उपासना के द्वारा अन्तःकरण को रागादि मल से रहित तथा चञ्चलता दोष से शून्य कर लेना चाहिये तत्पश्चात् श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के मुख से वेदान्त महावाक्य का श्रवण करने पर उत्पन्न ब्रह्माकार वृत्ति में आरूढ़ चैतन्य अकेला ही उक्त अज्ञान को नाश करने में समर्थ है। अतः नित्य सिद्ध ब्रह्म को आत्म रूप से प्रत्यक्ष अनुभव कर लेने पर साधक कृत-कृत्य हो जाता है, उस समय उसके लिये कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहते।

इसी ब्रह्मविद्या को मुख्य रूप से उपनिषद् या वेदान्त कहते हैं। और इस विद्या के जनक वेद के शिरो-भाग को गौण रूप से वेदान्त कह दिया गया है। उपनिषदों का समन्वय ब्रह्मसूत्रों में किया गया है तथा संग्रह या व्याख्यान श्री मद्भगवद्गीता में है। अतः इन्हें भी वेदान्त कहते हैं।

प्राचीन महर्षि से लेकर आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने निष्पक्ष भाव से विचार करने पर सर्वश्रेष्ठ विज्ञान का उद्गम स्थान इन्हीं उपनिषदों को माना है। भारतीय आचार्य लोग तो अपने विचार को उक्त तीनों ग्रन्थों से समन्वित होने पर ही जनता के सामने रखते थे अन्यथा नहीं। इसीलिये आचार्य शंकर भगवत्पाद ने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता पर भाष्य लिखने के बाद ही जनता के सामने केवलाद्वैत सिद्धान्त को रक्खा है। उनके बाद केवलाद्वैत सिद्धान्त पर धूलि प्रक्षेप करने के लिये अन्य संप्रदायाचार्यों ने भी उक्त ग्रन्थों पर भाष्य लिखने

का असफल प्रयत्न किया है। उपनिषदादि ग्रन्थों का रहस्य भाष्य एवं आनन्दगिरि टीका सहित श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यों के मुख से श्रवण करने पर ही जाना जा सकता है, किन्तु समयाभावादि अनेक प्रतिबन्धकों के कारण जो भाष्यादि ग्रन्थ पढ़ने में समर्थ नहीं हैं, ऐसे लोगों के लिये यह आवश्यक था, कि शांकर भाष्यानुसारी सरल सुबोध हिन्दी भाषा में परिमित शब्दों में संक्षिप्त यह टीका लिखी जाय। इस विषय में अध्ययन काल से ही हमारे मन में संकल्प था, किन्तु कार्य तो अपने नियत समय पर हुआ करता है। वेदान्त परिभाषा की सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या तथा ब्रह्मसूत्रों की सानुवाद विद्यानन्दवृत्ति लिखने के बाद हमारे मन में यही विचार हुआ कि उपनिषदों की संक्षिप्त व्याख्या हिन्दी में लिखी जाय। यद्यपि ईशावास्योपनिषद् शांकरभाष्य की "भाष्यार्थ दीपिका" लिखने एवं प्रकाशित होने के बाद दशोपनिषद् शांकरभाष्य पर भाष्यार्थ दीपिका लिखने के लिये विद्वानों की सम्मति और पाठकों की माँग आयी, तथापि संक्षेप रूप से उपनिषदों का तात्पर्य समझ लेने पर विशेष रूप से रहस्य जानने की जिज्ञासा हुआ करती है। इसलिये इस काम को पहले करना आवश्यक समझा और किया भी।

ईशादि-दशोपनिषद् पर शांकरभाष्य तथा आनन्दगिरि टीका है। इनके अतिरिक्त श्वेताश्वतर और कैवल्योपनिषद् का भी संग्रह प्रस्तुत ग्रंथ में किया गया है। इन्हीं द्वादशोपनिषद् का प्रायशः अध्ययन, अध्यापन एवं व्याख्यानादि में उपयोग देखा जाता है। इतने मात्र से अन्य उपनिषदों में कोई अप्रमाणिकत्व की आशंका न करें, क्योंकि इनसे भिन्न उपनिषद् वाक्यों को भी आचार्य शंकर ने भाष्यादि में प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। फिर भी ईश से कैवल्योपनिषद् तक द्वादशोपनिषद् का प्रकाशन ही उपयुक्त है, क्योंकि ये क्रमशः उपलब्ध होते हैं। कुछ लोग केवल उन्हीं उपनिषदों को प्रामाणिक मानते हैं जिन पर भगवान् शंकराचार्य जी का भाष्य है या जिनके वाक्यों को आचार्य ने भाष्यादि में प्रमाण रूप से उद्धृत किया है।

उक्त द्वादशोपनिषद् की 'विद्यानन्दी मिताक्षरा' में मन्त्र के प्रत्येक पद का अन्वय क्रम से अर्थ दिया गया है, जो शांकरभाष्य सम्मत है। मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने के लिये टीका में जो अधिक शब्द आये हैं, उन्हें (....................) इस प्रकार के कोष्टक में दिया गया है। जिससे पाठकों को सुगमता से मन्त्रोक्त प्रत्येक पद के अर्थ का बोध भी हो जावे, साथ ही मन्त्रार्थ का स्पष्ट रूप से ज्ञान हो जावे। मन्त्र के तात्पर्य समझाने के लिये शीर्षक दे दिया गया है। इस टीका में जहाँ तक सम्भव हो सका है, परिमित शब्द ही रक्खा गया है, जिससे पाठकों को अन्य व्याख्या ग्रन्थों के समान इसे पढ़ने में बोझ प्रतीत न हो और ग्रन्थ का कलेवर भी न बढ़ने पाये। अन्यथा अन्य टीका के समान बोझिल हो जाने पर बार-बार इसे पढ़ना दुःशक्य हो जाता तथा कलेवर बढ़ जाने पर सब किसी को पुस्तक सुलभ

भी नहीं हो पाती। कलेवर छोटा होने पर बड़ी सरलता से सदा अपने साथ रखकर प्रत्येक व्यक्ति इस पुस्तक को नित्य पाठ में रख सकते हैं। अतः हमने प्रत्येक दृष्टि से इसे उपयुक्त बनाने का प्रयास किया है, किन्तु प्रयास की सफलता में पाठक ही प्रमाण होंगे।

ईशादि-द्वादशोपनिषद् की "विद्यानन्दी मिताक्षरा" टीका के दूसरे संस्करण का सम्पादन करने में हमारे परम प्रिय श्री ब्रह्मचारी रामानन्द जी ने अभूतपूर्व योगदान किया। पिछले संस्करण में पाठकों की शिकायत आती रही कि मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियों के संशोधन का अग्रिम संस्करण में विशेष ध्यान रखा जाए। इसके लिए ब्रह्मचारी जी ने विभिन्न प्रकाशनों की सहायता से प्रामाणिक पाठ को प्रधानता देकर उसे ही ग्रन्थ में स्थान दिया। प्रस्तुत तीसरे संस्करण में परमश्रद्धेय महामण्डलेश्वर श्री स्वामी काशिकानन्द गिरि जी महाराज आनन्दवन आश्रम बम्बई वालों के सुझाव पर प्रत्येक मन्त्र को पृथक् पैरे में रखा गया है ताकि पाठ करने वालों को सुविधा रहे। एतदर्थ हम स्वामीजी महाराज के आभारी हैं। सम्पादन कार्य को हमारे परम प्रिय डॉ. उमेशानन्द शास्त्री जी महाराज के निर्देशन में श्री स्वर्ण लाल तुली जी ने सम्पन्न किया है। मुद्रण कार्य को इलाईट प्रिन्टर्ज के हमारे प्रिय श्री सुनील गर्ग एवं अनिल गर्ग ने निर्धारित अवधि में अति सुन्दर ढंग से पूर्ण किया है।

उपरोक्त सभी महानुभाव भूरिशः धन्यवाद के पात्र हैं। अन्त में पाठकों से निवेदन है कि यदि इससे किसी को कुछ लाभ हुआ तो वह सर्वान्तर्यामी परमात्मा की अनुकम्पा मानी जायगी, क्योंकि इसमें जो कुछ भी विशेषता है, वह सर्वनियन्ता परमात्मा की है और जो दोष हैं वह मानव सुलभ अल्पज्ञता के कारण हमारा है। अतः यथा समय निर्देश करने पर अग्रिम संस्करण में सुधार कर दिया जायगा। इत्योंशम्।

भगवत्पादीयः

महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि

कार्तिक पूर्णिमा
वि० २०५२

श्रीः

दो शब्द

भारतीय संस्कृत वाङ्मय अनन्तवेदादि शास्त्र समुद्र का मन्थन करके उसमें से ज्ञानामृत निकाल कर उसका पान करके अमृतत्व प्राप्त करना महान्-से-महान् विद्वान् के लिये भी कठिन ही नहीं असंभव भी कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। यह निर्विवाद सर्व विद्वत्संमत सिद्धान्त है कि अखिल संस्कृत वाङ्मय मनुष्य के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के प्रतिपादन में पर्यवसित है। वेद का अंतिम भाग जिसे वेदान्त कहते हैं, उसी का दूसरा नाम उपनिषद् हैं।

वेद के वेत्ता और व्याख्याता महर्षि व्यासदेव ने उपनिषदों का तात्पर्य समझाने के लिये ब्रह्मसूत्र की रचना की और उपनिषदों को सरल भाषा में समझाने के लिये श्रीमद्भगद्गीता की रचना की, जो "सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः" सब उपनिषदों का ही सार है। इस प्रकार उपनिषद् ब्रह्मसूत्र, गीता, ये तीन प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं, पर इनमें भी प्रधान उपनिषद् है। जिनकी भाषा वैदिक है, संस्कृत के विद्वान् भी बिना गुरु की सहायता के जिसे समझ नहीं पाते। उपनिषदों की संख्या अनेक होने पर भी ईशावास्यादि द्वादश उपनिषद् प्रधान हैं। उन्हीं ईशादि-द्वादश उपनिषदों पर सरल शुद्ध हिन्दी भाषा में वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर श्रीस्वामी विद्यानन्द गिरिजी ने "विद्यानन्दी मिताक्षरा" हिन्दी टीका लिखकर सर्व साधारण हिन्दी जगत् का ही नहीं अपितु संस्कृत के विद्वानों का भी महान् उपकार किया है। शांकर-भाष्य पढ़ने से जो ग्रन्थियाँ नहीं खुलती थीं, वे इनकी 'विद्यानन्दी मिताक्षरा' के पढ़ने से खुल जाती हैं। मैंने इसे बहुत ध्यान पूर्वक पढ़ा, मुझे बहुत ही आनन्द अया। मैं चाहता हूँ कि उपनिषदों के तात्पर्य-जिज्ञासु प्रत्येक व्यक्ति के घर में इसका प्रवेश हो।

जया-एकादशी
सं. २०२७ वि०

—कविराज श्रीहरिवंश जोशी, प्राणाचार्य
काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ
कलकत्ता

विषयानुक्रमणिका

१. ईशावास्योपनिषद्

२. केनोपनिषद्

३. कठोपनिषद्

४. प्रश्नोपनिषद्

५. मुण्डकोपनिषद्

६. माण्डूक्योपनिषद्

७. तैत्तिरीयोपनिषद्

(शीक्षावल्ली)

(ब्रह्मानन्द वल्ली)

(भृगु वल्ली)

८. ऐतरेयोपनिषद्

(प्रथमोऽध्यायः)

(द्वितीयोऽध्यायः)

(तृतीयोऽध्यायः)

९. छान्दोग्योपनिषद्

(प्रथमोऽध्यायः)

(द्वितीयोऽध्यायः)

(तृतीयोऽध्यायः)

(चतुर्थोऽध्यायः)

(पञ्चमोऽध्यायः)

(षष्ठोऽध्यायः)

(सप्तमोऽध्यायः)

(अष्टमोऽध्यायः)

१०. बृहदारण्यकोपनिषद्

(प्रथमोऽध्यायः)

(द्वितीयोऽध्यायः)

(चतुर्थोऽध्यायः)

(पञ्चमोऽध्यायः)

(षष्ठोऽध्यायः)

११. श्वेताश्वतरोपनिषद्

(प्रथमोऽध्यायः)

(द्वितीयोऽध्यायः)

(तृतीयोऽध्यायः)

(चतुर्थोऽध्यायः)

(पञ्चमोऽध्यायः)

(षष्ठोऽध्यायः)

१२. कैवल्योपनिषद्

ॐ

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादा विजयन्तेतमाम्

ईशावास्योपनिषद्

ॐपूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण-मेवावशिष्यते॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

ॐ ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ १॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥

विद्यानन्दीमिताक्षरायुता

ॐ=वह (निरुपाधिक परब्रह्म) पूर्ण है, और यह (सोपाधिक कार्यब्रह्म भी) पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण से पूर्ण आविर्भूत हुआ है। (तथा तत्त्व साक्षात्कार के समय एवं प्रलय काल में) पूर्ण (सोपाधिक कार्यब्रह्म) के पूर्णत्व को लेकर (अर्थात् अपने में लीन करके) पूर्ण (निरुपाधिक परब्रह्म) ही शेष बचा रहता है॥ त्रिविध ताप की शान्ति होवे॥

सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि का उपदेश

जगत् में (अर्थात् तीनों लोकों में) जो कुछ जड़ चेतन संसार है वह सब ईश (पद लक्ष्य निरुपाधिक परब्रह्म) से आच्छादनीय है। (इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि से मिथ्या नाम-रूपात्मक जगत् का त्याग हो जाता है) उसी त्याग भाव से तू आत्मा का पालन कर, किसी के धन की इच्छा न कर। (जब ब्रह्मात्मदृष्टि से सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक जगत् का बाध हो गया, तो भला! किसका धन है जिसकी आकांक्षा करे?) ॥१॥

मनुष्यत्वाभिमानी के लिये कर्मविधि

इस (कर्माधिकारी मानव) लोक में अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्यत्वाभिमान रखने वाले तुझमें शास्त्र-निषिद्ध कर्म लिप्त नहीं हो सकता। इससे भिन्न पाप कर्मों से अलिप्त रहने का कोई दूसरा उपाय नहीं है॥२॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ ३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ ४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६॥

अज्ञानियों की निन्दा

(अद्वितीय परमात्म भाव की अपेक्षा देवादि भी असुर हैं, फिर असुरों की तो बात ही क्या?) वे असुर सम्बन्धी लोक आत्मा के अदर्शनरूप अज्ञान से आच्छादित हैं। आत्मज्ञान शून्य जो कोई भी आत्मघाती हैं, वे मरने के अनन्तर उन्हीं लोकों को प्राप्त करते हैं॥३॥

आत्म-स्वरूप वर्णन

(वह आत्मतत्त्व अपने स्वरूप से) विचलित न होने वाला, सभी भूतों में एक तथा मन से भी तीव्र गति वाला है। इस आत्मतत्त्व को चक्षुरादि इन्द्रियाँ नहीं प्राप्त कर सकीं। क्योंकि यह उन सबसे आगे गया हुआ प्रतीत होता है। वह स्थिर होता हुआ भी अन्य दौड़ने वाले (गतिशीलों) को अतिक्रमण कर जाता है। उसकी विद्यमानता में ही अन्तरिक्ष में भ्रमण करने वाला वायु (समस्त प्राणियों के प्रवृत्तिरूप) कर्मों का विभाग करता है॥४॥ वह आत्मतत्त्व (सोपाधिक रूप से) चलता है (और निरुपाधिक रूप से) वह नहीं भी चलता है। वह (अत्यन्त) दूर में है और वही निकट में भी है, किंबहुना इस वर्तमान सम्पूर्ण संसार के भीतर वह है तथा इसके बाहर भी वही है॥५॥

अभेददर्शी की स्थिति

जो (परिव्राट् मुमुक्षु अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त) सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और सम्पूर्ण भूतों में भी अपने आत्मा को ही देखता है, वह इस (सर्वात्मदर्शन) के कारण ही (किसी से) घृणा नहीं करता॥६॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वंयभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः॥ ९॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया। इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥ १०॥

जिस काल में अथवा जिस आत्मा में (परमार्थतत्त्व के दर्शन हो जाने से) तत्त्वदर्शी के लिए सम्पूर्ण भूत आत्मा ही हो गये, उस समय या उस आत्मा में एकत्व देखनेवाले को, क्या शोक और क्या मोह हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। (ये तो आत्मा को न जानने वाले को ही हुआ करते हैं)॥७॥

आत्म-निरूपण

वह पूर्वोक्त आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापक, शुद्ध, सूक्ष्म शरीर से रहित, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, धर्माधर्मादिपापवर्जित, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ ईश्वर, सर्वश्रेष्ठ और स्वयंभू (स्वयं होने वाला) है। उस नित्य मुक्त सर्वज्ञ ईश्वर ने नित्य सिद्ध सम्वत्सर नामक प्रजापतियों के लिए यथायोग्य रीति से (यथाभूत कर्मफल और साधनों के अनुसार) अर्थों (कर्त्तव्यों या पदार्थों) का विभाग किया है॥८॥

कर्म और उपासना के समुच्चय विधान के लिए एक-एक के पृथक् अनुष्ठान की निन्दा

जो अविद्या (केवल अग्निहोत्रादि कर्म) की उपासना करते हैं, वे अज्ञान रूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो केवल विद्या (देव उपासना) में ही रत हैं, वे मानों उससे भी अधिकतर घोर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं॥९॥

समुच्चय विधान की इच्छा से कर्म और उपासना का पृथक-पृथक् फल

विद्या (देवोपासना) से (देवलोक की प्राप्तिरूप) अन्य ही फल बतलाते हैं तथा अविद्या (अग्निहोत्रादि कर्म) से (पितृलोक की प्राप्ति रूप) अन्यफल कहते हैं। ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उन (फल के सहित ज्ञान और कर्म) की व्याख्या की थी॥१०॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ ११॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याꣳरताः॥ १२॥

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्। इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥ १३॥

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥ १४॥

कर्म और उपासना का समुच्चय

जो कोई विद्या और अविद्या इन दोनों को एक साथ ही एक पुरुष से अनुष्ठेय जानता है (और वैसे ही अनुष्ठान करता है वह कर्म रूप) अविद्या से (स्वाभाविक प्रवृत्ति रूप) मृत्यु को पार कर विद्या से (देवात्मभाव रूप आपेक्षिक) अमृतत्व को प्राप्त करता है॥११॥

पृथक् पृथक् व्यक्त और अव्यक्त उपासना की निन्दा

जो असम्भूति (अव्याकृत प्रकृति काम कर्म के बीजभूत अविद्या) की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति (हिरण्यगर्भरूप कार्यब्रह्म) में रत हैं, वे मानो उनसे भी अधिकतर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं॥१२॥

व्यक्त और अव्यक्त की पृथक् उपासना का फल

कार्यब्रह्म की उपासना से अन्य ही (अणिमादि ऐश्वर्यरूप) फल बतलाते हैं तथा अव्यक्त की उपासना से (प्रकृतिलय रूप) अन्य ही फल बतलाते हैं ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उस (फल के सहित व्यक्त और अव्यक्त उपासना) की व्याख्या की थी॥१३॥

व्यक्त और अव्यक्त उपासना का समुच्चय

जो असम्भूति (अव्यक्त प्रकृति) और कार्यब्रह्म, इन दोनों को साथ-साथ (एक पुरुष से अनुष्ठेय) जानता है वह कार्यब्रह्म की उपासना से (अनैश्वर्य, अधर्म, कामादि दोष रूप) मृत्यु को पारकर असम्भूति के द्वारा (प्रकृतिलय रूप) अमरत्व को प्राप्त करता है॥१४॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्यप्राजापत्यव्यूह रश्मीन्समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥ १६॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्। ॐ क्रतो स्मर कृतꣳस्मर क्रतो स्मर कृतꣳस्मर॥ १७॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥ १८॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण-मेवावशिष्यते॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। इति वाजसनेयसंहितो-पनिषत्संपूर्णा॥ (१)॥

उपासक की मार्ग याचना

आदित्य मण्डलस्थ सत्य ब्रह्मका द्वार (स्वर्ण के समान चमकीले व्यष्टि समष्टि अहंकार रूप) ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। अतः हे पूषन्! मुझ सत्य-धर्मा जिज्ञासु को उस सत्यात्मा की उपलब्धि कराने के लिए तू उस आवरण को हटा ले॥१५॥ हे जगत् पोषक सूर्य! हे एकाकी गमन करने वाले! हे यम! हे (प्राण और रस का पोषण करने वाले) सूर्य! हे प्रजापति के लाडले! तू अपनी किरणों को हटाले। जिससे कि तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है, उसे मैं देख सकूँ, यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूँ॥१६॥

मरणोन्मुख उपासक की प्रार्थना

अब मेरा प्राण (आध्यात्मिक वायु, आधिदैविक वायुरूप) सूत्रात्मा को प्राप्त हो, और यह शरीर भस्मान्त हो जावे। हे मेरे संकल्प विकल्पात्मक मन! अब तू मेरे स्मरणीय का स्मरण कर, मेरे किए हुए का स्मरण कर, अब तू स्मरण कर, अपने किए हुए का स्मरण कर (क्योंकि स्मरण का समय उपस्थित हो गया है)॥१७॥ हे अग्नि! हमें अपने कर्म फल भोग के लिए सन्मार्ग से ले चलो, हे देव! तू हमारे सम्पूर्ण ज्ञान और कर्म को जानने वाला है। अतः हमारे कुटिल कर्मों को हमसे पृथक् कर दो (अर्थात नष्ट कर दो)। हम (मुमूर्षु सम्प्रति) तेरे लिए अनेकों नमस्कार मात्र से परिचर्या करते हैं॥१८॥

ॐ

केनोपनिषद्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥ १॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचꣳस उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ २॥

केनोपनिषद्

मेरे अंग पुष्ट होवें, मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पुष्ट (ब्रह्म बोध के योग्य) होवें। यह सब (दृश्यमान जगत्) उपनिषद् वेद्य ब्रह्म ही है। मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ और ब्रह्म मेरा निराकरण न करे (अर्थात् मैं ब्रह्म को सदा आत्मभावेन साक्षात् करूँ, उससे कभी भी विमुख न होऊँ और इसके लिए सर्वान्तर्यामी परमात्मा मुझे बल दे। वह मेरा त्याग न करे)। इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो। उपनिषदों में जो धर्म हैं वे आत्मबोध में लगे हुए मुझ साधक में होवें, वे सब मुझ में होवें। त्रिविध ताप की शान्ति होवे॥

प्रेरक के विषय में प्रश्न

यह मन किससे प्रेरित हुआ (अपने) अभीष्ट विषयों के प्रति जाता है? किससे प्रयुक्त होकर प्रथम (मुख्य) प्राण चलता है? (सभी प्राणी) किसके द्वारा प्रेरित हो इस अभीष्ट वाणी को बोलते हैं? और कौन देव चक्षु एवं श्रोत्र को प्रेरित करता है?॥१॥

आत्मा का सर्वनियामकत्व

जो श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन और वाणी का वाणी है, वही प्राण का प्राण तथा चक्षु का चक्षु है। (अर्थात् श्रोत्रादि में श्रवण आदि का सामर्थ्य जिससे है उसे जानकर) धीर पुरुष इस लोक से जाकर अमर हो जाते हैं॥२॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागगच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे॥ ३॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ४॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ५॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ६॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ७॥

आत्मा का दुर्विज्ञेयत्व तथा दुर्निरूप्यत्व

वहाँ (सर्व प्रेरक सर्वाधिष्ठान ब्रह्म में) नेत्रादि इन्द्रियाँ नहीं जातीं, वाणी नहीं जाती और मन (भी) नहीं जाता। अतः जैसे शिष्य को इस (निरुपाधिक ब्रह्म) का उपदेश करना चाहिए, उसे हम नहीं जानते (और सामान्य या विशेष रूप से भी) हम उसे नहीं समझते। वह विदित वस्तु से अन्य ही है तथा अविदित (अज्ञान) से भी परे है, ऐसा हमने पूर्व पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उस (निरुपाधिक चैतन्य ब्रह्म) का व्याख्यान किया था॥३॥

ब्रह्म वागादि से परे और अनुपास्य है

जो (चैतन्य मात्र सत्ता स्वरूप ब्रह्म) वाणी से प्रकाशित नहीं होता, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है उसी को तू ब्रह्म जानो, जिस इस (देश काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है॥४॥

जिसे (कोई) मन से मनन नहीं करता है किन्तु जिससे मन भी मनन किया जाता है-ऐसा कहते हैं, उसी को तू ब्रह्म जानो, जिस इस (देश काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है॥५॥

जिसे (कोई) नेत्र से नहीं देखता है किन्तु जिससे नेत्रों को भी देखता है, उसी को तू ब्रह्म जान। जिस इस (देश काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है॥६॥

जिसे (कोई) श्रोत्र से नहीं सुनता है, पर जिससे श्रोत्र इन्द्रिय सुनी जाती है उसी को तू ब्रह्म जान। जिस इस (देश काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है॥७॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ८॥ इति प्रथमः खण्डः ॥ (१)॥

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ (९) १ ॥

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ (१०) २ ॥

जिसे (कोई) नासिका छिद्रवर्ती घ्राण के द्वारा विषय नहीं करता है किन्तु जिस (चैतन्य आत्म ज्योति) से घ्राण अपने विषयों के प्रति जाता है. उसी को तू ब्रह्म जानो। जिस इस (देश काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥८॥ इति प्रथमः खण्डः॥

अथ द्वितीयः खण्डः

ब्रह्मज्ञान की दुर्निरूपता

यदि (कदाचित्) ऐसा मानते हो कि (ब्रह्म को) मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ, तो निश्चय ही तू ब्रह्म के रूप को थोड़ा ही जानते हो। इस ब्रह्म का जो मनुष्यों में आध्यात्मिक और देवताओं में आधिदैविक रूप विदित है (वह अल्प ही है)। अतः तेरे लिए ब्रह्म विचारणीय ही है। (इस प्रकार गुरु का उपदेश सुनकर शिष्य ने एकान्त देश में विचार करने के पश्चात् कहा, कि) मैंने ब्रह्म को जान लिया है, ऐसा मैं समझता हूँ॥१॥

अनुभव का उल्लेख

ब्रह्म को अच्छी प्रकार जान लिया ऐसा भी मैं नहीं मानता हूँ और मैं उसे नहीं जानता हूँ ऐसा भी मैं नहीं समझता। अतः (ब्रह्म को) मैं जानता हूँ (और नहीं भी जानता हूँ)। हम शिष्यों में से जो (कोई) ब्रह्म को न तो नहीं जानता हूँ और जानता भी हूँ, इस प्रकार जानता है वही (वस्तुतः ब्रह्म को) जानता है ॥२॥

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ (११) ३॥

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते। आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥ (१२) ४॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ (१३) ५॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः॥ (२)॥

ब्रह्मवेत्ता अज्ञ हैं और अज्ञ ज्ञानी हैं

जिस (ब्रह्मवेत्ता) को ब्रह्म अविदित है, उसी को ब्रह्म वस्तुतः विदित है (ऐसा समझना चाहिए और) जिसे ब्रह्म विदित है वह (वस्तुतः उसे) नहीं जानता (क्योंकि वह ब्रह्म) जानने वालों को अविज्ञात रहता है और न जानने वाले को ज्ञात होता है, (अर्थात् अन्य वस्तु की भाँति फलव्याप्ति का विषय न होने से और ब्रह्माकार वृत्ति का भी साक्षी होने से ऐसा कहा गया है। अतः विद्वानों की दृष्टि में स्वयं प्रकाश वह सदा अविषय ही माना गया है)॥३॥

प्रत्येक बोध में ब्रह्म का अनुभव

जो बोध बोध के प्रति (प्रत्येक बोध में प्रत्यगात्मा रूप से) विदित है, वही ब्रह्म है और यही उस ब्रह्म का ज्ञान है। ऐसे ब्रह्म-ज्ञान से ही अमरत्व को प्राप्त करता है। अमरत्व नित्य आत्म स्वरूप से ही प्राप्त होता है, ब्रह्माकार वृत्तिरूप से आवरण की निवृत्ति होने पर अमरत्व नित्य चैतन्य आत्मस्वरूप से ही मिलता है अन्य से नहीं॥४॥

आत्मविद्या ही सार है

यदि इस मनुष्य जन्म में ब्रह्म को जान लिया, तब तो ठीक है और यदि उसे इस मनुष्य जन्म रहते-रहते नहीं जाना तो बड़ी भारी क्षति होगी। अतः बुद्धिमान् पुरुष समस्त प्राणियों में उस ब्रह्मतत्त्व को प्रत्यक्ष अनुभव करके इस लोक से जाकर (अद्वैतभाव रूप से) अमर हो जाते हैं (अर्थात् ब्रह्म ही हो जाते हैं)॥५॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति॥ (१४) १॥

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥ (१५) २॥

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ (१६) ३॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति॥ (१७) ४॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳसर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ (१८) ५॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुप प्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ (१९) ६॥

अथ तृतीयः खण्डः

देवताओं का गर्व

यह प्रसिद्ध है कि पूर्वोक्त ब्रह्म ने (देवासुर संग्राम में) देवताओं के लिए (असुरों को) जीता। उसी ब्रह्म की विजय में देवता लोग महिमान्वित हुए॥१॥

यक्ष का प्रादुर्भाव

(उक्त बात को भूलकर) देवताओं ने सोचा, यह विजय हमारी ही है और यह महिमा भी हमारी ही है। देवताओं के (इस मिथ्या) अभिप्राय को उस ब्रह्म ने जान लिया (और वह) देवताओं के सामने (अपने योगमाहात्म्य से निर्मित यक्ष रूप में) प्रकट हुआ। (तब देवता लोग) उसे न जान सके, कि यह यक्ष कौन है?॥२॥

अग्नि की परीक्षा

उन देवताओं ने अग्नि से कहा, हे जातवेदा! इसे जानो तो सही, कि यह यक्ष कौन है? अग्नि ने कहा, अच्छी बात॥३॥ (अग्निदेव) उस यक्ष के पास गया। (कुछ पूछने की इच्छा से आये हुए उस) अग्नि से यक्ष ने पूछा कि, तू कौन है? उसने कहा मैं अग्नि हूँ, निश्चय ही मैं जातवेदा हूँ॥४॥ (फिर यक्ष ने पूछा) उस (जातवेदा रूप) तुझ में क्या सामर्थ्य है? (अग्नि ने कहा) पृथिवी में यह (स्थावरादि) जो कुछ हैं, उन सभी को मैं जला सकता हूँ॥५॥ (तब यक्ष ने) उस अग्नि के लिए एक तिनका रख दिया (और कहा) इसे जलाओ। अग्नि उस तिनके के पास गयी और अपने सारे वेग से भी उस तिनके को जला न सकी, वह उस यक्ष के पास से लौट आयी और कहा कि मैं इस बात को न जान सकी कि यह यक्ष कौन है॥६॥

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ (२०) ७॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ (२१) ८॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳसर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ (२२) ९॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुप प्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ (२३) १०॥

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥ (२४) ११॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं ताँ होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥ (२५) १२॥ इति तृतीयः खण्डः॥ (३)॥

वायु की परीक्षा

तत्पश्चात् (उन देवताओं ने) वायु से कहा हे वायो! इस बात को जानो तो सही, कि यह यक्ष कौन है? (वायु ने कहा) अच्छी बात ॥७॥ वायु उस यक्ष के पास गया, यक्ष ने वायु से पूछा तू कौन है? वायु ने कहा, मैं वायु हूँ, निःसन्देह मैं (अन्तरिक्ष में विचरने वाला) मातरिश्वा ही हूँ॥८॥ (तब यक्ष ने कहा) उस (मातरिश्वा रूप) तुझमें क्या सामर्थ्य है? (वायु ने कहा) पृथ्वी में जो कुछ है उन सभी को मैं ग्रहण कर सकता हूँ॥९॥ (तब यक्ष ने) उस वायु के लिए एक तिनका रख दिया (और कहा) इसे पकड़ो। वायु इस तिनके के पास गया, पर अपने सारे वेग से भी वह उस तिनके को ग्रहण नहीं कर सका। तब वायु उसके पास से ही लौट आया और कहा कि यह यक्ष कौन है इसे मैं न जान सका॥१०॥ तत्पश्चात् (देवताओं ने) इन्द्र से कहा, हे मघवन्! यह यक्ष कौन है, इसे जानो तो सही? तब बहुत अच्छा, ऐसा कहकर इन्द्र यक्ष के पास गया, किन्तु वह यक्ष इन्द्र के सामने से तिरोहित हो गया। (अर्थात् इन्द्र से बात भी नहीं की)॥११॥

उमा का प्रादुर्भाव

(जिस आकाश में यक्ष अन्तर्धान हुआ था) उसी आकाश में एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री के पास वह इन्द्र आया और स्वर्णाभरण भूषिता अथवा हिमालय तनया रूप उस उमा से कहा, यह यक्ष कौन है?॥१२॥

॥ इति तृतीयः खण्डः ॥

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति॥ (२६) १॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति॥ (२७) २॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति॥ (२८) ३॥

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥ (२९) ४॥

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः॥ (३०) ५॥

अथ चतुर्थः खण्डः

उमा का उपदेश

उस (ब्रह्मविद्या रूप उमा) ने इन्द्र से कहा-यह ब्रह्म है, तुम लोग ब्रह्म की ही विजय में इस प्रकार गौरव को प्राप्त किए हो। तब से इन्द्र ने जाना, यह यक्ष (पूजनीय) ब्रह्म है (स्वतन्त्र रूप से इन्द्र उसे न जान सका)॥१॥ क्योंकि अग्नि, वायु और इन्द्र इन देवताओं ने ही इस अत्यन्त समीपस्थ ब्रह्म का (संवाद आदि के द्वारा) स्पर्श किया था और उन्होंने ही उसे पहले पहल जाना कि यह ब्रह्म है। अतः वे अन्य देवताओं की अपेक्षा (ज्ञान ऐश्वर्यादि में) बढ़ चढ़ कर हुए॥२॥ (उनमें भी) अन्य देवताओं से बढ़कर इन्द्र इसी लिए माना गया, क्योंकि उसी ने इस समीपस्थ ब्रह्म का स्पर्श किया था और उसने ही सर्वप्रथम यह ब्रह्म है इस प्रकार (उमा के वाक्य से) इसे जाना था॥३॥

ब्रह्म के विषय में आधिदैव आदेश

उस ब्रह्म का (उपासना सम्बन्धी) यह आदेश है, जो बिजली के चमक के समान एवं पलक मारने के समान जो प्रकट हुआ, वह उस ब्रह्म का आधिदैवत रूप है॥४॥

ब्रह्म के विषय में अध्यात्म आदेश

इसके बाद अब अध्यात्म (उपासना) का आदेश कहते हैं—जो यह मन जाता हुआ सा कहा जाता है, वह ब्रह्म है, इसी प्रकार उपासना करनी चाहिए क्योंकि इस मन से यह ब्रह्म का स्मरण करता है और बारम्बार संकल्प किया करता है॥५॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाऽभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति॥ (३१) ६॥

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति॥ (३२) ७॥

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ (३३) ८॥

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति॥ (३४) ९॥ इति चतुर्थः खण्डः॥ (४)॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्मनिराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ इति सामवेदीयकेनोपनिषत्समाप्ता॥

वन नामक ब्रह्म की उपासना का फल

वह यह ब्रह्म ही वन (वननीय-भजनीय) है। अतः वन इस नाम से उपासना करनी चाहिए। जो उसे इस प्रकार जानता है, उसको सभी भूत अच्छी प्रकार से चाहते हैं॥६॥

उपसंहार

हे गुरो! मुझे उपनिषद् बतलाओ? (शिष्य के ऐसा कहने पर आचार्य ने कहा) हमने तुझे उपनिषद् कह दी। अब हम तेरे लिए तप आदि रूपा ब्राह्मण जाति से सम्बन्ध रखने वाली उपनिषद् बतलाएंगे॥७॥

ब्रह्म विद्या के साधन

तपः, दम, कर्म, वेद और सम्पूर्ण वेदाङ्ग, ये सब उस ब्राह्मी उपनिषद् का आश्रय हैं, (प्राप्ति के साधन हैं) एवं सत्य भाषण उसका आयतन (निवास) है॥८॥

जो कोई निश्चय पूर्वक इस उपनिषद् को इस प्रकार जानता है, वह पाप को ध्वंस कर अनन्त एवं महान् स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठित होता है, फिर वह संसार में जन्म नहीं लेता है॥९॥

॥ इति चतुर्थः खण्डः केनोपनिषत् समाप्तः॥

ॐ

कठोपनिषद्

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस॥ १॥

तꣳह कुमारꣳसन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत ॥ २॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः। अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्॥ ३॥

कठोपनिषद्

भावः-वह परमात्मा हम (आचार्य और शिष्य एवं वक्ता और श्रोता) दोनों की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ विद्या जन्य सामर्थ्य का सम्पादन करें। हम दोनों का अधीत (ज्ञान) तेजस्वी हो और हम (कभी भी परस्पर) द्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

नाचिकेता आख्यान का उपक्रम

यह बात शास्त्रों में प्रसिद्ध है कि विश्वजित्यज्ञ के फल को चाहते हुये वाजश्रवा के पुत्र ने (विश्वजित् यज्ञ में) अपना सम्पूर्ण धन दे दिया। उस (यजमान) का नचिकेता नामक एक पुत्र था॥१॥

जिस समय दक्षिणाएँ (दक्षिणा के लिए गौवें विभाग पूर्वक) ले जायी जा रही थीं, उसी समय कुमार अवस्था वाला होता हुआ भी नचिकेता में श्रद्धा (आस्तिक्य बुद्धि उसके पिता के हित के लिए) प्रविष्ट हो गयी। तब वह नचिकेता सोचने लगा॥२॥

नचिकेता का मनन प्रकार

जो जल पी चुकी हैं, घास खा चुकी हैं, जिनका दूध भी दुह लिया गया है और जिसमें बच्चा देने का सामर्थ्य नहीं रहा है। ऐसी गौवों का दान करने से वह दाता उन लोकों में जाता है जो लोक आनन्द से सर्वथा शून्य हैं॥३॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति। द्वितीयं तृतीयं तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति॥ ४॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः। किꣳस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति॥ ५॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे। सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥ ६॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्। तस्यैताꣳशान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥ ७॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳसूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्। एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे॥ ८॥

पिता पुत्र संवाद

तब उसने अपने पिता से कहा, हे तात! आप मुझे किस (ऋत्विज विशेष) को दक्षिणार्थ दोगे? इसी प्रकार उसने दूसरी और तीसरी बार भी कहा। तब क्रुद्ध होकर पिता ने उससे कहा—मैं तुझे मृत्यु को दूँगा॥४॥ (नचिकेता एकान्त में विचार करने लगा कि) मैं बहुत से (शिष्यों या पुत्रों) में प्रथम वृत्ति से चलता हूँ और बहुतों में मध्यम वृत्ति से चलता हूँ (अधम वृत्ति से कभी नहीं चलता, फिर भला) यम का कौन ऐसा कार्य है, जिसे आज पिता मेरे द्वारा सम्पन्न कराना चाहते हैं॥५॥

जिस प्रकार पूर्व पुरुष (पितृपितामहादि) व्यवहार कर चुके हैं, उसे देखें तथा जैसे आज के अन्य साधु पुरुष व्यवहार करते हैं उसे भी देखें। (उनमें से मृषा करण किसी का नहीं रहा है क्योंकि) मनुष्य खेती की भाँति पकता है अर्थात्—वृद्ध होकर मर जाता है और फिर खेती की भाँति ही उत्पन्न होता है। (ऐसे अनित्य जीव लोक में असद् व्यवहार से क्या लाभ? अतः मुझे यम के पास भेज कर अपने सत्य का पालन करें)॥६॥

यमलोक में नचिकेता

ब्राह्मण अतिथि बनकर अग्नि ही भवन में प्रवेश करता है। (इसीलिए साधु पुरुष) उस अतिथि की यह (अर्घ्य पाद्य प्रदान रूप) शान्ति किया करते हैं। अतः हे वैवस्वत! (इस ब्राह्मण अतिथि नचिकेता के लिए) जल ले जाओ॥७॥ जिसके घर में ब्राह्मण (अतिथि) भोजन किए बिना ही निवास करता है, उस मन्द बुद्धि पुरुष की ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छाएँ, इनके सम्बन्ध से होने वाले फल, प्रिय वाणी से होने वाले फल, (अग्निहोत्रादि) इष्ट और (वापी कूप तडागादि निर्माण रूप) पूर्त कर्मों के फल, समस्त पुत्र तथा पशु आदि को वह नष्ट कर देता है। (अतः सभी अवस्थाओं में अतिथि सत्कार के योग्य है)॥८॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व॥ ९॥

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥ १०॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः। सुखꣳरात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्॥ ११॥

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १२॥

स त्वमग्निꣳस्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तꣳश्रद्दधानाय मह्यम्॥ स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण॥ १३॥

यमराज से नचिकेता को वर

हे ब्रह्मन्! तुझे नमस्कार हो, मेरा कल्याण होवे (पूर्व मन्त्रोक्त अनिष्ट न हो)। तुम नमस्कार योग्य अतिथि होते हुए भी मेरे घर पर तीन रात्रि भोजन किए बिना रहे। अतः एक-एक रात्रि अनशन के बदले में मुझसे (एक-एक वरदान) अर्थात् तीन वरदान माँग लो॥९॥

नचिकेता का पितृ संतोष रूप प्रथम वर

हे मृत्यो! (मेरे पिता) गौतम (वाजश्रवस) मेरे प्रति जैसे शान्त संकल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोध रहित हों तथा तुम्हारे लौटा देने पर मुझे (पूर्ववत्) पहिचान कर वार्तालाप करें। यही (आपके दिए हुए) तीन वरों में से पहला वर मैं माँगता हूँ॥१॥ मुझसे प्रेरित हुआ अरुण पुत्र उद्दालक तुझे पूर्ववत् पहिचान कर (प्रेम करेगा) और (शेष जीवन की) रात्रियों में सुख पूर्वक सोयेगा, क्योंकि मृत्यु के मुख से छूटा हुआ तुझे देखेगा॥११॥

स्वर्ग स्वरूप वर्णन

हे मृत्यो! स्वर्गलोक में (रोगादि निमित्तक) कुछ भी भय नहीं हैं। वहाँ पर आपका भी वश नहीं चलता। न कोई वहाँ पर वृद्धावस्था से ही डरता है। बल्कि स्वर्गलोक में पुरुष क्षुधा एवं पिपासा दोनों को पार करके शोक से ऊपर उठ जाता है और आनन्दित होता है॥१२॥

स्वर्ग के साधन अग्नि विद्या द्वितीय वर

हे मृत्यो! (पूर्वोक्त गुणविशिष्ट) स्वर्ग के साधन भूत अग्नि को आप जानते हैं, उसे मुझ श्रद्धालु को बतलावें, (जिसके द्वारा) स्वर्ग को प्राप्त हुए पुरुष अमरत्व (देवत्व) को प्राप्त करते हैं। बस! मैं द्वितीय वर से यही माँगता हूँ॥१३॥

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्। अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम्॥ १४॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा। स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥ १५॥

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः। तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृंकां चेमामनेकरूपां गृहाण॥ १६॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यु। ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳशान्तिमत्यन्तमेति॥ १७॥

हे नचिकेता! उस स्वर्ग देने वाले अग्नि को अच्छी प्रकार जानता हुआ मैं तेरे लिए उसे कहता हूँ। तू उस अग्नि विज्ञान को मुझसे अच्छी प्रकार समझ ले। इसे तू अनन्त लोकों की प्राप्ति का साधन, उसका आधार और बुद्धि रूपी गुफा में उसे स्थित जानो॥१४॥ तदनन्तर यमराज ने लोगों के आदि कारण रूप उस अग्नि विद्या को नचिकेता के लिए कह दिया। उस अग्नि के चयन में जैसी और जितनी ईंटें होती हैं एवं जिस प्रकार उसका चयन किया जाता है, उसका भी वर्णन नचिकेता के प्रति कर दिया और उस नचिकेता ने भी जैसे के तैसे उस अग्नि विद्या को सुना दिया। इससे प्रसन्न होकर मृत्यु ने फिर कहा॥१५॥ महात्मा (यमराज) ने प्रसन्न होकर उस नचिकेता से कहा। अब मैं तुझे एक वरदान और भी देता हूँ, यह अग्नि (लोक में अब) तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होगा और तू इस अनेक रूपमयी माला को ग्रहण कर॥१६॥

नाचिकेत अग्नि चयन का फल

नाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन करने वाला मनुष्य (उसका विज्ञान, अध्ययन अनुष्ठान करने वाला, या माता, पिता एवं आचार्य) इन तीनों से सम्बन्ध को प्राप्त कर जन्म तथा मृत्यु को पार कर जाता है, एवं ब्रह्म से उत्पन्न हुए, ज्ञानवान् और स्तुति के योग्य देव को (शास्त्र से जान कर तथा आत्मभावेन) उसे अनुभव कर इस प्रत्यक्ष आत्यन्तिक शान्ति को प्राप्त करता है॥१७॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम्। स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १८॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण। एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व॥ १९॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥ २०॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः। अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥ २१॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ। वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्॥ २२॥

जो त्रिणाचिकेत विद्वान् है, (वह) अग्नि के इस त्रयको (अर्थात् ईंटें कौन हैं कितनी संख्या में हैं और किस प्रकार अग्नि का चयन किया जाय, इसे) जानकर नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, वह देहपात से पहले मृत्यु के बन्धन (अधर्म, अज्ञान, रागद्वेषादि) को नष्ट कर शोक से पार हो स्वर्ग लोक में आनन्दित होता है॥१८॥ हे नचिकेता! तूने जिसे द्वितीय वर से वरण किया था, वह यह स्वर्ग का साधन भूत अग्नि तुझे बतला दिया गया। अब लोक इस अग्नि को तेरे नाम से ही कहेंगे। अतः हे नचिकेता! अब तू तीसरा वर माँगले (क्योंकि इसे दिये बिना मैं तेरा ऋणी हूँ)॥१९॥

आत्मरहस्य रूप तृतीय वर

मरे हुए मनुष्य के विषय में जो यह संशय होता है, कुछ लोग (जीव का) अस्तित्व मानते हैं और कुछ लोग नहीं मानते हैं। आपसे शिक्षित हुआ मैं इसे जानूँ, बस, वरों में से यही मेरा तीसरा वर है॥२०॥ इस विषय में पहले देवताओं को भी संदेह हुआ था क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म धर्म सरलता से जानने योग्य नहीं है। हे नचिकेता! तू (इसके बदले) दूसरा वर माँगले, मुझे रोको नहीं, इसे तू मेरे लिए छोड़ दे॥२१॥

नचिकेता की दृढ़ता

(नचिकेता ने कहा) हे मृत्यो! इस विषय में निश्चय ही देवताओं को भी सन्देह हुआ था और आप भी उसे सुगमता से जानने योग्य नहीं कहते हैं। (इससे तो यह मुझे अभीष्टतर प्रतीत होता है) इस गहन तत्त्व का वक्ता भी तो आपके समान दूसरा कोई नहीं मिल सकेगा और इसके समान दूसरा कोई वर भी नहीं है॥२२॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥ २३॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥ २४॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाꣳश्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥ २५॥

श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥ २६॥

यमराज का प्रलोभन

हे नचिकेता! तू सौ वर्ष की आयु वाले (शतायु) बेटे और पोते एवं बहुत से पशु, हाथी, सुवर्ण तथा घोड़े माँग ले। विस्तृत भूमण्डल का राज्य भी माँग ले और स्वयं भी जितने वर्ष तक जीना चाहे (उतने वर्ष तक) जीवित रह॥२३॥ इसी के समान यदि तुम कोई (अन्य) वर समझते हो (तो उसे भी माँग लो) धन और चिरस्थायी जीवन भी माँग लो। हे नचिकेता! इस विस्तृत भूमि में (तू राजा होकर) वृद्धि को प्राप्त हो। मैं तुझे कामनाओं को इच्छानुसार भोगने वाला बना देता हूँ॥२४॥ इस मनुष्य लोक में जो जो भोग दुर्लभ हैं, उन सभी भोगों को तुम स्वेच्छा से माँग लो। यहाँ पर रथ और वाजों के सहित जो दिव्य अप्सराएँ हैं, ऐसी (स्त्रियाँ हम जैसे देवताओं की कृपा के बिना) मनुष्यों को प्राप्त होने योग्य नहीं होती। मेरे द्वारा दी हुई (इन सेविकाओं) से तू अपनी सेवा करा। पर हे नचिकेता! मरण सम्बन्धी प्रश्न मत पूछ॥२५॥

नचिकेता का वैराग्य

हे यमराज! ये भोग कल तक रहेंगे या नहीं, ऐसे अनित्य हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को जीर्ण शीर्ण कर देते हैं (अनित्य संसार में आपके द्वारा दिया हुआ) यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा ही है। अतः आपके वाहन और नाच गान आपके पास ही रहें। (हमें उनकी आवश्यकता नहीं)॥२६॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्मचेत्त्वा। जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव॥ २७॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन्। अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्। योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९॥ इति प्रथमेऽध्याये प्रथमा वल्ली॥ १/१॥

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥ १॥

मनुष्य (अधिक) धन से भी तृप्त होने योग्य नहीं है। अब यदि आपको हमने देख लिया तो, धन को हम प्राप्त कर ही लेंगे एवं जब तक आप (इस याम्य पद पर) शासन करेंगे, हम तब तक जीवित रहेंगे ही। पर हमारा प्रार्थनीय वर तो वही (आत्म विज्ञान ही) है॥२७॥ अजर अमर देवताओं के समीप आकर नीचे धरती पर रहने वाला कौन जरा ग्रस्त विवेकी मनुष्य होगा जो (केवल शारीरिक अनित्य) सुखों को देखता हुआ भी अतिदीर्घ जीवन में प्रेम करेगा?॥२८॥ हे मृत्यो! जिस (मरे हुए जीव) के सम्बन्ध में (मरने के बाद जीव रहता है या नहीं) ऐसा सन्देह करते हैं तथा महान् परलोक के विषय में जो (निश्चित विज्ञान) है, वह हमें बतलावें। यह जो अत्यन्त गहन और दुर्विवेचनीयता को प्राप्त (मेरा) वर है, इससे भिन्न और कोई वर नचिकेता नहीं माँगता है॥२९॥

॥ इति प्रथमवल्ली समाप्ता॥

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयवल्ली

श्रेय प्रेय का विवेक

श्रेय (अमृतत्व) भिन्न ही है तथा प्रेय (अभ्युदय) भिन्न ही है। वे दोनों भिन्न-भिन्न प्रयोजन वाले होते हुए ही (वर्णाश्रमादि से विशिष्ट) पुरुष को बाँधते हैं। उन दोनों में से श्रेय के ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है और जो प्रेय का वरण करता है, वह (मूढ़ पुरुष पारमार्थिक प्रयोजन रूप नित्य) पुरुषार्थ से पतित हो जाता है॥१॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमात् वृणीते॥ २॥

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाꣳश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः। नैताꣳसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥ ३॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त॥ ४॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ ५॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन् मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥ ६॥

श्रेय और प्रेय (परस्पर मिले हुए के जैसे) मनुष्य के पास आते हैं। उन दोनों को (नीर क्षीर विवेकी हंस के समान) बुद्धिमान् पुरुष भली प्रकार विचार कर पृथक्-पृथक् कर लेता है। (इस प्रकार श्रेय प्रेय का) विवेकी प्रेय की अपेक्षा (अभीष्टतम होने के कारण) श्रेय का ही वरण करता है, किन्तु मूढ़ पुरुष तो योगक्षेम के निमित्त प्रेय का वरण करता है॥२॥ हे नचिकेता! (मेरे द्वारा प्रलोभित किये जाने पर भी) उस तूने पुत्र वित्तादि प्रिय और अप्सरादि प्रिय रूप भोगों को (उनके अनित्यत्व असारत्व रूप दोषों का) चिन्तन करते हुये त्याग दिया है। जिसमें कि बहुत से मूढ़ मनुष्य डूब जाते हैं, ऐसे इस धन प्राया कुत्सित गति को तू प्राप्त नहीं हुआ॥३॥ ये दोनों (प्रकाश और अन्धकार के समान) अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव वाली एवं विपरीत रूपसे जानी गयी है, इनमें से मैं तुझ नचिकेता को विद्याभिलाषी मानता हूँ क्योंकि (मूर्खों को प्रलोभित करने वाले अप्सरादि) बहुत से भोग भी तुझे लुभा न सके॥४॥

अविद्या ग्रस्त संसारियों की दुर्दशा

वे (घनी भूत) अविद्या के भीतर रहने वाले अपने आप बड़े बुद्धिमान् बने हुए, अपने को पण्डित मानने वाले मूढ़ पुरुष (अनेक अनर्थ वाले) कुटिल गति को वैसे ही प्राप्त होते हैं, जैसे अन्धे से ही ले जाते हुए अनेक अन्धे महान् अनर्थ को प्राप्त होते हैं॥५॥ धन के मोह से (अन्धे हुए पुत्र पशु आदि में आसक्त) प्रमाद करने वाले मूर्ख को परलोक का साधन नहीं दीखता है। यही लोक है परलोक नहीं है, ऐसा मानने वाला (पुरुष) बारम्बार मुझ मृत्यु के वशको प्राप्त होता रहता है॥ ६॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ ७॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥ ८॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥ ९॥

जानाम्यहꣳशेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्। ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्॥ १०॥

जो (यह आत्मतत्त्व) बहुतों को सुनने के लिये भी नहीं मिलता, (दूसरे अभागे मलिन बुद्धि वाले) बहुत से सुनते हुए भी जिसे समझ नहीं पाते, उस आत्मतत्त्व का निरूपण करने वाला भी (अनेकों में से विरला ही) कोई आश्चर्य रूप है, इसको प्राप्त करने वाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्य से उपदेश प्राप्त किया हुआ ज्ञाता पुरुष भी आश्चर्य रूप ही है॥ ७॥ (कर्ता अकर्ता शुद्ध अशुद्ध ऐसे) अनेक प्रकार से विकल्पित यह आत्मा साधारण बुद्धि वाले पुरुष द्वारा कहे जाने पर अच्छी प्रकार समझा नहीं जा सकता। पर अभेद दर्शी आचार्य द्वारा उपदेश किये गये इस आत्मतत्त्व में (पूर्वोक्त विकल्प रूप कोई) गति नहीं है, क्योंकि यह सूक्ष्म परिमाण वालों से भी सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है॥ ८॥ हे प्रियतम! तुम बड़े ही सत्य धैर्य वाले हो, तुम जिस बुद्धि को प्राप्त किये हो, यह तर्क द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है, क्योंकि इस यथार्थ बोध के लिये (आगम से अनभिज्ञ शुष्क) तार्किक से भिन्न शास्त्र के ज्ञाता आचार्य द्वारा बतलाई गयी यह बुद्धि है (जिसे मेरे वरदान से तूने प्राप्त किया)। हे नचिकेता! हमें तेरे समान पुत्र या शिष्य प्रश्न करने वाला प्राप्त हो॥ ९॥

कर्मफल की अनित्यता

कर्मफल रूप निधि अनित्य है इसे मैं जानता हूँ, क्योंकि अनित्य साधनों से (कभी भी) वह नित्य आत्मतत्त्व प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार जानते हुए भी मेरे द्वारा नाचिकेत अग्नि का चयन किया गया और उन्हीं अनित्य पदार्थों से मैं (आपेक्षिक) नित्य (स्वर्ग नामक याम्य पद) को प्राप्त हुआ हूँ॥ १०॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम्। स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥ ११॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ १२॥

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य। स मोदते मोदनीयꣳहि लब्ध्वा विवृतꣳसद्म नचिकेतसं मन्ये॥ १३॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥ १४॥

नचिकेता के त्याग की प्रसंशा

हे नचिकेता! भोगों की पराकाष्ठा (अध्यात्म अधिभूत तथा अधिदैवादि) जगत् की प्रतिष्ठा, यज्ञ फल की अनन्तता, अभय की सीमा, स्तुति के योग्य, महती (अणिमादि ऐश्वर्य युक्त) विस्तीर्ण गति तथा अपनी सर्वोत्तम स्थिति को देख कर भी उसे तूने धैर्य से त्याग दिया। अहो! तुम बड़े ही बुद्धिमान् (एवं उत्कृष्ट गुण से सम्पन्न) हो॥ ११॥

आत्मज्ञान का फल

(अतिसूक्ष्म होने के कारण) कठिनता से दीखने वाले (विषय विज्ञान से) छिपे हुए होने से गूढ़ स्थान में प्रविष्ट, बुद्धि में स्थित, गहन स्थान में रहने वाले उस पुरातन देव को (चित्तको विषयों से हटाकर आत्मा में लगाना रूप) अध्यात्म योग की प्राप्ति द्वारा जानकर बुद्धिमान् पुरुष हर्ष शोक को त्याग देता है ॥ १२॥ मरणधर्मा मनुष्य (मेरे द्वारा बतलाये गये) इस आत्मतत्त्व को सुनकर उसका भलीभाँति मनन कर धर्म से युक्त इस सूक्ष्म आत्मा को देहादि संघात से पृथक् करके प्राप्त कर तथा इस मोदनीय तत्त्व की उपलब्धि कर अति आनन्दित हो जाता है। मैं तुम नचिकेता को खुले हुए ब्रह्म भवन वाला (मोक्ष के योग्य) समझता हूँ॥ १३॥

सर्वातीत वस्तु का प्रश्न

जो (शास्त्रीय धर्मानुष्ठान रूप) धर्म से पृथक् तथा अधर्म से पृथक् और इस कार्य कारण रूप प्रपंच से भी पृथक् है तथा जो भूत, भविष्यत् (एवं वर्तमान से भी) पृथक् है, ऐसा आप जिसे देखते हो वही मुझे बतलाओ॥ १४॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ १५॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ १६॥

एतदालम्बनꣳश्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ १७॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ १८॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳहतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायꣳहन्ति न हन्यते॥ १९॥

ॐकार का उपदेश

सभी वेद जिसको बतलाते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिये सभी तपों को कहते हैं, एवं जिसकी इच्छा करते हुए (गुरुकुल वासादि कठोर) ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, उस पद को मैं तुम्हे संक्षेप में कहता हूँ। (जिसे तू जानना चाहता है) ॐ, यह वह पद है॥ १५॥ यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है एवं यह अक्षर ही परब्रह्म है, इस अक्षर को ही जानकर (पर या अपर) जिसकी जो इच्छा करता है उसका वही हो जाता है॥ १६॥ (ब्रह्म प्राप्ति के आलम्बनों में) यही श्रेष्ठ आलम्बन है यही पर आलम्बन है। इसी आलम्बन को जानकर पुरुष ब्रह्मलोक में (परब्रह्म में स्थित हो) महिमान्वित होता है॥ १७॥

आत्म निरूपण

(चैतन्य स्वभाव के कारण) यह मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है, यह किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं हुआ और न स्वतः ही अर्थान्तर रूप से बना है। अतः यह आत्मा अजन्मा, नित्य शाश्वत (नाश रहित) और पुरातन है तथा शरीर के मारे माने पर भी स्वयं मरता नहीं है॥ १८॥ (ऐसे आत्मा को भी देहमात्र को मैं मानने वाला पुरुष) यदि मारने वाला व्यक्ति आत्मा को मारने का विचार करता है और मारा जाने वाला उसे मरा हुआ जानता है, तो वे दोनों ही (उस आत्मा को) नहीं जानते हैं क्योंकि यह आत्मा न मारता है और न मरता ही है॥ १९॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥ २०॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः। कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥ २१॥

अशरीरꣳशरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ २२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम्॥ २३॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ २४॥

यह आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर तथा महान् से भी महत्तर, इस जीव की हृदय रूपी गुफा में (अन्तरात्मरूप से) स्थित है (दृष्टादृष्ट बाह्य विषयों से उपरत) निष्काम पुरुष अपनी इन्द्रियादि के प्रसाद से आत्मा की उक्त महिमा को देखता है और शोक रहित हो जाता है॥ २०॥ वह अचल होता हुआ भी दूर तक जाता है तथा सोता हुआ भी सभी ओर जाता है, वह मद से युक्त और मद (हर्ष) से रहित है, उस देव को मेरे सिवा और कौन जान सकता है?॥ २१॥ जो (देवादि अनित्य) शरीरों में शरीर रहित तथा नित्य स्वरूप है, उस महान् सर्व व्यापक आत्मा को (यह मैं हूँ इस प्रकार) जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता॥ २२॥

आत्मा स्वकृपा साध्य है

यह आत्मा (वेदाध्ययन रूप) प्रवचन से प्राप्त होने योग्य नहीं है और न (ग्रन्थार्थ) धारण शक्ति या अधिक श्रवण से प्राप्त हो सकता है, किन्तु यह साधक जिसका वरण करता है उस आत्मा से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके समक्ष यह आत्मा अपने स्वरूप को अनावृत कर देता है॥ २३॥

आत्मज्ञान का अनधिकारी

जो (श्रुति स्मृति से अविहित) पाप कर्मों से नहीं हटा है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं है, जो असमाहित मन वाला है और जिसका चित्त शान्त नहीं है, वह इसे प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु उक्त दोषों से रहित आचार्यवान् पुरुष प्रज्ञान (ज्ञान साधन निदिध्यासन) द्वारा यथोक्त आत्मा को जान सकता है॥ २४॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ २५॥ इति प्रथमेऽध्याये द्वितीया वल्ली॥ १/२॥

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ १॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्। अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳशकेमहि॥ २॥

आत्मानꣳरथिनं विद्धि शरीरꣳरथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ ३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ ४॥

जिस आत्मा के (सर्व धर्म रक्षक) ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दोनों भात हैं तथा मृत्यु जिसका शाकादि हैं। वह जहाँ है, उसे कौन (अज्ञानी पुरुष पूर्वोक्त अधिकारी के समान) इस प्रकार जान सकता है॥ २५॥

॥ इति द्वितीयवल्ली समाप्ता॥

अथ तृतीयवल्ली

गन्ता एवं गन्तव्य भेद से दो आत्मा का निरूपण

इस शरीर में बुद्धि रूप गुफा के भीतर (देहाश्रित आकाश स्थान की अपेक्षा) उत्कृष्ट परब्रह्म के स्थान में दो प्रवेश किये हुए हैं। अपने कर्म फल को भोगने वाला (संसारी और असंसारी होने के कारण) छाया तथा धूप के समान (परस्पर विलक्षण) हैं। ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं। यही बात जिन्होंने तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन किया है वे और पंचाग्नि के उपासना करने वाले भी कहते हैं॥ १॥ यजन करने वाले (कर्मी यजमान के लिये) जो सेतु के समान है उस नाचिकेत अग्नि को तथा संसार के पार जाने वालों का जो अभय, परम आश्रय है उस अक्षर ब्रह्म को जानने में हम समर्थ होवें॥ २॥

शरीरादि में रथादि रूप की कल्पना

(कर्म फल भोगने वाले संसारी) आत्मा को रथ का स्वामी जानो और शरीर को रथ समझो, बुद्धि को सारथी और संकल्पादि रूप मनको लगाम समझो॥ ३॥ (रथ कल्पना में कुशल विवेकी पुरुष) इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं, (उन इन्द्रियों को घोड़े रूप कल्पना करने पर) रूपादि विषयों को उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर इन्द्रियाँ एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं। (अर्थात् शुद्धात्मा में भोक्तृत्व नहीं है)॥ ४॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥ ५॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ ६॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति॥ ७॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥ ८॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ९॥

अविवेकी की परवशता

किन्तु जो (बुद्धि रूप सारथी रथ संचालन में) सर्वदा अकुशल (प्रवृत्ति निवृत्ति के विवेक से रहित है) और जो असंयत चित्त से युक्त है, उसके अधीन इन्द्रियाँ उसी प्रकार नहीं रहतीं, जैसे अन्य सारथी के अधीन दुष्ट घोड़े (नहीं रहते)॥ ५॥ किन्तु जो (पूर्वोक्त सारथी से विपरीत बुद्धिरूप सारथी) कुशल और सदा नियन्त्रित मन से युक्त होता है उसके (अश्व स्थानीय) अधीन इन्द्रियाँ इस प्रकार रहती हैं जैसे सारथी के अधीन अच्छे घोड़े (काबू में रहते हैं) ॥ ६॥

अविवेकी का संसार गमन

परन्तु जो अविज्ञानवान् अनियन्त्रित चित्त और सदा अपवित्र रहने वाला सारथी होता है (ऐसे सारथी के द्वारा) वह रथी उस परमपद को प्राप्त नहीं कर सकता, बल्कि जन्म मरणरूप संसार को प्राप्त होता है॥ ७॥

विवेकी का कैवल्य गमन

किन्तु जो द्वितीय विज्ञानवान्-सारथी से युक्त संयत चित्त और सदा पवित्र रहने वाला रथी होता है वह तो उसी पद को प्राप्त करता है जहाँ से फिर (संसार में) उत्पन्न नहीं होता॥ ८॥ जो मनुष्य विवेक बुद्धि वाले सारथी से युक्त और मनरूपी लगाम को अपने अधीन रखने वाला होता है वह संसार गति से पार होकर व्यापक परमात्मा के परम पद स्थान को प्राप्त कर लेता है॥ ९॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धि-र्बुद्धेरात्मा महान्परः॥ १०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥ ११॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२॥

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ १३॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥ १४॥

इन्द्रियाँदि का तारतम्य

इन्द्रियों की अपेक्षा (उनके आरम्भक भूत सूक्ष्म रूप) विषय श्रेष्ठ हैं, उन विषयों से मन का आरम्भक भूत सूक्ष्म श्रेष्ठ है, मन से भी श्रेष्ठ बुद्धि शब्द वाच्य निश्चयादि का आरम्भक भूत सूक्ष्म है और ऐसी बुद्धि से महान् आत्मा (महतत्त्व) उत्कृष्ट है॥ १०॥ महतत्त्व से सूक्ष्मतर (सम्पूर्ण जगत् का बीजभूत) अव्यक्त (अव्याकृत प्रकृति) है और अव्यक्त से सूक्ष्मतर श्रेष्ठ पुरुष है। पुरुष से परे अन्य कुछ भी नहीं है, वही पराकाष्ठा है, एवं वही सर्वोत्कृष्ट गति है ॥ ११॥

आत्मा सूक्ष्म बुद्धि से ग्राह्य है (ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त) सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ यह आत्मा (किसी को आत्म रूप से) प्रकाशित नहीं होता है। यह तो सूक्ष्म दर्शी पुरुषों द्वारा संस्कृत और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है॥१२॥

लयचिन्तन प्रकार

विवेकी पुरुष वाणी आदि सभी इन्द्रियों को मन में लीन करे, उस मन को प्रकाश स्वरूप बुद्धि में, बुद्धि को महतत्त्व में और महतत्त्व को (निर्विशेष निर्विकार सर्व बुद्धि के साक्षी) शान्त आत्मा में लीन करे॥ १३॥

आत्मबोध के लिये प्रेरणा

(अरे! अनादि अविद्या में सोये हुए जीवो!) उठो, (सम्पूर्ण अनर्थों की बीजभूत अज्ञान निद्रा से) जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर (परमात्मतत्त्व को आत्मरूप से) अच्छी प्रकार जानो। जैसे पैनी की हुई छुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी पुरुष उस मार्ग को वैसे ही दुष्प्राप्य बतलाते हैं॥१४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५॥
नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳसनातनम्। उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते॥ १६॥
य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि। प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति॥ १७॥ इति प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली॥ १/३॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ १॥

निर्विशेष आत्मज्ञान से अमरत्व की प्राप्ति

जो शब्द से रहित, स्पर्श से रहित, रूप तथा रस-हीन, नित्य एवं गन्ध रहित है। अतएव वह अविनाशी है। जो अनादि, अनन्त, महतत्त्व से भी परे (सर्वभूत साक्षी) और निश्चल है, उस आत्मतत्त्व को उपरोक्ष रूप से जानकर जीव (अविद्या काम और कर्म रूप) मृत्यु के पंजे से छूट जाता है॥ १५॥

प्रकृत विज्ञान का महत्त्व

नचिकेता द्वारा प्राप्त किये तथा मृत्यु से कहे हुए (इस तीन वल्ली वाले उपाख्यान रूप) सनातन विज्ञान को कह और ब्राह्मणों से सुनकर बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है॥ १६॥ जो कोई पुरुष इस परम गोपनीय ग्रन्थ को पवित्र हो ब्राह्मणों की सभा में अथवा श्राद्धकाल में सुनाता है, उसका वह श्राद्ध अनन्त फल वाला होता है॥ १७॥

॥ इति तृतीयवल्ली प्रथमोऽध्यायः समाप्त॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमवल्ली

इन्द्रियों की बहिर्मुखता आत्मा का हनन है

स्वयंभू (परमेश्वर) ने (शब्दादि विषयों को प्रकाशित करने के लिये प्रवृत्त होने वाली) इन्द्रियों को बहिर्मुख करके उनका हनन कर दिया है। अतः (जीव सर्वदा) अनात्मभूत बाह्य विषयों को ही देखता है अन्तरात्मा को नहीं। जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए (नदी को उसके प्रवाह के विपरीत दिशा में फेरने के समान) अपनी इन्द्रियों को रोक लिया है, ऐसा कोई विवेकी पुरुष ही अन्तरात्मा को देख पाता है॥ १॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥ २॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यत एतद्वै तत्॥ ३॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ ४॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सत एतद्वै तत्॥ ५॥

ज्ञानी और अज्ञानी का भेद

अल्पज्ञ पुरुष बाह्य भोगों के पीछे दौड़ते हैं, इसी से वे (अविद्या, काम, कर्म के समुदाय रूप) मृत्यु के विस्तृत पाश में पड़ जाते हैं। किन्तु विवेकी पुरुष अन्तरात्मा के अमरत्व को निश्चल जानकर संसार के अनित्य पदार्थों में से किसी की इच्छा नहीं करते, (क्योंकि वे सब परमात्म दर्शन के विरोधी हैं) ॥ २॥

आत्मज्ञानी की सर्वज्ञता

जिस विज्ञान स्वरूप आत्मा के द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, और मैथुन जन्य सुखों को विस्पष्ट रूप से सब लोक जानता है (उस आत्मा से अविज्ञेय) इस लोक में क्या अन्य कोई रह सकता है? (तुझ नचिकेता का पूछा हुआ) वह तत्त्व निश्चयरूप से यही है॥ ३॥

आत्मबोध शोक का नाशक है

जिसके द्वारा मनुष्य स्वप्न में प्रतीत होने वाले तथा जाग्रत् में दीखने वाले दोनों प्रकार के पदार्थों को देखता है। उस महान् और व्यापक आत्मा को (आत्मरूप से) प्रत्यक्ष अनुभव कर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता॥ ४॥

आत्मज्ञान की निर्भयता

जो पुरुष इस कर्म फल के भोक्ता और (प्राणादि समुदाय को धारण करने वाले) आत्मा को सान्निध्यमात्र से भूत भविष्यत् और वर्तमान के शासक रूप में जानता है। (वह वैसे विज्ञान के) बाद उस आत्मा की रक्षा करने की इच्छा नहीं करता। निश्चय वही यह (आत्मतत्त्व) है॥ ५॥

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत एतद्वै तत्॥ ६॥

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत एतद्वै तत्॥ ७॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निरेतद्वै तत् ॥ ८॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति। तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्॥ ९॥

जो मुमुक्षु जल आदि भूतों की अपेक्षा पहले उत्पन्न हुए ज्ञान रूप तप से पैदा होने वाले (हिरण्यगर्भ) को भूतों के सहित बुद्धि रूपी गुफा में स्थित हुआ देखता है, वही उस ब्रह्म को देखता है। निश्चय वही यह ब्रह्म है॥ ६॥ जो सर्वदेवस्वरूपा अदिति, हिरण्य गर्भरूप से, परब्रह्म से उत्पन्न होती है और जो बुद्धि रूप गुफा में प्रवेश कर रहने वाली है तथा भूतों के साथ ही उत्पन्न हुई है, (उसी को देखो) निश्चय वही यह तत्त्व है॥ ७॥

अरणिस्थ अग्नि में ब्रह्म दृष्टि

जैसे गर्भिणी स्त्रियों द्वारा (शुद्ध अन्नपानादि से अपने) गर्भ की अच्छी प्रकार रक्षा की जाती है वैसे ही (अधियज्ञ रूप से) जो अग्नि दोनों अरणियों के बीच स्थित है तथा प्रमाद शून्य कर्म परायण होम सामग्री से युक्त याजकों और ध्यान भावना युक्त योगियों द्वारा यज्ञ एवं हृदय देश में नित्य प्रति स्तुति किये जाने योग्य है, यही वह ब्रह्म है॥ ८॥

प्राण में ब्रह्म दृष्टि

जहाँ से (नित्य प्रति) सूर्य उदित होता है और जिसमें वह अस्त होता है। उस प्राणात्मा में (स्थिति के समय अग्नि आदि अधिदैव और वागादि अध्यात्म) सभी देवता अर्पित हैं, उसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता, वही यह सर्वात्मक ब्रह्म है॥ ९॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ १०॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥ ११॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सत एतद्वै तत्॥ १२॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्॥ १३॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति। एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति॥ १४॥

भेद दृष्टि की निन्दा

जो इस (देह इन्द्रिय संघात रूप लोक) में भास रहा है वही ब्रह्म अन्यत्र (इस देहादि से परे नित्य विज्ञानघन रूप) भी है, तथा जो अन्यत्र है वही इस संघात में है। (ऐसा होने पर भी) जो मनुष्य इस तत्त्व में नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात बारंबार जन्मता मरता है॥ १०॥

मन से ही यह (एकरस ब्रह्म) प्राप्त करने योग्य है, इस ब्रह्मतत्त्व में नाना अणुमात्र कुछ भी नहीं है। जो पुरुष (अविद्या रूप तिमिर दोष दृष्टि को न त्याग कर) इसमें नानात्व सा देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है॥ ११॥

हृदयस्थ ब्रह्म

जो अङ्गुष्ठ परिमाण पुरुष (अङ्गुष्ठ मात्र परिणाम वाले हृदय कमल के) मध्य में स्थित है उसे भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान का शासक समझ कर ज्ञानी पुरुष अपने शरीर रक्षाकी इच्छा नहीं करता। निश्चय यही वह ब्रह्मतत्त्व है ॥ १२॥

क्षणभंग वाद का खंडन

यह अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष धूम रहित ज्योति के समान है। यह भूत, भविष्यत् का शासक है यही आज है और यही कल भी रहेगा। निश्चय ही वह यही ब्रह्मतत्त्व है॥ १३॥

भेद निन्दा

जैसे ऊँचे पर्वतीय स्थान में बरसा हुआ जल पर्वतीय निम्न प्रदेशों में (फैलकर) नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्माओं को (प्रत्येक शरीर में) पृथक् पृथक् देखकर जीव उन्हीं को (बारंबार शरीर भेद को) प्राप्त होता है॥ १४॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥ १५॥ इति द्वितीयेऽध्याये प्रथमा वल्ली समाप्ता ॥ २/१॥

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः। अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यत एतद्वै तत्॥ १॥

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥ २॥

अभेद दर्शन की स्तुति

जैसे स्वच्छ जल में डाला हुआ स्वच्छ जल (मिलाकर) वैसा ही स्वच्छ हो जाता है। हे गौतम! एकत्व आत्मदर्शी पुरुष का आत्मा भी वैसा ही हो जाता है॥ १५॥

॥ इति प्रथमवल्ली समाप्ता॥

अथ द्वितीयवल्ली

प्रकारान्तर से ब्रह्म चिन्तन

जन्मादि विकार रहित उस विज्ञान स्वरूप आत्मा का (पुर के समान होने से यह शरीर रूप) पुर ग्यारह दरवाजों वाला है। ऐसे आत्मा का सम्यक् ज्ञान पूर्वक अनुष्ठान कर पुरुष शोक नहीं करता है और वह इस शरीर रहते हुए ही अविद्याकृत काम और कर्म के बन्धनों से सर्वथा जीवन मुक्त हुआ ही विदेह-कैवल्य को प्राप्त करता है॥ १॥

आत्मा की सर्वरूपता

वह गमन कर्ता होने से हंस है, आकाश में सूर्य रूप से चलने के कारण शुचिषत् है। व्यापक होने से वसु है। वायु रूप से आकाश में चलने के कारण अन्तरिक्षसत् है। वेदी (पृथिवी) में स्थित होने से होता (अग्नि) है, कलश में स्थित अतिथि (सोम) है, या अतिथि रूप से घर में आने के कारण वह अतिथि दुरोणसत् कहलाता है। (ऐसे ही वह) मनुष्यों में गमन करने वाला नृषत् कहलाता है। देवताओं में गमन शील वरसत् है। सत् या यज्ञ में जाने से वह ऋतसत् कहा जाता है। आकाश में चलने से व्योमसत् है। जल में शंखादि रूप से रहने के कारण अब्जा और पृथ्वी में यवादि रूप से उत्पन्न होने के कारण गोजा कहा गया है। यज्ञान्नरूप से उत्पन्न ऋतजा है और नदी आदि रूप में पर्वतों से उत्पन्न होने के कारण अद्रिजा है। त्रिकालाबाध्य होने से सत्य स्वरूप और सबका कारण होने से महान् है॥ २॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥ ३॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः। देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यत एतद्वै तत्॥ ४॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥ ५॥

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥ ६॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ ७॥

आत्मबोध मे लिङ्ग

(जो हृदय देश से) प्राण वृत्ति को ऊपर क़ी ओर ले जाता है और अपान को नीचे की ओर धकेलता है। हृदय कमल में रहने वाले उस सम्भजनीय की सभी देव उपासना करते हैं॥ ३॥

आत्मा ही जीवन है

इस शरीरस्थ देही आत्मा के भ्रष्ट हो जाने पर इस प्राणादि समुदाय में क्या शेष रह जाता है? अर्थात् कुछ भी शेष नहीं रहता। यही वह ब्रह्म है॥ ४॥ कोई भी देहधारी मानव न तो प्राण से न अपान से ही जीता है, किन्तु जिसमें ये दोनों आश्रित हैं ऐसे किसी अन्य से ही जीवित रहते हैं॥ ५॥

मृत्यु के बाद जीव की गति

हे गौतम! अब मैं तुम्हें फिर भी इस गोपनीय सनातन ब्रह्म को अच्छी प्रकार बतलाऊँगा, तथा (ब्रह्म को न जानने से) मरकर आत्मा जैसा होता है वैसा ही मैं बतलाऊँगा॥६॥ (अज्ञानी देहाभिमानी) अपने कर्म और चिन्तन के अनुरूप कितने ही शरीर धारण करने के लिये किसी योनि में चले जाते हैं और कुछ लोग स्थावर भाव को प्राप्त होते हैं॥७॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत्॥ ८॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ ९॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ १०॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥ ११॥

शुद्ध ब्रह्म का उपदेश

प्राण आदि के सो जाने पर (अविद्या के बल से स्त्री आदि) अपने अपने अभीष्ट पदार्थों की रचना करता हुआ जो यह जागता रहता है वही शुद्ध है वह ब्रह्म है और वही (सभी शास्त्रों में) अमृत कहा जाता है। उसमें ही पृथिव्यादि सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं। उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता। निश्चय यही वह ब्रह्म है॥८॥

उपाधि के अनुरूप आत्मा

जैसे एक ही प्रकाश स्वरूप अग्नि सम्पूर्ण भुवन में प्रविष्ट हुआ काष्ठादि भिन्न-भिन्न दाह्य पदार्थ के अनुरूप हो जाता है, वैसे ही एक ही सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा उनके रूप के अनुरूप हो रहा है तथा (आकाश के समान अपने अविकारी रूप से उनसे) बाहर भी है॥९॥

जैसे एक ही वायु प्राण रूप से इस लोक (देह) में प्रविष्ट हुआ प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है। वैसे ही सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा एक ही प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है॥१०॥

आत्मा की असंगरूपता

जैसे (अपने प्रकाश से लोक का उपकार करता हुआ सूर्य सम्पूर्ण लोक का नेत्र होकर भी) आध्यात्मिक पाप दोष तथा अपवित्र पदार्थों के संसर्ग से होने वाले नेत्र सम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता। वैसे ही सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा एक ही (भ्रमजन्य) संसार के दुःख से लिप्त नहीं होता, बल्कि (रज्जु आदि के समान भ्रमबुद्धि जन्य अध्यास से) बाहर ही रहता है॥११॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १२॥

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ १३॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्। कथं न तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा॥ १४॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५॥ इति द्वितीयेऽध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता॥ २/२॥

आत्म ज्ञानी के नित्य सुख

जो एक स्वतन्त्र सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा अपने एक विशुद्ध विज्ञान स्वरूप को ही अनेक प्रकार से कर लेता है। अपनी बुद्धि में चैतन्य रूप से अभिव्यक्त उस आत्मदेव को जो धीर पुरुष देखते हैं, उन्हीं को नित्य सुख होला है अन्य को नहीं॥ १२॥ जो अनित्य पदार्थों में नित्य ब्रह्मादि चेतन प्राणियों का भी चेतन है और जो अकेला ही (संकल्प मात्र से सांसारिक) अनेकों की कामनाएँ पूर्ण करता है। जो धीर पुरुष अपनी बुद्धि में स्थित उस नित्य चैतन्य आत्मा को देखते हैं, उन्हीं को नित्य शाश्वत शान्ति मिलती है औरों को नहीं॥ १३॥ उस इस (आत्म विज्ञान) को ही (प्राकृत पुरुषों के) मन वाणी के अविषय, परम सुख विवेकी मानते हैं उसे मैं कैसे जान सकूँगा? क्या वह (हमारी बुद्धि का विषय होकर) प्रकाशित होता है या नहीं॥ १४॥

ब्रह्म की सर्व प्रकाशता

वहाँ (आत्म स्वरूप ब्रह्म में) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा तारे वहाँ प्रकाशित नहीं होते और यह विद्युत् भी नहीं चमकती हो तो फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है? उसके प्रकाशित होने पर ही सब कुछ प्रकाशित होता है तथा उसके प्रकाश से ही यह सब भासता है॥ १५॥

॥ इति द्वितीयवल्ली॥

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत्॥ १॥

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ २॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ ३॥

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः। ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥ ४॥

अथ तृतीयवल्ली

संसार वृक्ष का स्वरूप

जिसका मूल (व्यापक परमात्मा के परमपदरूप) ऊपर की ओर तथा (देव, नर, तिर्यगादि शरीर रूप) शाखाएँ नीचे की ओर हैं, ऐसा यह अश्वत्थवृक्ष अनादि होने से सनातन है। वही (संसार वृक्ष का मूल कारण चैतन्य आत्म स्वभाव) विशुद्ध ज्योति स्वरूप है। वही ब्रह्म और वही अमृत कहा जाता है। उसी ब्रह्म में सभी लोक (शुक्ति रजत की भाँति) आश्रित है उसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता, निश्चय यही वह ब्रह्म है॥ १॥

परमेश्वर के ज्ञान से मोक्ष

यह जो कुछ जगत् है वह सब प्राण रूप ब्रह्म से प्रकट होकर (नियम से) चेष्टा कर रहा है। वह महान् भयरूप और उठे हुए वज्र के समान है (अपने अन्तः करण की प्रत्येक प्रवृत्ति के साक्षी भूत) इस ब्रह्म को जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं॥ २॥

परमेश्वर सबका शासक है

इस (परमेश्वर) के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तप रहा है, तथा इसी के भय से इन्द्र, वायु और पाँचवा मृत्यु (नियम से) दौड़ता है॥३॥

ईश्वर ज्ञान के बिना देहान्तर की प्राप्ति निश्चित है

यदि इस (जीवित शरीर) में शरीर नाश से पूर्व ही (इन सूर्यादि के भय हेतुभूत) ब्रह्म को न जान सका, तो उन जन्म मरणादिशील लोकों में वह शरीर धारण कर लेता है। (अतः मरने से पूर्व आत्मा को जानकर संसार बन्धन से मुक्त हो जाना चाहिये)॥ ४॥

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके॥ ५॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्। पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥ ६॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्। सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥ ७॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥ ८॥

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ ९॥

स्थान भेद से परमेश्वर दर्शन भेद

जैसे दर्पण में (प्रतिबिम्बित अपने मुख को स्पष्ट देखता है) वैसे ही निर्मल बुद्धि में (आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है) तथा जैसे स्वप्न में (जाग्रद्वासना से उद्भूत दृश्य को अस्पष्ट देखता है) वैसे ही पितृलोक में। जैसे जल में वैसे ही गन्धर्व लोक में भी (अस्पष्ट रूप से आत्मा का दर्शन होता है, किन्तु) ब्रह्म लोक में तो छाया और प्रकाश की भाँति अत्यन्त स्पष्ट रूप से आत्म दर्शन होता है। (अतः इस मनुष्य लोक में ही आत्म दर्शन के लिये प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि यह प्राप्त है, ब्रह्मलोक तो दुष्प्राप्य है)॥ ५॥

आत्म ज्ञान का साधन और प्रयोजन

(अपने कारण के गुण को ग्रहण करने के लिये आकाशादि भूतों से) पृथक् पृथक् उत्पन्न होने वाली श्रोत्रादि इन्द्रियों का आत्म वैलक्षण्यरूप पृथक् भाव को तथा उनके उत्पत्ति और प्रलय को जानकर विवेकशील पुरुष शोक नहीं करता (क्योंकि नित्य चैतन्य स्वभाव आत्मा का किसी भी अवस्था में व्यभिचार नहीं होता)॥ ६॥ इन्द्रियों से पर (उत्कृष्ट) मन है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से श्रेष्ठ महतत्त्व है और महतत्त्व से उत्तम अव्यक्त है॥ ७॥ अव्यक्त से भी श्रेष्ठ पुरुष है (वह आकाशादि का कारण होने से) व्यापक है (तथा सर्व संसार धर्म रहित होने से) अलिङ्ग ही है। जिसे आचार्य एवं शास्त्र द्वारा जानकर जीवन मुक्त हो जाता है और वह अमरत्व को प्राप्त कर लेता है॥ ८॥ इस प्रत्यगात्मा का रूप दृष्टि में स्थिर नहीं होता। अतः इसे कोई नेत्र से नहीं देख सकता, यह आत्मा तो संकल्पादि रूप मन की नियामिका हृदयस्थ बुद्धि द्वारा मनन रूप यथार्थ दर्शन से प्रकाशित होता है। इस रूप में इसे जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं॥ ९॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥ १०॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥ १२॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः। अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ १४॥

परम गति की प्राप्ति

जब मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ (आत्मा में) स्थिर हो जाती हैं और निश्चयात्मिका बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उस अवस्था को ही परम गति कहते हैं॥ १०॥ उस अचल इन्द्रिय धारण को ही योगी लोग योग कहते हैं। उस समय (चित्त समाधान के लिये) साधक प्रमाद रहित हो जाता है, क्योंकि योग ही प्रभव और अप्यय रूप है अर्थात् प्रमाद छोड़ने से कैवल्य का प्रादुर्भाव और प्रमाद करने से परमार्थ का नाश हो जाता है॥ ११॥

आत्म उपलब्धि का साधन आस्तिक भाव

वह आत्मा न तो वाणी से, न तो मन से, न नेत्र से (और न अन्य इन्द्रियों से ही प्राप्त किया जा सकता है)। वह आत्मा है इस प्रकार कहने वाले (शास्त्रानुसारी श्रद्धालु आस्तिक) पुरुषों से भिन्न नास्तिकों को कैसे वह उपलब्ध हो सकता है? अर्थात् किसी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सकता॥ १२॥

वह आत्मा है, इस प्रकार ही उपलब्ध करना चाहिये और तत्त्वरूप से उसे जानना चाहिये (सोपाधिक अस्तित्व और निरुपाधिक तत्त्व रूप) इन दोनों में से जिसे पहले उसकी अस्ति भाव से उपलब्धि हुई है उसी को तत्त्व रूप से भी साक्षात्कार होता है॥ १३॥

अमरत्व ब्रह्म की प्राप्ति

साधक के हृदय में स्थित जो कामनाएँ हैं वे सब की सब (प्रारब्ध से भिन्न) जब छूट जाती हैं उस समय (आत्मसाक्षात्कार से पूर्व अपने को) मरणशील मानने वाला पुरुष अमर हो जाता है और इसी वर्तमान शरीर से ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है॥ १४॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥ १५॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥ १६॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥ १७॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव॥ १८॥ इति द्वितीयेऽध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता॥ २/३॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

ॐसह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ इति कृष्णयजुर्वेदीयकठोपनिषत्समाप्ता॥ ३॥

जिस समय इस वर्तमान जीवन में ही हृदय की अविद्याजन्य सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ छिन्न भिन्न हो जाती हैं, उस समय मरण धर्मा अमर हो जाता है, बस, इतना ही सम्पूर्ण वेदान्तों का अनुशासन है (इससे अधिक आदेश नहीं है)॥ १५॥ पुरुष के हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ हैं उनमें से मूर्धा को भेदकर बाहर की ओर निकलने वाली सुषुम्ना नाड़ी है, उसके द्वारा ऊपर की ओर जाने वाला जीव सूर्य मार्ग से आपेक्षिक अमरत्व को प्राप्त करता है। इससे भिन्न विविध गति वाली नाड़ियाँ संसार प्राप्ति के लिये होती हैं॥ १६॥

उपसंहार

अङ्गुष्ठ मात्र, अन्तरात्मा पुरुष सदा जीवों के हृदय में स्थित है, उसे धैर्य पूर्वक मूँज से सींक की भाँति अपने शरीर से पृथक् करे। (शरीर से पृथक् किये हुए) उस आत्मा को विशुद्ध और अमृतमय समझे, उसे शुद्ध और अमर समझे॥ १७॥ मृत्यु की कही हुई पूर्वोक्त ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योग विधि को प्राप्त कर नचिकेता मुक्त हो गया। वह धर्माधर्म रूपी रज से रहित तथा अविद्या एवं काम से छूट गया। जो कोई दूसरा भी व्यक्ति अध्यात्मतत्त्व को इस प्रकार जानेगा वह भी नचिकेता की भाँति ब्रह्म प्राप्ति द्वारा मृत्यु से छूट जायगा॥ १८॥

॥ इति तृतीयवल्ली समाप्ता॥

॥ सहनावेति शान्तिः पाठः॥

॥ इति कठोपनिषत्समाप्ता॥

ॐ

प्रश्नोपनिषद्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैव्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः॥ १॥

ॐभद्रं कर्णेभिरिति शान्तिपाठः

भावः—हे देवताओ! (आपकी कृपा से) हम कानों के द्वारा कल्याणप्रद शब्दों को सुनें। आँखों से कल्याणप्रद दृश्य देखें। वैदिक यागादिक कर्म में हम समर्थ होवें तथा दृढ़ अवयवों और शरीरों से स्तुति करने वाले हम लोग केवल देवताओं के हित मात्र के लिए जीवन धारण करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो। महान् यशस्वी इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें। परम ज्ञानवान् पूषादेव हमारा कल्याण करें। सम्पूर्ण आपत्तियों के लिए चक्र के समान घातक गरुड़ हमारा कल्याण करें, तथा देवगुरु बृहस्पति हमारा कल्याण करें। त्रिविध ताप की शान्ति होवे।

अथ प्रथमः प्रश्नः

सुकेशा आदि ऋषियों का पिप्पलाद के पास जाना

भरद्वाज के पुत्र सुकेशा, शिवि का पुत्र सत्यकाम, सूर्य का पौत्र गर्ग गोत्रोत्पन्न गार्ग्य, अश्वल का पुत्र कौसल्य, भृगु गोत्र में उत्पन्न विदर्भ देश का रहने वाला वैदर्भी, कत्य के प्रपोते कबन्धी, ये सब अपर ब्रह्म की उपासना में लगे हुए थे एवं तदनुकूल अनुष्ठान में तत्पर ये सभी ऋषि परब्रह्म का अन्वेषण करते हुए भगवान् पिप्पलाद के पास इस विचार से गये कि ये ऋषि परब्रह्म के विषय में सब कुछ हमें बतला देंगे। सभी के हाथ में समिधा रखी थी अर्थात् विधिवत् ब्रह्मविद्या के लिए गुरु के निकट गए॥ १॥

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्यामः इति॥ २॥

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ। भगवन्कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति॥ ३॥

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥ ४॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः॥ ५॥

इस प्रकार उन आए हुए ऋषियों से महर्षि पिप्पलाद ने कहा कि तुम तपस्या, इन्द्रियसंयमरूप ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त हो गुरु-शुश्रूषापूर्वक एक वर्ष ठहरो फिर अपनी इच्छानुसार प्रश्न करना। यदि मैं उसे जानता होऊँगा तो तुम्हें सब बतला दूँगा॥ २॥

प्रजा उत्पत्ति का कारण

एक वर्ष गुरुकुल वास करने के बाद कात्यायन कबन्धी ने पिप्पलाद महर्षि के पास जाकर पूछा 'हे भगवन्! (ब्राह्मणादि) ये सम्पूर्ण प्रजा किससे उत्पन्न होती हैं'॥ ३॥

प्रजापति से सर्वप्रथम रयि और प्राण की उत्पत्ति

उस कबन्धी (कात्यायन) से उस पिप्पलाद महर्षि ने कहा 'प्रसिद्ध है कि प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा वाले प्रजापति ने (पूर्व कल्पीय ज्ञान का स्मरणरूप) तप किया। उसने पूर्वोक्त तप करके सृष्टि के साधनभूत रयि और प्राण रूप जोड़े को उत्पन्न किया। (यह सोचकर कि) ये दोनों ही मेरी नाना प्रकार की प्रजा को उत्पन्न करेंगे'॥ ४॥

सूर्य और चन्द्र में प्राण तथा रयि दृष्टि

निश्चय आदित्य ही प्राण (भोक्ता अग्नि) है और रयि ही चन्द्रमा है। यह सब जो स्थूल और सूक्ष्म है वह मूर्त तथा अमूर्त (भोक्ता भोग्य रूप होने पर भी) रयि ही है। अतः मूर्त ही रयि है॥ ५॥

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान्रश्मिषु सन्निधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते॥ ६॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्। सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥ ८॥

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः॥ ९॥

जिस समय उदय होकर सूर्य पूर्व दिशा में प्रवेश करता है, तो उससे वह पूर्व दिशा के प्राणों को (सर्वत्र व्याप्त किरणों में होने के कारण) अपनी किरणों में प्रविष्ट कर लेता है (उन्हें आत्मभूत कर लेता है)। इसी प्रकार जब वह दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर और अवान्तर सभी दिशाओं को प्रकाशित करता है तो उससे भी वह उन सबके प्राणों को अपने किरणों में धारण कर लेता है॥ ६॥ वह यह (भोक्ता) वैश्वानर विश्वरूप (होने के कारण) प्राण और अग्नि रूप हो प्रकट होता है। यही बात मन्त्रों द्वारा भी कही गयी है॥ ७॥ सर्वरूप, किरण वाला, ज्ञान से सम्पन्न, सम्पूर्ण प्राणों का आश्रय, ज्योति स्वरूप, अद्वितीय और तपते हुए सूर्य को (ब्रह्मवेत्ताओं ने अपने आत्म स्वरूप से जाना है)। यह सूर्य अनेकों किरणों वाला अनेकों प्रकार से वर्तमान तथा प्रजाओं के प्राण रूप से उदित होता है॥ ८॥

सम्वत्सरादि में प्रजापति आदि की दृष्टि

सम्वत्सर रूप काल ही प्रजापति है, उसके दक्षिण और उत्तर (छः-छः मासवाले प्रसिद्ध) दो अयन हैं। जो लोग इष्टापूर्त रूप केवल कर्म मार्ग का अवलम्बन करते हैं वे (मिथुनात्मक प्रजापति के अंश अन्न रूप) चन्द्रलोक पर ही विजय पाते हैं और वे ही पुनः पुनः (उत्तमाधम योनियों में) आवागमन को प्राप्त होते हैं। अतः ये प्रजा चाहनेवाले गृहस्थ ऋषि लोग दक्षिण मार्गोपलक्षित चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जो पितृयान है वही रयि है॥ ९॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः॥ १०॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति॥ ११॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन्॥ १२॥

तथा इन्द्रिय संयमरूप तप, दृढ़ ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और प्रजापति तादात्म्यरूप विद्या द्वारा आत्मा को खोज कर उत्तरायण से सूर्यलोक को प्राप्त होते हैं। निश्चय यही सम्पूर्ण प्राणों का सामान्य आयतन है, यही अमृत है, यही भय रहित है और यही समुच्चय अनुष्ठान करने वालों की परागति है, इससे फिर लौटते नहीं। अतः अविद्वानों के लिए यह निरोध स्थान है। (क्योंकि वे आदित्यमण्डल को भेद कर ऊपर नहीं जा सकते) इस विषय में अग्रिम मन्त्र प्रसिद्ध है॥ १०॥

आदित्य सर्वाधिष्ठान है

काल के रहस्य जानने वाले अन्य विद्वान् इस आदित्य को पाँच (ऋतु रूप) पैरोंवाला, सबका पिता, बारह मास रूप आकृतियों वाला पुरीषी (जल वाला) और द्युलोक से ऊपर स्वर्गलोक में स्थित बतलाते हैं। तथा ये अन्य कालज्ञ पुरुष उसी को सर्वज्ञ एवं सात चक्र और उसी छः ऋतु रूप अरे वाले में इस जगत् को विशिष्ट बतलाते हैं॥ ११॥

मासादि में प्रजापति आदि की दृष्टि

मास ही पूर्वोक्त प्रजापति है, उस मास रूप प्रजापति का कृष्ण पक्ष ही रयि है, शुक्ल पक्ष प्राण है। इसलिये ये प्राण उपासक ऋषिगण शुक्ल पक्ष में यज्ञ किया करते हैं, अर्थात् कृष्ण पक्ष को भी वे शुक्ल पक्ष समझते हैं तथा दूसरे ऋषि (शुक्ल पक्ष में यज्ञ करते हुए भी) कृष्ण पक्ष में यज्ञ करते हैं ॥ १२॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते। ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते॥ १३॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४॥

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति॥ १६॥ इति प्रथमः प्रश्नः॥ (१)॥

मास रूप प्रजापति की दिनरात्रि में समाप्ति

निश्चय की दिनरात भी प्रजापति है, उनमे दिन ही प्राण है और रात्रि ही रयि है। है। जो लोग (मूर्खतावश) दिन में रति स्वरूपा स्त्री से संयुक्त होते हैं वे निश्चय ही प्राण की हानि करते हैं तथा जो ऋतु काल में रात्रि के समय रति से संयुक्त हाते हैं वह उनका ब्रह्मचर्य ही है। (अतः प्रशस्त होने के कारण ऋतु काल में ही रात्रि के समय स्त्री गमन का प्रासंगिक विधान है)॥ १३॥

अन्न में प्रजापति दृष्टि

अन्न ही प्रजापति है (उसी से प्रजा का कारण रूप) वह वीर्य होता है और उस वीर्य से ही यह (मनुष्यादि रूप सम्पूर्ण) प्रजा उत्पन्न होती है॥ १४॥

प्रजापति व्रत का फल

इस प्रकार जो भी (कोई गृहस्थ ऋतु काल में रात्रि के समय स्त्रीगमन रूप) प्रजापति व्रत का आचरण करते हैं, वे (पुत्र और पुत्री रूप) जोड़े को उत्पन्न करते हैं जिनमें (इष्टादि कर्मानुष्ठान रूप) तप और पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य है तथा जिनमें असत्य त्याग रूप सत्य स्थित है उन्हीं को यह (चन्द्रलोक में स्थित पितृयान रूप) ब्रह्मलोक प्राप्त होता है॥ १५॥

उत्तर मार्गगामी की गति

जिन गृहस्थों में कुटिलता (क्रीड़ादि वशात्) अनृत और माया नहीं है उन्हीं को वह विशुद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त होता है (ऐसा एकान्त निष्ठ ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और भिक्षुक में ही संभव है। कर्म और उपासना के समुच्चित अनुष्ठान से ही उक्त फल मिलता है, केवल कर्म से तो चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है)॥ १६॥

॥ इति प्रथमः प्रश्नः ॥

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति॥ १॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः॥ २॥

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः॥ ३॥

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते एवमस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति॥ ४॥

अथ द्वितीयः प्रश्नः

कौन कौन देव प्रजा को धारण करते हैं

उसके बाद पिप्पलाद मुनि से विदर्भदेशीय भार्गव ने पूछा, 'हे भगवन्! (इस शरीर रूप) प्रजा को कितने देवता धारण करते हैं तथा (उन देवताओं में से) कौन इसे प्रकाशित करते हैं और इन देवों में कौन प्रधान है' ॥ १॥

आकाशादि शरीर के आधार

तब आचार्य पिप्पलाद ने उस भार्गव से कहा—'निश्चय आकाश ही वह देव है। वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाक् (सभी कर्मोन्द्रियाँ) मनः श्रोत्र और चक्षुः (ज्ञानेन्द्रियाँ), वे सभी देव अपनी अपनी श्रेष्ठता के लिये महिमा को प्रकट करते हुए कहते हैं कि इस कार्य कारण संघात रूप शरीर को स्तम्भ की भाँति आश्रय देकर हम ही स्पष्टरूप से धारण करते है'॥ २॥

प्राण के प्राधान्य में दृष्टान्त

इस प्रकार अभिमान से युक्त उन देवों के प्रति प्राण ने कहा 'तुम लोग मोह को प्राप्त मत होवो, क्योंकि अपने को पाँच भागों में विभक्त कर मैं ही इस शरीर को आश्रय देकर धारण काता हूँ'। किन्तु उन देवताओं ने उक्त बात पर विश्वास नहीं किया॥ ३॥

तब वह प्राण (इन्द्रियों की अश्रद्धा को देख कर) अभिमान पूर्वक मानो ऊपर उठने लगा, उसके ऊपर उठते ही और सभी प्राण ऊपर उठने लगे तथा उसके बैठ जाने पर सभी बैठ गये। जैसे (रानी मक्खी) के ऊपर उठने पर सभी मक्खियाँ ऊपर उठ जाती हैं और उसके बैठ जाने पर सभी बैठ जाती हैं। वैसे ही वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि भी (प्राण के साथ ही उठने और प्रतिष्ठित होने लगे) तब वे सभी इन्द्रियाँ सन्तुष्ट होकर मुख्य प्राण की स्तुति करने लगीं॥ ४॥

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्॥ ५॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठतम्। ऋचो यजूꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च॥ ६॥

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि॥ ७॥

देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा। ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि॥ ८॥

इन्द्रस्त्वं प्राण! तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता। त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥ ९॥

यह प्राण अग्नि होकर प्रज्वलित होता है यह सूर्य (होकर प्रजा का पालन करता है तथा असुरों का वध करता) है। यह वायु है तथा यह देव ही पृथिवी चन्द्रमा (रूप से सबका धारण एवं पोषण करने वाला है) और जो कुछ स्थूल, सूक्ष्म एवं अमृत है वह सब कुछ यही है॥ ५॥

प्राण सबका आश्रय है

जैसे रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं वैसे ही ऋक्, यजु, और साम (तीन प्रकार के मन्त्र), उनसे निष्पन्न यज्ञ तथा ब्राह्मण-क्षत्रिय ये सब प्राण में ही स्थित हैं॥ ६॥

प्राण की स्तुति

हे प्राण! तू ही प्रजापति है, तू ही गर्भ में विचरता है और (माता पिता के अनुरूप होकर) तू ही जन्म लेता है। ये मनुष्यादि सम्पूर्ण प्रजाएँ तुझे ही (चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा) उपहार समर्पण करती हैं। क्योंकि जो उन इन्द्रियों के साथ भोक्ता रूप से स्थित है वह तू ही है॥ ७॥

देवताओं के लिये तू श्रेष्ठ वह्नितम है। नान्दीमुखादि श्राद्धों में पितरों के लिये प्रथम स्वधा तू है और अथर्वा श्रुति के अनुसार अंगों का रस रूप तू है अर्थात् देह-धारणादि के लिए सत्य आचरणरूप तू है॥ ८॥ हे प्राण! तू परमेश्वर है, तू अपने तेज से (जगत् का संहार करने वाला) रुद्र है और (अपने सौम्यरूप से तू ही जगत् का) सर्वतोभावेन संरक्षक है। तू अन्तरिक्ष में सदा गमन करता है और तू ही समस्त ज्योतियों का अधिपति सूर्य है॥ ९॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः। आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति॥ १०॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः। वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः॥ ११॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि। या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः॥ १२॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। मातेव पुत्रान्रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति॥ १३॥ इति द्वितीयः प्रश्नः॥ (२)॥

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्छरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति॥ १॥

हे प्राण! जब तू मेघ होकर बरसता है तब तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा सुख को प्राप्त हुए के समान स्थित होती है कि अब यथेच्छ अन्न उत्पन्न होगा॥ १०॥ हे प्राण! तू (संस्कारकर्ता के अभाव में संस्कार हीन) व्रात्य है। तू आथर्वणों का एकर्षिनामक अग्नि होकर सम्पूर्ण हवियों का भोक्ता है तथा विश्व का सत्पति है। आज हम तेरे लिये भक्ष्य देने वाले हैं। हे मातरिश्वन्! तू हमारा पिता है॥ ११॥ तेरा जो स्वरूप (वक्ता की) वाणी में स्थित है तथा जो श्रोत्र, नेत्र और मन में व्याप्त है उसे शान्त करो। तुम उत्क्रमण न करो, अर्थात् इस देह को अमंगलमय न बनाओ॥ १२॥ इस लोक में यह सब और स्वर्ग लोक में देवादि के उपभोगरूप जो कुछ वैभव हैं वे सब प्राण के ही अधीन हैं। जैसे माता पुत्रों की रक्षा करती है—वैसे ही तुम हमारी रक्षा करो तथा हमें श्री और प्रज्ञा प्रदान करो॥ १३॥

॥ इति द्वितीयः प्रश्नः॥

अथ तृतीयः प्रश्नः

प्राण के सर्गादि प्रकार का प्रश्न

तत्पश्चात् अश्वल के पुत्र कौसल्य ने पिप्पलाद से पूछा, 'हे भगवन्! यह प्राण किस कारण विशेष से उत्पन्न होता है? और किस व्यापार विशेष से किस शरीर में आता है? तथा शरीर में प्रविष्ट हो अपने को विभक्त कर किस प्रकार स्थित होता है? फिर शरीर से उत्क्रमण क्यों करता है? और किस प्रकार बाह्य तथा आभ्यन्तर शरीर को धारण करता है?'॥ १॥

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि॥ २॥

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे॥ ३॥

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठ-स्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते॥ ४॥

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेता सप्तार्चिषो भवन्ति॥ ५॥

महर्षि पिप्पलाद का उत्तर

उससे आचार्य पिप्पलाद ने कहा कि—तू प्राणादि के उत्पत्ति विषयक अत्यन्त कठिन प्रश्न पूछता है फिर भी तू बड़ा ब्रह्मवेत्ता है। अतः मैं प्रसन्न होकर तेरे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ॥ २॥

प्राण की उत्पत्ति

आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है। जैसे लोक में मनुष्य शरीर से छाया उत्पन्न होती है, वैसे ही इस आत्मा में प्राण व्याप्त है तथा यह मनोजन्य संकल्पादि से इस शरीर में आता है॥ ३॥

इन्द्रियों का अधिष्ठाता प्राण है

जैसे राजा ही, 'तुम इन ग्रामों में और तुम इन ग्रामों में निवास करो' इस प्रकार अधिकारियों को नियुक्त करता है, वैसे ही यह मुख्य प्राण भी अन्य इन्द्रियों को इनके स्थानों के अनुसार पृथक् पृथक् नियुक्त करता है॥ ४॥

पंच प्राण की स्थिति

यह प्राण गुदा और मूत्रेन्द्रिय में अपान को (मलमूत्र त्याग के लिये नियुक्त करता है) एवं मुख तथा नासिका से निकलता हुआ चक्षु और श्रोत्र में स्वयं सम्राट् रूप से स्थित रहता है और मध्य में समान रहता है। यह समान वायु ही खाये पीये हुए अन्न जल को शरीर में सर्वत्र समभाव से ले जाता है। उसी जठराग्नि से शिरोवर्ती ये सात ज्वालाएँ उत्पन्न होती हैं॥ ५॥

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ६॥

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्॥ ७॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः॥ ८॥

तेजो ह वाव उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः। पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः॥ ९॥

सूक्ष्म शरीर की स्थिति

यह जीवात्मा हृदयाकाश में स्थित है, इस हृदयदेश में एक सौ एक (प्रधान) नाड़ियाँ है। उनमें से प्रत्येक प्रधान नाड़ी की सौ सौ शाखायें हैं और फिर उन सौ भेदों में से बहत्तर बहत्तर हजार प्रति शाखा नाड़ियाँ हैं। इन सभी नाड़ियों में व्यान वायु विचरता है॥ ६॥

मरणोत्तर प्राण उत्क्रमण का प्रकार

तथा (उन एक सौ एक नाड़ियों में से सुषुम्ना की ऊर्ध्व गामिनी) एक नाड़ी द्वारा ऊपर की ओर जानेवाला उदान वायु (जीवात्मा को) शास्त्रोक्त कर्म से देवादि पुण्यलोक को प्राप्त कराता है और शास्त्र निषिद्ध पाप कर्म से तिर्यगादि पापमय लोक को ले जाता है, एवं पुण्य पाप दोनों प्रकार के मिश्रित कर्मों द्वारा उसे मनुष्य लोक में ले जाता है॥ ७॥

अधिदैवत बाह्य प्राणादि का वर्णन

निश्चय आदित्य ही अधिदैवत बाह्य प्राण है। यह नेत्रस्थ चाक्षुष इस आध्यात्मिक प्राण पर अनुग्रह करता हुआ प्रकाशित होता है। पृथिवी में जो देवता है वह पुरुष के अपान वायु को अपने अधीन करके रहता है। इन दोनों के मध्यवर्ती आकाशस्थ वह समान वायु है एवं इनसे भिन्न व्यापक वायु ही व्यान है॥ ८॥ लोक प्रसिद्ध सूर्य तेज ही उदान है। अतः जिसकी शारीरिक ऊष्मा शान्त हो जाती है वह मन में विलीन हुई वागादि इन्द्रियों के सहित (देहान्तर को प्राप्त होती है)॥ ९॥

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः। सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति॥ १०॥

य एवं विद्वान्प्राणं वेद। न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः॥ ११॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा। अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति॥ १२॥ इति तृतीयः प्रश्नः ॥ (३)॥

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छः। भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति॥ १॥

मरणकालिक संकल्पका परिणाम

जिसका जैसा चित्तसंकल्प करता है उस संकल्प के सहित यह जीव मुख्य प्राण वृत्ति को प्राप्त होता है तथा वह प्राण उदान वृत्तिरूप तेज से संयुक्त हो भोक्ता जीव के सहित संकल्पानुरूप लोक को प्राप्त कराता है॥ १०॥ जो विद्वान् पुरुष पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त प्राण को इस प्रकार जानता है, उसकी पुत्र पौत्रादि प्रजा नष्ट नहीं होती और (सायुज्य को प्राप्त हो जाने के कारण) वह अमर हो जाता है। इस विषय में यह मन्त्र है॥ ११॥

प्राण की (परमात्मा से) उत्पत्ति (मनः संकल्प से इस शरीर में) आगमन (पायूपस्थादि में) स्थान, पंचवृत्ति भेद के कारण व्यापकता एवं आदित्यादि बाह्य तथा चक्षुरादि आध्यात्मिक रूप से प्राण के भेद को जानकर साधक अमरत्व को प्राप्त कर लेता है, ऐसा जानकर अमरत्व को प्राप्त करता है॥ १२॥

॥ इति तृतीयः प्रश्नः॥

अथ चतुर्थः प्रश्नः

सुषुप्ति में सोने वाला और जागने वाला कौन?

उसके बाद इन पिप्पलाद महर्षि से सूर्य के पौत्र सौर्यायणी गार्ग्य ने पूछा। 'हे भगवन्! इस (सिर और हाथ पैर वाले) पुरुष में कौन इन्द्रियाँ सोती हैं? कौन इसमें जागती हैं? (जाग्रत् और स्वप्न के व्यापार समाप्त हो जाने पर) किसे यह सुख होता है? और किसमें ये सभी इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित होती हैं?' ॥ १॥

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्यं मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयन्तः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते॥ २॥

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः॥ ३॥

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति॥ ४॥

आत्मा ही इन्द्रियों का लय स्थान है

आचार्य ने उस प्रश्न कर्ता से कहा, 'हे गार्ग्य! जैसे सूर्य के अस्त हो जाने पर सम्पूर्ण किरणें उस तेजोमण्डल सूर्य में ही एकत्रित हो जाती हैं तथा उसी सूर्य के पुनः उदय होने पर वे रश्मियाँ उससे निकलकर फिर सर्वत्र फैल जाती हैं, उसी प्रकार वे इन्द्रियाँ और विषय, मनरूप परमदेव में अभिन्न हो जाते हैं। अतः उस निद्रा काल में वह (देवदत्तादि रूप पुरुष) न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न रस लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न पकड़ता है, न आनन्द भोगता है, न त्यागता है और न चेष्टा करता है। इसीलिये लौकिक पुरुष उसे 'सोता है'—ऐसा कहते हैं'॥ २॥

स्वाप काल में जागने वाले प्राणादि गार्हपत्यादि अग्निरूप हैं

इस (नौ द्वार वाले शरीर रूप) पुर में पंच वृत्ति वाले प्राणाग्नि ही जागते हैं। निश्चय यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है। व्यान (हृदय कमल के दक्षिण छिद्र द्वारा निकलने के कारण एवं दक्षिणदिशा से सम्बन्ध के कारण) दक्षिणाग्नि है और जो गार्हपत्य से ले जाया जाता है वह प्राण ही प्रणयन के कारण आवहनीय नामक अग्नि है॥ ३॥

प्राणाग्नि के ऋत्विक्

क्योंकि उच्छ्वास और निःश्वास—ये अग्निहोत्र की आहुतियों के समान है (देह रक्षा के लिये) इन्हें जो समभाव से सर्वदा चलाता है वह समान ऋत्विक् है। निश्चय ही मन यजमान है और उदान वायु ही इष्टफल है। वह उदान वायु इस मन नामक यजमान को (स्वप्न व्यापार से भी गिरा कर) नित्य प्रति सुषुप्ति में ब्रह्म के पास ले जाता है॥ ४॥

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुश्रृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति॥ ५॥

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्छरीरे एतत्सुखं भवति ॥ ६॥

स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्षं संप्रतिष्ठन्ते। एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते॥ ७॥

स्वप्न द्रष्टा की महिमा

इस (श्रोत्रादि—इन्द्रियों के उपरतरूप स्वप्न) अवस्था में यह देव अपनी महिमा का अनुभव करता है। इसने जाग्रद् अवस्था में जिसे देखा है उसी दृष्ट वस्तु को स्वप्न में पुनः देखता है। प्रत्येक सुनी हुई बातों को फिर सुनता है और दिशा तथा विदिशा में अनुभूत वस्तु को ही पुनः पुनः अनुभव करता है। (विशेष क्या कहें) इस जन्म में देखे और न देखे, सुने और जन्मान्तर में सुने, वैसे ही अनुभूत और अननुभूत पृथिव्यादि सत् और मृगजलादि असत् सभी प्रकार की वस्तु को देखता है और वह सर्वरूप से मनोदेव स्वप्न को देखता है॥ ५॥

सुषुप्ति का वर्णन

जब वह मनोदेव (नाड़ी में रहने वाले पित्तनामक सौर) तेज से सर्वथा अभिभूत हो जाता है, तब यह आत्मदेव स्वप्न नहीं देखता (क्योंकि उन्हें देखने का द्वार तेज से अवरुद्ध हो चुका है) उसके बाद इस शरीर में (साक्षी चैतन्य से) यह सुख जाना जाता है॥ ६॥ हे सौम्य! जैसे पक्षी अपने बसेरे वृक्ष की ओर जाते हैं वैसे ही वह सब परमात्मा में स्थित हो जाता है ॥ ७॥

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहंकर्तव्य च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च॥ ८॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते॥ ९॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः ॥ १०॥

शब्दादि पाँच गुणों से युक्त पृथिवी और उसकी गंध तन्मात्रा, जल और रस तन्मात्रा, तेज और रूप तन्मात्रा, वायु और स्पर्श तन्मात्रा, आकाश ओर शब्द तन्मात्रा, नेत्र और द्रष्टव्य रूप विषय, श्रोत्र और उसका श्रोतव्य विषय, घ्राण और घ्रातव्य विषय गन्ध, त्वगिन्द्रिय और स्पर्श योग्य पदार्थ, हाथ और ग्रहण-तद्ग्राह्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दयितव्य वस्तु, पायु और विसर्ग जनित मल, पाद और गन्तव्य स्थान, मन और मनन योग्य वस्तु, बुद्धि और बोधयितव्य पदार्थ, अहंकार और अहंकार रूप विषय, चित्त और चेतनीय पदार्थ, तेज और प्रकाश्य पदार्थ, (प्रकाशक और प्रकाश के योग्य वस्तु) प्राण और उसके धारण करने योग्य वस्तु, (ये सभी आत्मा में विलीन हो जाते हैं)॥ ८॥

सुषुप्ति में जीव परमात्मा को प्राप्त कर लेता है

यही देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, सूँघने वाला, चखने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला और कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष है। वह (सुषुप्ति के समय जगत् के आधारभूत) पर अक्षर आत्मा में सम्यक्रूप से स्थित हो जाता है॥ ९॥ हे सौम्य! (सम्पूर्ण एषणाओं से छूटा हुआ अधिकारी पुरुष) इस तमोहीन, लोहितादि सम्पूर्ण गुणों से रहित, शुभ्र अक्षर को जो जानता है वह सर्वज्ञ हो जाता है और सर्वरूप हो जाता है, अर्थात् सर्वाधिष्ठान चैतन्य ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। इस विषय में यह श्लोक (मन्त्र) है॥ १०॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र। तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति॥ ११॥ इति चतुर्थः प्रश्नः॥ (४)॥

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वैतद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति॥ १॥

तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति॥ २॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति॥ ३॥

अक्षर ब्रह्म के ज्ञान का फल

हे सौम्य! जिस अक्षर में अग्नि आदि समस्त देवों के सहित विज्ञानात्मा, प्राण और पृथिव्यादि भूत सम्यक् प्रकार से प्रतिष्ठित होते हैं, उसे जो जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सभी में प्रविष्ट हो जाता है॥ ११॥॥ इति चतुर्थः प्रश्नः॥

अथ पञ्चमः प्रश्नः

ओंकार उपासक किस लोक को प्राप्त करता है?

तदनन्तर इन पिप्पलाद मुनि से शिवि के पुत्र सत्यकाम ने पूछा। हे भगवन्! मनुष्यों में जो (कोई विरला) पुरुष मरणपर्यन्त ओंकार का चिन्तन करे वह किस लोक को जीतता है?॥ १॥

ओंकार उपासना से पर और अपर ब्रह्म की प्राप्ति

उस सत्यकाम से पिप्पलाद ने कहा, हे सत्यकाम! यह जो ओंकार है वह निश्चय पर (सत्य अक्षर) ब्रह्म अथवा हिरण्यगर्भ रूप अपर ब्रह्म है। अतः विद्वान् उपासक (ओंकार में ब्रह्मचिन्तन रूप) इसी उपाय से पर और अपर ब्रह्म में से किसी एक को प्राप्त कर लेता है॥ २॥

एकमात्रा विशिष्ट ओंकार उपासना का फल

यदि वह एक मात्रा-विशिष्ट ओंकार का चिन्तन करता है, तो उससे बोध प्राप्त कर शीघ्र ही पृथिवी लोक में प्राप्त हो जाता है। उसे ऋचाएँ (तदभिमानी देव) मनुष्य लोक को ले जाती हैं। वहाँ पर वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से सम्पन्न होकर अपनी महिमा (मानवानन्द) का अनुभव करता है॥ ३॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते॥ ४॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघ-नात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः॥ ५॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥ ६॥

द्विमात्राविशिष्ट ओंकार उपासना का फल

और यदि वह (अ, उ, इन) दो मात्राओं से विशिष्ट ओंकार का चिन्तन करता है, तो उस चिन्तन द्वारा मन के साथ एकत्व को प्राप्त करता है, उस समय यजुर्वेद की श्रुतियों (के अभिमानीदेव) द्वारा वह अन्तरिक्ष में स्थित सोमलोक को ले जाया जाता है अर्थात् उक्त श्रुतियाँ सोमलोक सम्बन्धी जन्म प्राप्त करा देती हैं। तत्पश्चात् सोमलोक में विभूति का अनुभव कर वह पुरुष फिर मनुष्यलोक में लौट आता है॥ ४॥

त्रिमात्रा विशिष्ट ओंकार उपासना का फल

परन्तु जो पुरुष त्रिमात्रा 'ॐ' इस अक्षरात्मक प्रतीक रूप से परम पुरुष की उपासना करता है वह (तृतीय मात्रा रूप होकर) तेजोमय सूर्य लोक में स्थित हो जाता है। जैसे सर्प केंचुली से छूट जाता है, वैसे ही वह उपासक निश्चय ही सम्पूर्ण पाप से मुक्त हो जाता है, फिर तो वह साम श्रुतियों के अभिमानीदेव द्वारा ऊपर की ओर ब्रह्मलोक में ले जाया जाता है। इस जीवन से उत्कृष्ट, हृदय में स्थित परम पुरुष का दर्शन करता है तदनन्तर विदेहकैवल्य को प्राप्त कर लेता है। इसी विषय में ये दो श्लोक हैं॥ ५॥

ओंकार की तीन मात्राओं का वैशिष्ट्य

अकार, उकार और मकार—ये तीनों मात्राएँ भिन्न-भिन्न रहने पर मृत्यु से युक्त हैं। वे मात्राएँ ध्यान की क्रियाओं में प्रयुक्त होती हैं और वे परस्पर सम्बद्ध हैं तथा (विपरीत प्रयोग न किये जाने के कारण ये) अनविप्रयुक्त हैं। इस प्रकार बाह्य जाग्रत् रूप, आभ्यन्तर सुषुप्ति रूप और मध्यम स्वप्न रूप क्रियाओं में ओंकार के उक्त तीन मात्राओं का सम्यक् प्रयोग किये जाने पर विद्वान् पुरुष फिर अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता। इस मन्त्र में परब्रह्म और ओङ्कार को अभिन्न मानकर उपासना कही है॥ ६॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥ ७॥ इति पञ्चमः प्रश्नः॥ (५)॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद। यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति॥ १॥

ऋगादि वेद तथा ओंकार से प्राप्त होने वाले लोक का वर्णन

साधक ऋग्वेद द्वारा इस मनुष्य उपलक्षित लोक को, यजुर्वेद द्वारा सोम से अधिष्ठित अन्तरिक्ष लोक को और सामवेद द्वारा उस तृतीय ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, जिसे विद्वान् लोग ही जानते हैं तथा उस ओंकार रूप आलम्बन के द्वारा ही विद्वान् उस लोक को प्राप्त होता है। जो स्थूल सूक्ष्म प्रपंच से रहित, अजर, अमर, अभय, एवं सबसे परे है। मन्त्र में इति शब्द प्रश्न समाप्ति का द्योतक है।॥७॥

॥ इति पंचमः प्रश्नः॥

अथ षष्ठः प्रश्नः
सोलह कला वाला पुरुष कौन है?

उसके बाद उन पिप्पलाद मुनि से भरद्वाज के पुत्र सुकेशा ने पूछा, हे भगवन्! कौशल देश के राजकुमार हिरण्यनाभ ने मेरे पास आकर इस प्रश्न को पूछा था कि हे भारद्वाज! क्या तुम सोलह कला वाले पुरुष को जानते हो? मैंने उस राजकुमार से कहा—मैं इसे नहीं जानता हूँ। यदि मैं इसे जानता होता तो भला सर्वगुण सम्पन्न तुझ शिष्य को क्यों नहीं बतलाता। जो पुरुष मिथ्या भाषण करता है वह मूल (शुभकर्म और विद्या) के सहित सर्वथा सूख जाता है। अतः मैं तुझसे छिपाने के लिए मिथ्या भाषण नहीं कर रहा हूँ। इतना सुनने पर वह राजकुमार चुपचाप रथ में बैठ कर चला गया। (तब से मेरे हृदय में वह ज्ञातव्य रूप से काँटे के समान खटक रहा है) अतः अब मैं उसके विषय में आपसे पूछता हूँ कि वह जानने योग्य षोडशकला पुरुष कहाँ रहता है?॥ १॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति॥ २॥

स ईक्षांचक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति॥ ३॥

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्। मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च॥ ४॥

षोडशकला पुरुष शरीर में रहता है

उस सुकेशा से आचार्य पिप्पलाद ने कहा, हे सौम्य! जिस पुरुष में (आगे बताये जाने वाले) इन षोडश कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ है, वह पुरुष इस शरीर के भीतर रहता है। (वह पुरुष कलाहीन होते हुए भी इन उपाधि भूत सोलह कलाओं के कारण कलावान् सा दीखता है। अब विद्या से अविद्या की निवृत्ति करके उसके शुद्ध रूप को दिखलाना है। इसलिए प्राणादि कलाओं का उसी से उत्पन्न होना कहा गया)॥ २॥

ईक्षण पूर्वक जगत् की सृष्टि

उस षोडश कला पुरुष ने ईक्षण (विचार) किया कि किसी विशेष कर्त्ता के उत्क्रमण करने पर मैं भी शरीर से उत्क्रमण कर जाऊँगा। वैसे ही शरीर में किसके स्थित रहने पर मैं भी स्थित रहूँगा॥ ३॥

सृष्टि का क्रम

उस पुरुष ने सर्व प्रथम समष्टि प्राण की रचना की, पुनः प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, और अन्न को बनाया, एवं अन्न से वीर्य रूप बल, (अन्तःकरण शुद्धि के साधन) तप, तप के साधन ऋगादि मन्त्र, अग्निहोत्रादि कर्म और कर्म के फलस्वरूप लोक को तथा लोकों में प्राणियों के देवदत्तादि नाम को उत्पन्न किया॥ ४॥

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः॥ ५॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति॥ ६॥

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति॥ ७॥

समुद्र के समान सम्पूर्ण जगत् का आश्रय परमात्मा है

जैसे समुद्र की ओर प्रवाहित होने वाली ये नदियाँ समुद्र में पहुँच कर लीन हो जाती हैं अर्थात् उनके नाम रूप नष्ट हो जाते हैं और वे 'समुद्र'—ऐसा कह कर ही पुकारी जाती हैं इसी प्रकार सर्व द्रष्टा की सर्वाधिष्ठान पुरुष में लीन होने वाली ये सोलह कलाएँ उस पुरुष को प्राप्त कर लीन हो जाती हैं। उन कलाओं के नाम रूप नष्ट हो जाते हैं और वे पुरुष ऐसा कह कर पुकारा जाती हैं। ऐसा जानने वाला वह विद्वान् भी कलाहीन और अमर हो जाता है। इसी सम्बन्ध में यह अग्रिम श्लोक प्रसिद्ध है॥ ५॥

मरण दुःख की निवृत्ति में ब्रह्मज्ञान का उपयोग

जैसे रथ की नाभि में अरे लगे-रहते हैं वैसे ही जिसमें उक्त सब कलाएँ स्थित रही हैं। (अर्थात् उनकी उत्पत्ति स्थिति और लयका एक मात्र आधार वह पुरुष ही है) उस ज्ञातव्य पुरुष को तू जानो। हे शिष्य! जैसे तुम्हें मृत्यु सब ओर से व्यथित न करे, उसका साधन एक मात्र कलाओं के अधिष्ठान तत्त्व का अवबोध ही है॥ ६॥

उपसंहार

उन शिष्यों को (इस प्रकार उपदेश देकर पिप्पलाद मुनि ने) उनसे कहा, उस ज्ञातव्य परब्रह्म को मैं इतना ही जानता हूँ, इससे अधिक अन्य कुछ भी ज्ञातव्य नहीं है॥ ७॥

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥ ८॥ इति षष्ठः प्रश्नः ॥ (६)॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरै-रङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

॥ इति प्रश्नोपनिषत्समाप्ता॥

आचार्य की वन्दना

तब (गुरु से उपदेश पाये हुए) उन शिष्यों ने विद्यादान की अन्य कोई प्रतिक्रया न देखकर उनकी पूजा करते हुए कहा कि आप तो हमारे पिता हैं, जिन्होंने (विद्यारूप नौका के द्वारा) हमें अविद्या और उसके कार्य से पार कर दिया है। अतः आप परमर्षि को हमारा बारंबार नमस्कार है। इस मन्त्र में द्विरुक्ति आदर दिखलाने के लिये है॥ ८॥ ॥ इति षष्ठः प्रश्नः॥

॥ इति प्रश्नोपनिषत्समाप्ता॥

ॐ

मुण्डकोपनिषद्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति न पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

अथ प्रथममुण्डकम्

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥ १॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्। स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥ २॥

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति॥ ३॥

भद्रं कर्णेभिरिति शान्तिपाठः

अथ प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः

आचार्य परम्परा वर्णन

सम्पूर्ण इन्द्रादि देवताओं में (ज्ञान वैराग्यादि के कारण बढ़ा हुआ) ब्रह्मा पहले स्वयं उत्पन्न हुआ। वह विश्व का रचयिता तथा सम्पूर्ण भुवन का पालन करने वाला था। उसने समस्त विद्याओं की आश्रय भूत-ब्रह्मविद्या का उपदेश अथर्वा को किया॥ १॥ जिस विद्या का उपदेश ब्रह्मा ने अथर्वा को किया था उसी ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राचीन काल में अथर्वा ने अंगी नामक मुनि को किया और अंगी ने भरद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुए सत्यवह नामक मुनि से कहा तथा भरद्वाज पुत्र सत्यवह ने शिष्य एवं पुत्र परंपरा से आई हुई उस विद्या को अंगिरा से कहा॥२॥

शौनक का गुरु के पास जाकर प्रश्न करना

शुनक के पुत्र प्रसिद्ध महागृहस्थ शौनक ने भारद्वाज के शिष्य आचार्य अंगिरा के पास विधि पूर्वक जाकर पूछा, 'भगवन्! किस वस्तु के जान लेने पर यह सब कुछ ज्ञातव्य पदार्थ जान लिया जाता है? अर्थात् जिसे जानने के बाद फिर जानना शेष नहीं रह जाता'॥ ३॥

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥ ४॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ ५॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ ६॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्॥ ७॥

अंगिरा का उत्तर

उस शौनक से अंगिरा ने कहा, कि ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है, जानने योग्य विद्याएँ दो ही हैं। एक परा और दूसरी अपरा। परमात्मा विद्या को परा और धर्माधर्म के साधन, उनके फल सम्बन्धी विद्या को अपरा कहते है॥४॥

परा और अपरा विद्या का स्वरूप

उनमें ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये सांग चतुर्वेद अपरा विद्या है और जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है वह परा विद्या है॥ ५॥

परा विद्या का निरूपण

वह जो अदृश्य (इन्द्रियों का अविषय) अग्राह्य (कर्मेन्द्रियों का अविषय) अगोत्र, अवर्ण और चक्षु श्रोत्रादि से रहित है, ऐसे ही पाणिपाद से रहित, नित्य, विभु, सर्वव्यापक अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूतों का कारण है, उसे विवेकी पुरुष सभी ओर देखते हैं॥ ६॥

अक्षर ब्रह्म विश्व का कारण

जैसे लोक प्रसिद्ध मकड़ी (अन्य साधनों के बिना ही अपने शरीर से अभिन्न) तन्तुओं को बनाती है और निगल जाती है। जैसे पृथिवी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं तथा जैसे सजीव पुरुष में (उससे विलक्षण) केश और लोम उत्पन्न होते हैं वैसे ही उस अक्षर से समस्त जगत् उत्पन्न होते हैं॥ ७॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥ ८॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥ ९॥ इति प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः॥ १/१॥

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ १॥

सृष्टि क्रम निरूपण

(पुत्र की उत्पत्ति की इच्छा वाले पिता के समान ज्ञान रूप) तप के द्वारा वह अक्षर ब्रह्म कुछ स्थूल भाव को प्राप्त हो जाता है। तत्पश्चात् उसी ब्रह्म से (सभी प्राणियों के लिये साधारण कारण रूप अव्याकृत) अन्न उत्पन्न होता है। फिर अन्न से हिरण्यगर्भ रूप प्राण, संकल्पादि चतुष्टय व्यापार रूप मन, मन से भूतपंचक, उससे भूरादि लोक, उनमें मनुष्यादि के अनुरूप कर्म और कर्म से अमृत नामक कर्मजन्य फल उत्पन्न होता है॥ ८॥

उपसंहार

सबको सामान्य रूप से जो जानता है, इसलिये सर्वज्ञ और विशेष रूप से जानने के कारण सर्ववित् कहा जाता है और जिसका ज्ञानमय तप है, उस अक्षर ब्रह्म से ही यह हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्म, देवदत्तादिनाम, शुक्लादि रूप और व्रीहि यवादि अन्न उत्पन्न होता है॥ ९॥

॥ इति प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः॥

अथ प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः

कर्म निरूपण

मेधावी (वशिष्ठादि) ऋषियों ने जिन अग्निहोत्रादि कर्मों को ऋग्वेदादि मन्त्रों में देखा था वही यह सत्य है। उन्हीं कर्मों का होत्र, आध्वर्यहोत्र और औद्गात्ररूप त्रेता में अनेक प्रकार से विस्तार हुआ। यथार्थ कर्मफल की कामना से युक्त होकर उनका आचरण करो। लोक में तुम्हारे लिये विहित अग्निहोत्रादि कर्मों के फल की प्राप्ति का यही मार्ग है॥ १॥

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने। तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत्॥ २॥

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च। अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति॥ ३॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वाः॥ ४॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्। तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥ ५॥

अग्निहोत्र का निरूपण

जिस समय (ईंधन द्वारा सम्यक् प्रकार से) अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर उसकी ज्वाला उठने लगे, उस समय (अग्नये स्वाहा तथा सोमाय स्वाहा, इन मन्त्रों से) दिये गये आज्य भागों के मध्य में आहुतियाँ डाले॥ २॥

विधि रहित कर्म का परिणाम

जिस अग्निहोत्री का अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य और (शरदादि ऋतुओं में नवीन अन्न से किये जाने वाले) आग्रयण, इन कर्मों से रहित नित्य अतिथि पूजन से वर्जित, यथासमय किये जाने वाले अग्निहोत्रादि और बलिवैश्वदेव से रहित अथवा अविधिपूर्वक हवन किया जाता है, वह कर्म (केवल परिश्रममात्र फलवाला होने के कारण) उस कर्ता की सात पीढ़ियों या सात लोकों का नाश कर देता है॥ ३॥

अग्नि की सात जिह्वा

काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुचिदेवी, ये उस अग्नि की (आहुतियों के ग्रसने के लिए) लपलपाती हुईं सात जिह्वाएँ हैं॥ ४॥

विधिवत् अग्निहोत्रादि का फल

जो अग्निहोत्री-पुरुष इन दीप्तिमान् अग्नि शिखाओं में यथा समय आहुतियाँ डालता हुआ अग्निहोत्रादि कर्म का आचरण करता है उस यजमान को ये (इसकी दी हुई आहुतियाँ) सूर्य की किरणों में होकर वहाँ ले जाती हैं, जहाँ देवताओं का एकमात्र स्वामी इन्द्र रहता है॥ ५॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥ ६॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥ ७॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः। जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ ८॥

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ९॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥ १०॥

वे दीप्तमती आहुतियाँ आओ, आओ! यह तुम्हारे सुकृत से प्राप्त हुआ पवित्र ब्रह्म लोक है। इस प्रकार प्रिय वाणी से उसकी स्तुति करते हुए यजमान का अर्चन करती हुई उसे सूर्य की रश्मियों द्वारा स्वर्ग ले जाती हैं॥ ६॥

केवल कर्म की निन्दा

ज्ञान रहित होने के कारण जिनमें निकृष्ट कर्म माना गया वे (सोलह ऋत्विक् तथा यजमान और यजमानी ऐसे) अठारह यज्ञ के साधन, अस्थिर एवं नश्वर बतलाये हैं। जो मूढ़ यही मोक्ष का साधन है, ऐसा समझकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, वे पुनः पुनः जरा मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं॥ ७॥

अज्ञानियों की दुर्दशा

अविद्या के मध्य में रहने वाले (बहुधा अविवेकी) अपने आप को सम्मानित और पण्डित मानने वाले वे मूढ पुरुष अन्धे से ले जाए गये अन्धे के समान (जरा रोगादि अनेक अनर्थ जाल से) पीड़ित होते और भटकते रहते हैं॥ ८॥ अनेक प्रकार से अविद्या में ही रहने वाले वे अज्ञानी पुरुष 'हम सब कृतकृत्य हो चुके हैं' इस प्रकार अभिमान किया करते हैं क्योंकि कर्मी लोग कर्मफल सम्बन्धी राग से बुद्धि के प्रतिहत हो जाने के कारण तत्त्व को नहीं जान पाते हैं। इसीलिये वे दुःखार्त होकर कर्मफल के नष्ट हो जाने पर स्वर्ग से गिर जाते हैं॥ ९॥ इष्ट (यागादि श्रौत कर्म) और पूर्त (वापी, कूप, तडागादि स्मार्त कर्म) को ही पुरुषार्थ के सर्वोत्तम साधन माननेवाले वे (पुत्र, पौत्रादि में मोहित हुए) महामूढ पुरुष किसी अन्य वस्तु को श्रेय का साधन नहीं समझते हैं। अतः वे स्वर्ग के उच्चतम स्थान में अपने कर्मफलों का अनुभव कर (अवशिष्ट कर्मानुसार) इस मनुष्य लोक या इससे निकृष्ट (तिर्यगादि) लोक में प्रवेश करते हैं॥ १०॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ ११॥
परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ १२॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ १३॥ इति प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः॥ १/२॥

॥ इति प्रथममुण्डकं समाप्तम् ॥ १॥

(किन्तु इसके विपरीत) जो शान्त और ज्ञान सम्पन्न वानप्रस्थ तथा संन्यासी लोग वन में रहकर भिक्षा वृत्ति का आचरण करते हुए स्वधर्माचरणरूप तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे पुण्य पाप से विमुक्त होकर उत्तरायण मार्ग से वहाँ जाते हैं, जिस सत्य लोकादि में वह अमृत और अव्यय स्वरूप हिरण्यगर्भादि पुरुष रहता है॥ ११॥

परवैराग्य से युक्त के लिये संन्यास और गुरु उपसदन का विधान

कर्म से प्राप्त हुए सम्पूर्ण लोकों की विवेक द्वारा परीक्षा कर मोक्षाभिलाषी ब्राह्मण वैराग्य को प्राप्त करे, क्योंकि संसार में अनित्य साधन कर्मोपासना से नित्य पदार्थ मोक्ष नहीं मिल सकता है। अतः उस नित्य वस्तु ब्रह्म के साक्षात् ज्ञान प्राप्ति के लिये हाथ में समिधाओं का भार लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जावे॥१२॥

उपदेश की विधि

वह ब्रह्मवेत्ता गुरु अपने समीप आए हुए उस सम्यक् प्रकार से प्रशान्त-चित्त और जितेन्द्रिय शिष्य को उस परविद्या का पूर्ण रूप से उपदेश करे। जिससे कि उस सत्य और अक्षर पुरुष का ज्ञान होता है, (न्यायानुसार उक्त रीति से उपदेश कर सच्छिष्य को अविद्या समुद्र से तार देना आचार्य का कर्तव्य होता है)॥ १३॥

॥ इति प्रथममुंडके द्वितीयः खण्डः॥

अथ द्वितीयमुण्डकम्

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ १॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ २॥

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ ३॥

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायु प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४॥

अथ द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः

अग्नि विस्फुलिङ्ग दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म से जगत् उत्पत्ति का वर्णन

वह यह (परमार्थ स्वरूप अक्षर ब्रह्म) परविद्या का विषय यथार्थ है। जिस प्रकार अच्छी प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसी के समान रूप वाली हजारों चिनगारियाँ निकलती हैं। हे प्रिय दर्शन! उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से अनेक देहादि रूप पदार्थ प्रकट होते हैं और पुनः उसी में लीन भी हो जाते हैं॥ १॥

ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप

(वह अक्षर ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने के कारण) निश्चय ही दिव्य, आकार रहित, पुरुष, बाहर-भीतर-सर्वत्र-वर्तमान, अजन्मा, प्राणरहित, मनोरहित, परिशुद्ध एवं (माया कार्य की अपेक्षा) श्रेष्ठ अक्षर (अव्याकृत प्रकृति) से भी उत्कृष्ट है॥२॥

ब्रह्म सबका कारण है

इसी अक्षर ब्रह्म से प्राण उत्पन्न होता है तथा इससे ही मन, सभी इन्द्रियाँ आकाश, वायु, अग्नि, जल और सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है॥ ३॥

ब्रह्म सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा है

अग्नि जिसका मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ श्रोत्र; प्रसिद्ध वेद जिसकी वाणी है, वायु प्राण है, समस्त जगत् जिसका हृदय है और जिसके चरणों से पृथिवी प्रकट हुई है। वही देव सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा है॥ ४॥

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः ॥ ५॥
तस्मादृचः साम यजूꣳषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥ ६॥
तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्या पशवो वयाꣳसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७॥
सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः। सप्त
इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥ ८॥

अक्षर ब्रह्म से चराचर की उत्पत्ति

उस ब्रह्म से (प्रजापति के अवस्था विशेष रूप से) अग्नि उत्पन्न हुई, जिसका समिधा सूर्य है, (क्योंकि सूर्यलोक से ही द्युलोक रूप अग्नि प्रदीप्त होती है। पुनः) सोम से मेघ और उससे पृथिवी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। (उन औषधियों से उत्पन्न हुए) वीर्य को पुरुष योषित् रूप अग्नि में सींचता है। इस प्रकार ब्राह्मणादि रूप बहुत सी प्रजा परम पुरुष से उत्पन्न हुई है॥ ५॥

साधन सहित कर्म भी परमात्मा से उत्पन्न हुआ

उस पुरुष से ही (नियत पाद अक्षर वाली) ऋचाएँ (पाञ्चभक्तिक आदि गान विशिष्ट रूप) साम मन्त्र, (अनियत पाद अक्षर वाले) यजुर्मन्त्र, मौञ्जी बन्धनादि दीक्षा, अग्निहोत्रादि यज्ञ, दक्षिणा, सम्वत्सर (सम्वत्सर रूप कर्माङ्गकाल) यज्ञकर्ता यजमान, लोक, जिन लोकों में चन्द्रमा जहाँ तक पवित्र करता है तथा सूर्य तपता है, वे सभी उत्पन्न होते हैं॥ ६॥ उस पुरुष से ही (कर्म के अङ्गभूत) बहुत से वसु आदि देवता उत्पन्न हुए हैं तथा साध्यगण, कर्माधिकारी मनुष्य, पशु, पक्षी, श्वास, उच्छ्वास, व्रीहि, यवादि हविष्यान्न, तप (सम्पूर्ण पुरुषार्थ के साधनों का एक मात्र कारण), आस्तिक्य बुद्धिरूप श्रद्धा, हितमित भाषण, अष्ट मैथुनों का त्याग रूप ब्रह्मचर्य और विधि (ये सभी उस पुरुष से ही उत्पन्न हुए हैं)॥ ७॥

उस पुरुष से ही (दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो घ्राण और एक मुख—ये मस्तकस्थ) सात प्राण उत्पन्न होते हैं। उसी से (अपने अपने विषयों को प्रकाशित करने वाली) उनकी सात दीप्तियाँ, सात विषय रूप समिधा, सात विषय विज्ञान रूप होम और जिन गोलकों में ये प्राण संचार करते हैं वे सात स्थान प्रकट हुए हैं। इस प्रकार प्रतिदेह में स्थापित ये सात सात पदार्थ (उस पुरुष से ही उत्पन्न हुए हैं, ऐसा आत्मयाजी पुरुष को जानना चाहिये)॥८॥

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः। अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥ ९॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य॥ १०॥ इति द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः॥ २/१॥

आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥ १॥

इस पुरुष से ही क्षारादि सात समुद्र और हिमालयादि समस्त पर्वत उत्पन्न हुए हैं। गंगा आदि अनेक रूपों वाली नदियाँ इसी से प्रवाहित होती हैं। इसी से व्रीहि यवादि सम्पूर्ण औषधियाँ तथा मधुरादि षड्विध रस उत्पन्न हो रहे हैं। जिस रस से भूतों से परिवेष्टित हुआ यह अन्तरात्मा स्थित होता है॥ ९॥ यह सारा जगत् अग्निहोत्रादि रूप कर्म और ज्ञानरूप तप पुरुष स्वरूप ही है। यह सब पर अमृत स्वरूप ब्रह्म ही है। उसे जो सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित जानता है, हे प्रियदर्शन! वह इस विज्ञान के द्वारा इस लोक में जीते जी अविद्या ग्रन्थि का छेदन कर डालता है॥ १०॥

॥ इति द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः॥

अथ द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः

ब्रह्म का स्वरूप निर्देश पूर्वक जानने के लिये आदेश

यह प्रकाशमान् ब्रह्म सबके हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित है। वह श्रवणादि द्वारा बुद्धिरूपी गुफा में उपलब्ध होने के कारण गुहाचर नाम वाला और सबसे बड़ा होने के कारण महत् पद है। इसी में चलने फिरने वाले पक्षी आदि, प्राणन करने वाले मनुष्यादि एवं निमेष उन्मेष आदि क्रिया वाले ये सभी जीव समर्पित हैं। तुम इसे सदसत् स्वरूप सबका प्रार्थनीय, प्रजाओं के विज्ञान से परे और सभी श्रेष्ठ पदार्थों में भी श्रेष्ठ जानो॥ १॥

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः। तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि॥ २॥

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्दधीत। आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥ ३॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ ४॥

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥ ५॥

ब्रह्म में मनो निवेश का विधान

सूर्यादि के प्रकाशक होने से जो दीप्तिमान् और सूक्ष्मातिसूक्ष्म है तथा जिसमें सम्पूर्ण लोक और उनके निवासी मनुष्यादि स्थित हैं, वही यह सबका आश्रय भूत अक्षर ब्रह्म है। वही प्राण है, तथा वही वाणी और मन है, वही यह सदा एक रस रहने से सत्य और अमृत है। हे सौम्य! उसे समाहित मन से वेधना चाहिये। अतः तू उसका वेधन कर॥ २॥

ब्रह्म वेधन की विधि

हे सौम्य! उपनिषद् वेध, महान्-अस्त्र रूप शरासन को लेकर उसपर उपासना से तीक्ष्ण किये हुए मनरूपी बाण को चढ़ावो और फिर इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण को विषयों के तरफ से लौटाकर ब्रह्मभावानुगत चित्त से अपने लक्ष्य उसी अक्षर ब्रह्म का वेधन करो॥ ३॥

लक्ष्य वेधन के साधन

ओंकार धनुष है, सोपाधिक आत्मा बाण है, और अक्षर ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा गया है, बड़ी सावधानी से उस लक्ष्य का वेधन करना चाहिये और (वेधन करने के अनन्तर) बाण के समान ही लक्ष्य के साथ तन्मय हो जाना चाहिये ॥ ४॥ हे शिष्यगण! जिस अक्षर पुरुष में द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण इन्द्रियों के सहित मन समर्पित है; उसी अद्वितीय आत्मा को जानो और अन्य बातों को छोड़ दो, क्योंकि, यही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन है॥ ५॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः। स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥ ६॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥ ७॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ ८॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥ ९॥

ॐकाररूप से ब्रह्म चिन्तन की विधि

जिस प्रकार रथ चक्र की नाभि में अरे सम्मिलित रहते हैं, वैसे ही शरीर में सर्वत्र व्याप्त सम्पूर्ण नाड़ियाँ जिसमें एकत्रित हैं, उस हृदय के भीतर दर्शन श्रवणादि जन्य अनेक बुद्धिवृत्तियाँ संचार करती हैं। उन बुद्धिवृत्तियों का साक्षी-भूतआत्मा का 'ॐ' इस प्रकार ध्यान करो। अज्ञान के उस पार जाने से तुम्हारा कल्याण हो, अर्थात् कल्याण प्राप्ति में किसी प्रकार के विघ्न बाधा न हो॥ ६॥

अपर ब्रह्म का स्वरूप तथा चिन्तनप्रकार

जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है और जिसकी यह प्रसिद्ध विभूति भूलोक में स्थित है वह यह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर हृदयाकाश में विद्यमान है। वह मनोमय तथा प्राण और सूक्ष्म शरीर को एक स्थूल देह से दूसरे स्थूल देह में ले जाने वाला पुरुष हृदय में रहकर अन्नमय शरीर में स्थित है। उसका अनुभव हो जाने पर ही तत्त्वज्ञानी पुरुष उस तत्त्व का सम्यक् साक्षात्कार कर लेते हैं। जो कि सम्पूर्ण अनर्थ दुःखादि से रहित आनन्द-स्वरूप अमृत ब्रह्मतत्त्व प्रकाशित हो रहा है॥ ७॥

ब्रह्म साक्षात्कार का फल

(जो कारण रूप से पर और कार्य रूप से अपर है) उस परापर ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर इस जीव की आत्मानात्माध्यास रूप हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है। ज्ञेय पदार्थ विषयक सम्पूर्ण सन्देह नष्ट हो जाते हैं और इसके (प्रारब्ध से भिन्न) सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं॥ ८॥

स्वयं प्रकाश ब्रह्म

बुद्धि वृत्ति के प्रकाशमय हिरण्मय परमकोश में वह विशुद्ध कलारहित ब्रह्मतत्त्व विद्यमान है। वह सम्पूर्ण ज्योतियों की विशुद्ध ज्योति स्वरूप है और वह यही तत्त्व है, जिसका आत्मज्ञानी पुरुष हृदय में साक्षात्कार करते हैं॥ ९॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १०॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ ११॥ इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥ २/२॥

॥ इति द्वितीयमुण्डकं समाप्तम्॥

अथ तृतीयमुण्डकम्

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ १॥

सबका प्रकाशक ब्रह्म

वहाँ आत्म स्वरूप ब्रह्म में सबको प्रकाशित करने वाला यह सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता है और न चन्द्रमा तथा तारे भी वहाँ पर प्रकाशित नहीं होते हैं। वहाँ यह बिजली भी नहीं चमकती, फिर भला यह अग्नि उसे कैसे प्रकाशित कर सकती है। उसके प्रकाशित होने पर ही ये सभी प्रकाशित होते हैं। विशेष क्या? ये सब कुछ उसी प्रकाश से भासित हो रहा है॥ १०॥

सर्वव्यापक ब्रह्म

यह अमृत स्वरूप ब्रह्म ही सबके आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, दाएँ और बाएँ ओर भी वही है, तथा ब्रह्म ही नीचे-ऊपर सभी ओर फैला हुआ है। अधिक क्या कहें? यह सम्पूर्ण विश्व सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म स्वरूप ही तो है (उसी में रज्जु-सर्प की भाँति यह संसार भास रहा है)॥ ११॥

॥ इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयखण्डः॥

अथ तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः

एक वृक्ष पर दो पक्षी

जो सर्वदा साथ रहने वाले और समान आख्यान वाले दो पक्षी हैं। ये दोनों एक ही शरीर रूप वृक्ष के आश्रित हैं। उनमें एक तो क्षेत्रज्ञ जीव अपने कर्म से प्राप्त होने वाले स्वादिष्ट सुख दुःख रूप फल का उपभोग करता है और दूसरा (नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव परमात्मा) कर्म फल का भोग न करता हुआ केवल देखता रहता है॥ १॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ २॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥ ३॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ ५॥

परमेश्वर का दर्शन ही जीव का शोक नाशक है

(ईश्वर के साथ) एक ही शरीर वृक्ष पर रहने वाला जीव अपने अनीशत्व स्वभाव के कारण अपने को असमर्थ मानता हुआ मोह के वशीभूत होकर शोक करता है। पर वह जिस समय अपने से विलक्षण, योगियों से सेवित परमेश्वर और उसकी संसार महिमा को देखता है, उस समय वह शोक से मुक्त हो जाता है॥ १२॥ जब तत्त्व द्रष्टा (चेतन) स्वयं प्रकाश यह सुवर्ण के समान प्रकाशमान् सुवर्ण वर्ण और ब्रह्मा के भी उत्पत्ति स्थान उस जगन्निर्माता परमेश्वर पुरुष को देखता है, उस समय वह विद्वान् पाप पुण्य दोनों को त्याग कर विशुद्ध हो अत्यन्त समानता को प्राप्त हो जाता है॥ ३॥

ब्रह्मज्ञानी सर्वोत्तम है

यह जो प्राणों का प्राण परमेश्वर है वह सम्पूर्ण भूतों के रूप में विद्यमान है। इसे साक्षात्कार करके तत्त्वज्ञानी अतिवादी नहीं होता है क्योंकि आत्म ज्ञानी आत्मा से भिन्न वस्तु को देखता ही नहीं। यह आत्मा में ही क्रीड़ा करने वाला और आत्मा में ही रतिवाला, आत्मा में ही रमण करने वाला, क्रियाशील पुरुष ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठतम माना गया है॥ ४॥

आत्मबोध के साधन

यह आत्मा सदा मिथ्या भाषण के त्यागरूप सत्य, मन और इन्द्रियों की एकाग्रतारूपी तप, यथार्थ आत्मदर्शन तथा ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त करने योग्य है। जिस आत्मा को दोष रहित यत्नशील संन्यासी देखते हैं, वह प्रकाशस्वरूप शुद्ध आत्मा शरीर के भीतर (हृदयाकाश में) रहता है॥ ५॥

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ ६॥
बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥ ७॥
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥ ८॥
एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥ ९॥

सत्य की महिमा

सत्यवादी ही विजय को प्राप्त करता है मिथ्या वादी नहीं, सत्य भाषण से देवयान मार्ग विस्तीर्ण होता है, जिस मार्ग के द्वारा पूर्णकाम ऋषिलोग उस पद को प्राप्त करते हैं जहाँ वह सत्य का उत्कृष्ट निधान विद्यमान है॥ ६॥

परमपद का वर्णन

वह प्रकृत ब्रह्म महान् दिव्य और अचिन्त्य रूप है, वह आकाशादि वस्तुओं से भी सूक्ष्मतर भासता है और वह अविवेकियों के लिये दूर से भी दूर तथा विवेकियों के लिये अत्यन्त समीप इसी देह में विद्यमान है। वह चेतन प्राणियों में इस देह के भीतर उनके बुद्धिरूप गुफा में छिपा हुआ विद्वानों को दिखाई देता है॥ ७॥

चित्त शुद्धि ही आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन

(यह आत्मा नीरूप होने के कारण) नेत्र से नहीं देखा जाता, (अवाच्य होने के कारण) न वाणी से और न अन्य इन्द्रियों से, न तप या वैदिक अग्निहोत्रादि कर्म से ही गृहीत होता हैं। किन्तु जब बुद्धि की स्वच्छता से पुरुष विशुद्ध अन्तःकरणवाला होता है तभी वह ध्यान करता हुआ उस निरवयव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है॥ ८॥ यह सूक्ष्म आत्मा (इस शरीर के भीतर ही) चित्त से जानने योग्य है, जिसमें प्राणापानादि भेद से पाँच प्रकार का प्राण प्रविष्ट है। इन्द्रियों के सहित प्राण से प्रजावर्ग के सम्पूर्ण चित्त व्याप्त हैं। (क्योंकि लोक में प्रजा के सभी अन्तःकरण चेतनयुक्त प्रसिद्ध हैं) जिस चित्त के शुद्ध हो जाने पर यह आत्मा अपने विशेष रूप से प्रकाशित होने लग जाता है॥ ९॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥ १० ॥ इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः॥ ३/१ ॥

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्। उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥ १ ॥

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र। पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥ २ ॥

आत्मज्ञानी का ऐश्वर्य और पूजा की विधि

वह विशुद्ध अन्तःकरण वाला आत्मज्ञानी अपने या दूसरे के लिये मन से जिस जिस लोक की भावना करता है और जिन जिन भोगों को चाहता है, वह उस उस पित्रादि लोक को ही और उन्हीं भोगों को प्राप्त करता है। अतः ऐश्वर्यकाम पुरुष आत्मज्ञानी की पूजा करे॥ १० ॥

॥ इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः॥

अथ तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः

ब्रह्मज्ञानी की पूजा का फल

वह आत्मज्ञानी उस परब्रह्म को जानता है जो सम्पूर्ण आधिदैविकादि जगत् का आश्रय है और शुद्ध रूप से प्रकाशित हो रहा है। ऐसे आत्मदर्शी पुरुष की जो निष्काम भाव से उपासना करते हैं, वे धीर पुरुष शरीर के कारण प्रसिद्ध इस शुक्र का अतिक्रमण कर जाते हैं। अर्थात् उन्हें फिर शरीर धारण करने के लिये योनि में जाना नहीं पड़ता, वे मुक्त हो जाते हैं॥ १ ॥

निष्काम की कृतकृत्यता

जो पुरुष (दृष्टादृष्ट) विषयों के गुणों का चिन्तन करता हुआ उनकी इच्छा करता है वह उन कामनाओं के कारण उनकी प्राप्ति के लिये जहाँ तहाँ जन्म लेता है। किन्तु (परमार्थ तत्त्व के विज्ञान से) पूर्ण काम, कृतकृत्य पुरुष की सभी कामनाएँ इसलोक में ही लीन हो जाती हैं॥ २ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥ ३॥

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाऽप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥ ४॥

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥ ५॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥ ६॥

आत्मदर्शन का मुख्य साधन

प्रकृत परमपुरुषार्थ के साधन भूत यह आत्मा वेद शास्त्र के पुष्कल प्रवचन से प्राप्त होने योग्य नहीं है और न ग्रन्थधारण शक्तिरूप मेधा से तथा अधिक शास्त्र श्रवण से ही मिल सकता है, किन्तु यह विद्वान् जिस परमात्मा को प्राप्त करना चाहता है, उस से ही यह आत्मा लभ्य है। यह आत्मा उसके समक्ष अपनी अविद्या से आच्छन्न अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता है॥ ३॥

आत्मदर्शन के कुछ अन्य साधन

यह आत्मा आत्मनिष्ठाजनित शक्ति से हीन पुरुष द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न पुत्रादि में आसक्ति रूप प्रमाद से ही लभ्य है। अथवा न संन्यास रहित तपस्या से ही यह प्राप्तव्य है। किन्तु जो विद्वान् इन उपायों से उस प्राप्ति के योग्य आत्मतत्त्व को जानने का प्रयत्न करता है निश्चय ही उसका यह आत्मा ब्रह्मधाम में सम्यक् रूप से प्रविष्ट हो जाता है॥ ४॥

आत्मज्ञानी के लिये ब्रह्म प्राप्ति सुलभ है

इस आत्मतत्त्व को सम्यक् प्रकार से जानकर आत्मदर्शी ऋषिगण ज्ञान से तृप्त, कृतकृत्य, वीतराग और उपरत इन्द्रिय हो जाते हैं। वे धीर पुरुष उस सर्वव्यापक ब्रह्म को सर्वत्र प्राप्त कर (प्रारब्ध क्षय होने पर मृत्यु काल में समाहितचित्त होकर उपाधि से अपरिच्छिन्न) सर्वरूप ब्रह्म में ही प्रवेश कर जाते हैं (जैसे घट के फूट जाने पर घटाकाश महाकाश में लीन हो जाता है)॥५॥

औपनिषद ज्ञेय वस्तु के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति

वेदान्त के विचार से उत्पन्न विज्ञान के द्वारा जिन्होंने ज्ञातव्य परमात्मा का भली प्रकार से निश्चय कर लिया है, वे (ब्रह्मनिष्ठा स्वरूप) संन्यास योग से युक्त विशुद्धसत्त्व पुरुष ब्रह्मलोक में शरीर त्यागते समय अत्यन्त उत्कृष्ट, अमरणधर्मा ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं और फिर वे सभी ओर से मुक्त हो जाते हैं॥ ६॥

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥ ७॥

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ ८॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ९॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्। क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥ १०॥

विदेह मोक्ष का स्वरूप

(देह के आरम्भक प्राणादि) पन्द्रह कलाएँ अपने-अपने कारण में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों के अधिष्ठाता सभी देवगण अपने प्रति देवता आदित्यादि में लीन हो जाते हैं। उसके संचिदादि कर्म और विज्ञानमय आत्मा ये सभी अविनाशी परमात्म देव में एकता को प्राप्त कर लेते हैं। (मानो घटस्थ जलगत आदित्य प्रतिबिम्ब अम्बरस्थ सूर्य बिम्ब को प्राप्त हो गये हों)॥ ७॥

समुद्र में नदी मिलने के समान जीव को ब्रह्म की प्राप्ति

जैसे गंगा आदि नदियाँ निरन्तर बहती हुई समुद्र में पहुँचने पर अपने नाम रूप का त्याग कर अविशेष भाव को प्राप्त हो जाती हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानी नाम रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है॥ ८॥

ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्मस्वरूप ही होता है

लोक में जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। उस विद्वान् के कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता है। वह इष्ट वियोगजनित संताप को जीवित अवस्था में ही पार कर जाता है। धर्माधर्म रूप पाप को भी पार कर लेता है, एवं आत्मा और अनात्मा के अध्यास रूपी हृदय ग्रंथियों से छूट कर अमर हो जाता है॥ ९॥

विद्या प्रदान विधि

यही बात आगे की ऋचा से कही गयी है। जो क्रियावान्-श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ स्वयं श्रद्धा से युक्त हो एकर्षि नामक अग्नि में हवन करने वाले हैं, तथा जिन्होंने (अथर्ववेदियों का प्रसिद्ध शिर पर अग्नि धारण करना रूप) शिरोव्रत का विधिपूर्वक अनुष्ठान किया है, उन्हीं से यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिये दूसरे से नहीं॥ १०॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥ ११॥ इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः॥ ३/२॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः। भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः। व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

॥ इति मुण्डकोपनिषत्समाप्ता ॥

उपसंहार

उस इस अक्षर पुरुष सत्य को अंगिरा नामक ऋषि ने पूर्वकाल में (विधिपूर्वक अपने समीप आये हुए शौनक जी से) कहा था। जिसने शिरोव्रत का विधिपूर्वक अनुष्ठान नहीं किया वह इस विद्या का अध्ययन नहीं कर सकता है। परमर्षियों को नमस्कार है, परमर्षियों को नमस्कार है (द्विरुक्ति आदरार्थ है) ॥११॥

॥ इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः समाप्तः॥

॥ इति मुण्डकोपनिषत्समाप्ता॥

ॐ

माण्डूक्योपनिषद्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः। भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिः। व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥ १॥

सर्वꣳह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥ २॥

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः॥ ३॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः॥ ४॥

ॐ ही सब कुछ है

"ॐ" ओम् यह अक्षर ही यह सब रूप है, भूत, वर्तमान और भविष्य ऐसे तीन काल में वर्तमान वस्तु तो उसी का स्पष्ट व्याख्यान है। अतः यह सब ओंकार स्वरूप ही है। इसके अतिरिक्त त्रिकालातीत जो अन्य वस्तु है वह भी ओंकार स्वरूप ही है॥ १॥

ॐपद वाच्य ब्रह्म सर्व व्यापक है

(जिन्हें ओंकार मात्र कहा गया है) यह सब ब्रह्म ही है, यह अपरोक्ष आत्मा ही ब्रह्म है, वही यह आत्मा चार पादों वाला है॥२॥

वैश्वानर आत्मा का प्रथम पाद

जिसकी अभिव्यक्ति का स्थान जाग्रद् अवस्था है (बाह्य विषयों का प्रकाशक होने से) जो बहिष्प्रज्ञ है, द्युलोक, सूर्य, वायु, आकाश, रयि, पृथिवी और आहवनीयाग्नि इन, सप्त अङ्गोंवाला, उन्नीस मुखवाला तथा स्थूल विषयों का उपभोक्ता है, वह वैश्वानर आत्मा का पहला पाद है॥ ३॥

आत्मा का द्वितीय पाद तैजस है

जिसका अभिव्यक्ति स्थान स्वप्न है, जो केवल मनरूपी अन्तःप्रज्ञा वाला है, पूर्ववत् सात अङ्गों वाला, उन्नीस मुखवाला और सूक्ष्म विषयों को भोगने वाला है, ऐसा तैजस ही आत्मा का दूसरा पाद है॥ ४॥

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः॥ ५॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ ६॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥ ७॥

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा-अकार उकार मकार इति॥ ८॥

आत्मा का तृतीय पाद प्राज्ञ है

जिस स्थान या काल में सोया हुआ पुरुष न तो किसी विषय भोग की कामना करता है और न किसी स्वप्न को ही देखता है, उसे ही सुषुप्ति कहते हैं। वह सुषुप्ति ही जिसका स्थान है तथा जो एकीभूत हो उत्कृष्ट ज्ञान स्वरूप होता हुआ ही आनन्दमय है और आनन्द का भोक्ता तथा चेतनारूप मुखवाला है, वही प्राज्ञ का तीसरा पाद है॥ ५॥

प्रज्ञात्मा सबका कारण है

यह प्राज्ञ आत्मा सबका शासक ईश्वर है। यह सर्वज्ञ, यही अन्तर्यामी और सम्पूर्ण प्राणियों के उत्पत्ति तथा लय का एक मात्र स्थान होने के कारण (किसी न किसी प्रकार से) वह सबका कारण भी है॥ ६॥

तुरीय आत्मा का स्वरूप वर्णन

स्वरूप से वह आत्मा न अन्तः प्रज्ञ है न बहिष्प्रज्ञ है, न उभयतः प्रज्ञ, न सुषुप्ति के समान प्रज्ञानघन है। न (एक साथ सभी वस्तुओं का प्रकाशक रूप से) प्रज्ञ है और न (उसके विपरीत रूप से) अप्रज्ञ ही है। वह तो अदृश्य है, अतएव अव्यवहार्य है, क़र्मेन्द्रियों से ग्रहण के योग्य न होने से अग्राह्य है। लिङ्ग रहित होने से अनुमान के योग्य नहीं। अतः अचिन्त्य है। इसीलिये शब्दों से अव्यपदेश्य है (जाग्रदादि अवस्थाओं में अव्यभिचारी होने के कारण) एकात्म प्रत्ययसार है। प्रपंच का उपशमरूप, शान्त, शिव और अद्वैत स्वरूप है, ऐसा आत्मा के विषय में तत्त्ववेत्ता मानते हैं। अतः वही आत्मा है और वही विशेष रूप से जानने योग्य है॥ ७॥

लयचिन्तनार्थ आत्मा के पादों और प्रणव के मात्राओं का अभेद

वह यह आत्मा अक्षर के अनुरोध से ओंकार स्वरूप है और वह मात्राओं को आश्रय करके स्थित रहता है। इसीलिये आत्मा के पाद ही ओंकार की मात्राएँ हैं और ओंकार की मात्राएँ ही आत्मा के पाद हैं, अकार, उकार और मकार ये ही प्रणव की मात्रा हैं॥ ८॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद॥ ९॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद॥ १०॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदꣳसर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद॥ ११॥

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद॥ १२॥

॥ इति माण्डूक्योपनिषत्संपूर्णा॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः..........॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

अकार और विश्व का अभेद

जाग्रत् स्थान वाला वैश्वानर व्याप्ति तथा आदिमत्त्व के कारण (प्रणव की) पहली मात्रा अकार स्वरूप है। इस प्रकार जो साधक जानता है वह समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता और (सभी महापुरुषों में) प्रधान हो जाता है॥९॥

अकार और तैजस का अभेद

स्वप्न स्थानवाला तैजस उत्कर्ष तथा मध्यवर्तित्व इन दोनों कारणों से ओंकार की द्वितीय मात्रा उकार स्वरूप है। इस प्रकार जो साधक जान लेता है, वह अपनी ज्ञान संतति का उत्कर्ष करता है और सबके प्रति समान होता है। इसके अतिरिक्त इसके वंश में कोई पुरुष ब्रह्मज्ञान से हीन नहीं होता है॥ १०॥

मकार मात्रा और प्राज्ञ आत्मा का अभेद

सुषुप्ति स्थान वाला प्राज्ञ, मान तथा लय इन दोनों कारणों से ओंकार की तीसरी मात्रा मकार स्वरूप है। जो साधक इस प्रकार जान लेता है, वह इस सम्पूर्ण जगत् को माप लेता है और सबका विलय स्थान हो जाता है॥ ११॥

अमात्र और तुरीय आत्मा का अभेद

मात्रा रहित ओंकार तुरीय आत्मा स्वरूप ही है। वह (मन वाणी के अविषय होने से) अव्यवहार्य प्रपञ्च उपशम शिव और अद्वैत स्वरूप है। इस प्रकार ओंकार आत्मस्वरूप ही है। इसे जो इस रूप में जानता है वह अपने आत्मा में भली प्रकार से प्रवेश कर जाता है॥ १२॥

॥ इति माण्डूक्योपनिषत्समाप्ता ॥

ॐ

तैत्तिरीयोपनिषद्

अथ शीक्षावल्ली

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ १॥ सत्यं वदिष्यामि पञ्च च॥ १॥ इति प्रथमोऽनुवाकः॥ (१)॥

अथ शीक्षावल्ल्यां प्रथमोऽनुवाकः

ॐ शंन्नोमित्र इति शान्तिपाठः

मित्र (प्राण वृत्ति और दिन का अभिमानी सूर्य देव) हमारे लिये सुख रूप हो। (अपानवृत्ति और रात्रि का अभिमानी देव) वरुण (हमारे लिये) सुख प्रद होवे। (नेत्र और सूर्य का अभिमानी) अर्यमा हमारे लिये सुखावह हो। बलाभिमानी इन्द्र तथा वाणी और बुद्धि का अभिमानी बृहस्पति हमारे लिये शान्तिवाहक हो और विस्तृत पाद वाला (पादाभिमानी) विष्णु देवता सुखदायक हो। (समस्त कर्मों का फल वायु के अधीन होने से) ब्रह्म रूप वायु को नमस्कार है। हे वायो! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप हो। अतः मैं तुम्हीं को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। तुम्हीं को ऋत् (शास्त्र एवं स्वकर्तव्यानुसार निश्चित अर्थरूप) कहूँगा और सत्य (शरीर वाणी से सम्पादन किये जाने वाले कार्य रूप सत्य भी मैं तुम्हीं को) कहूँगा। अतः आप (मुझ विद्यार्थी को विद्या प्रदान कर) मेरी रक्षा करो। (वक्तृत्व सामर्थ्य प्रदान कर) ब्रह्म के निरूपण करने वाले आचार्य की भी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो एवं वक्ता की रक्षा करो। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः॥

ॐ शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः॥ १॥ (शीक्षां पञ्च)॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः॥ (२)॥

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः सꣳहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्य-मधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासꣳहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः
शिक्षा के विषय

अब हम शिक्षा की व्याख्या करेंगे। (आकारादि) वर्ण (उदात्त अनुदात्त और स्वरित) स्वर, (ह्रस्व दीर्घ प्लुत) मात्रा, (वर्णोच्चारण में प्राणों का विशेष रूप) बल, (मध्यम वृत्ति से उच्चारण करना रूप) साम तथा सन्तान (संहिता, बस! ये ही इस शिक्षा अध्याय में सीखने योग्य विषय है।) इस प्रकार शिक्षा अध्याय कह दिया गया॥ १॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः
पंचविध संहितोपासना

(संहितादि उपासना के परिविज्ञान के प्राप्त होने वाला) यश हम शिष्य और आचार्य दोनों को साथ साथ प्राप्त हो और (उसके निमित्त से होने वाला) ब्रह्म तेज भी हमें साथ साथ प्राप्त हो। (ग्रन्थ के अध्ययन में अत्यन्त आसक्त बुद्धिवाले पुरुष की सहसा प्रवृत्ति अर्थज्ञान करने में नहीं होती) अतः अब हम पाँच अधिकरणों में संहिता संबन्धिनी उपासना की व्याख्या करेंगे। अधिलोक (लोक विषयक दर्शन), अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म, ये ही पाँच आश्रय हैं। (विद्वान् लोग) इन्हें महासंहिता इस नाम से कहते हैं। अब अधिलोक उपासना का वर्णन किया जाता है, संहिता के पूर्व वर्ण में पृथिवी दृष्टि करनी चाहिये। अंतिम वर्ण द्युलोक है, मध्यभाग आकाश है॥ १॥

वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्। अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धिः। वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम्। अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्॥ २॥

अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या संधिः। प्रवचनꣳसंधानम्। इत्यधिविद्यम्। अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा संधिः। प्रजननꣳसंधानम्। इत्यधिप्रजम्॥ ३॥

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूर्पम्। वाक् संधिः। जिह्वा संधानम्। इत्यध्यात्मम्। इतीमा महासꣳहिताः। य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन॥ ४॥ (संधिराचार्यः पूर्वरूप-मित्यधिप्रजं लोकेन)॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ (३)॥

और वायु उसका परस्पर सम्बन्ध कराने वाला है, (संहिता में ऐसी दृष्टि करने के लिये) यह अधिलोक दर्शन कहा गया। इसके बाद अधिज्यौतिष दर्शन कहा जाता है। यहाँ पर पूर्व वर्ण में अग्नि दृष्टि करनी चाहिये, अंतिम वर्ण द्युलोक है, जल मध्य भाग है और विद्युत् परस्पर सम्बन्ध कराने वाली है। (अधिज्यौतिष उपासक को संहिता में ऐसी दृष्टि करने के लिये) यह अधिज्यौतिष दर्शन कहा गया। इसके बाद अधिविद्य दर्शन कहा जाता है। यहाँ पर संहिता के प्रथम वर्ण में आचार्य दृष्टि करे॥ २॥

अंतिम वर्ण शिष्य है, विद्या दोनों के सम्बन्ध कराने वाली संधि है। (और प्रश्नोत्तर रूप) प्रवचन दोनों का संधान है, (अधिविद्य उपासक को ऐसी दृष्टि करने के लिये) यह विद्या सम्बन्धी दर्शन कह दिया। अब अधिप्रज कहा जाता है। यहाँ पर संधि के पूर्व वर्ण में मातृ दृष्टि करे, अंतिम वर्ण पिता है, संतान संधि है और (ऋतुकाल में भार्याभिगमन रूप) प्रजनन संधान है। (अधिप्रज उपासक को ऐसी दृष्टि करने के लिये) यह संतान सम्बन्धी उपासना बतलायी गयी है॥ ३॥

अध्यात्म दर्शन कहा जाता है

यहाँ पर संधि के प्रथम वर्ण में नीचे के हनु दृष्टि करे, अंतिम वर्ण ऊपर का हनु है। वाणी संधि है और जिह्वा दोनों के सम्बन्ध करानेवाली है। अध्यात्म उपासक को ऐसी दृष्टि करने के लिये यह अध्यात्म दर्शन कहा गया है। इस प्रकार ये महासंहिताएँ कही जाती हैं। जो उपासक इस प्रकार व्याख्या की गयी—इन महासंहिताओं की उपासना करता है, वह प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न तथा स्वर्ग लोक से सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है॥ ४॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः॥

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव! धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय। आवहन्ती वितन्वाना॥ १॥

कुर्वाणाऽचीरमात्मनः। वासाꣳसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा। आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। वि मायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्र मायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा॥ २॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

श्री काम और मेधा काम पुरुषों के लिये जप तथा होम मन्त्र

जो (प्रणव) वेदों में (श्रेष्ठ होने के कारण) ऋषभ और (सम्पूर्ण वाणी में व्याप्त होने के कारण) सर्वरूप है तथा वेद रूप अमृत से प्रधान रूप में प्रादुर्भूत हुआ है, वह (ओंकार संपूर्ण कामनाओं का स्वामी होने से) परमेश्वर मुझे मेधा द्वारा प्रसन्न या सबल करे। हे देव! मैं अमृतत्व (के हेतुभूत ब्रह्मज्ञान) का धारण करने वाला होऊँ तथा मेरा शरीर योग्य हो। मेरी जिह्वा अतिशय मधुर भाषिणी हो। मैं कानों से अधिक मात्रा में श्रवण करूँ। (हे प्रणव! तू ब्रह्म का कोश है), (क्योंकि तुझमें ब्रह्म की उपलब्धि होती है) और तू लौकिक बुद्धि से ढँका हुआ है। (इसीलिये सामान्य बुद्धि वाले पुरुष को तेरे तत्त्व का ज्ञान नहीं होता)। मेरे सुने हुए आत्मविज्ञानादि की रक्षा करो। (ये मन्त्र मेधा कामी पुरुषों के जप के लिये है। अब लक्ष्मी काम पुरुषों को होम करने के लिए मन्त्र बतलाते हैं। बुद्धि प्राप्ति के बाद लक्ष्मी अनर्थकारी नहीं होती है, अतः हे देव!) मेरे लिये लाने वाली विस्तार करने वाली लक्ष्मी वस्त्र गौ अन्नपान को सर्वदा शीघ्र ही लावे। उक्त प्रकार की श्री को ऊन वाले तथा अन्य पशुओं के सहित बुद्धि प्राप्त कराने के बाद मेरे पास लाओ-स्वाहा। ब्रह्मचारी मेरे पास आवें-स्वाहा। ब्रह्मचारी लोग मेरे प्रति निष्कपट भाव हों-स्वाहा। ब्रह्मचारी लोग यथार्थ ज्ञान को धारण करें-स्वाहा। ब्रह्मचारी लोग इन्द्रिय निग्रह करें-स्वाहा। ब्रह्मचारी लोग मनो निग्रह करें-स्वाहा। (स्वाहान्त मन्त्र होम के लिये हैं)॥ २॥

यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे। नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा। यथापः प्रवता यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणः। धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा पाहि प्र मा पद्यस्व॥ ३॥ (वितन्वाना शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। धातरायन्तु सर्वतः स्वाहैकं च)॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः॥ (४)॥

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम्। माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्यादेवताः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः॥ १॥

मैं जनता में यशस्वी होऊँ-स्वाहा। मैं अत्यन्त प्रशंसनीय और धनी पुरुषों में विशेष धनी होऊँ-स्वाहा। हे भगवन्! (ब्रह्म के उपलब्धि स्थान होने से कोशरूप) तुझमें मैं प्रवेश कर जाऊँ-स्वाहा। हे भगवन्! वह तू मुझमें प्रवेश कर-स्वाहा। अर्थात् (हम दोनों अभिन्न हो जावें)। हे भगवन्! उस अनेकों शाखा भेद वाले तुझमें मैं अपने पाप कर्मों का शोधन करता हूँ- स्वाहा। जैसे लोक में जल निम्न देश की ओर जाता है और जैसे महीने संवत्सर में जाते हैं, हे धातः! उसी प्रकार मेरे पास सभी ओर से ब्रह्मचारी आवें-स्वाहा। तू (शरणापन्नों के दुःख निवृत्ति के लिए) आश्रय स्थान है। अतः तुम मेरे प्रति प्रकाशमान होओ। मुझे (पारदयुक्त लोहे के समान) अपने से अभिन्न कर लो ॥ ३॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः

व्याहृति स्वरूप ब्रह्म की उपासना

'भूः भुवः और सुवः' ये प्रसिद्ध तीन व्याहृतियाँ हैं उनमें से ''महः'' इस चतुर्थी व्याहृति को महाचमस का पुत्र जानता था (ऋषि का अनुस्मरण उपासना का एक अङ्ग रूप में किया गया है) ''मह'' ही वह ब्रह्म है, वही आत्मा है, अन्य देवता तो उसके अंग हैं। ''भूः'' यह व्याहृति यह लोक रूप है, ''भुवः'' यह व्याहृति अन्तरिक्ष लोक है और ''सुवः'' यह स्वर्ग लोक है॥१॥

महं इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते। भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीꣳषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूꣳषि॥ २॥

मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते। भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥ ३॥ (असौ लोको यजूꣳषि वेद द्वे च)॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः॥ (५)॥

तथा "महः" आदित्य रूप है, क्योंकि आदित्य से ही सभी लोक वृद्धि को प्राप्त होते हैं। "भूः" यह व्याहृति अग्नि है "भुवः" वायु है, "सुवः" आदित्य है और "महः" चन्द्रमा है, क्योंकि चन्द्रमा से ही ज्योतियाँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं। "भूः" यह ऋग्वेद रूप है, "भुवः" साम है "सुवः" यजुर्वेद ॥ २॥ और "महः" ब्रह्म (ओंकार स्वरूप है) क्योंकि ब्रह्म से ही समस्त वेद वृद्धि को प्राप्त होते हैं। "भूः" यही व्याहृति प्राण है, "भुवः" यह अपान है, "सुवः" यह व्याहृति व्यान है और "महः" यह अन्न रूप है, क्योंकि अन्न से ही सभी प्राण वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ये चारों व्याहृतियाँ चार-चार प्रकार की हैं तथा प्रत्येक व्याहृतियों के उपासना के लिये चार चार भेद बतलाये गये हैं। जो इनकी उपासना करता है उसके लिये सभी देवगण स्वाराज्य प्राप्ति के अनन्तर उपहार लाते हैं॥ ३॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः॥

स य एषोऽन्तर्हृदय: आकाश:। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ॥ १॥

सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत्ततो भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्य! उपास्स्व॥ २॥

(वायावमृतमेकं च)॥ इति षष्ठोऽनुवाकः॥ (६)॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः

ब्रह्म का उपलब्धि स्थान हृदयाकाश है

वह ये जो हृदय के भीतर आकाश है उसी में वह मनोमय, अमृतमय, हिरण्मय पुरुष विद्यमान् है। तालुओं के बीच में जो यह स्तन के समान मांसखण्ड लटकता सा दीखता है और यहाँ केशों का मूल भाग विभक्त होता है उस मूर्ध प्रदेश में शिरस्थ कपाल को भेदकर (सुषुम्ना नाड़ी) निकल गयी है वह परमात्मा का प्राप्तिद्वार है। (इस प्रकार उपासक मरण के समय मूर्धा का भेदन कर) "भूः" इस व्याहृति स्वरूप अग्नि में स्थित हो जाता है। (अर्थात् अग्निरूप होकर इस लोक को व्याप्त कर लेता है) "भुवः" इस व्याहृति के चिन्तन से वायु में स्थित हो जाता है॥ १॥

"सुवः" इस व्याहृति की उपासना से आदित्य में और "महः" इस चतुर्थी व्याहृति की उपासना से अङ्गी ब्रह्म में स्थित हो जाता है। आत्मा स्वरूप से स्थित होने पर वह देवताओं के (आधिपत्य रूप) स्वाराज्य को प्राप्त कर लेता है तथा सर्वात्मक होने के कारण मन के पति ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है तथा वाणी का पति, चक्षु का पति, श्रोत्र का पति और सभी विज्ञानों का भी स्वामी हो जाता है (अर्थात् सर्वात्मक होने से सभी प्राणियों की इन्द्रियों से वह इन्द्रियवान् हो जाता है) इससे भी बड़ा हो जाता है। वह आकाश शरीर वाला, त्रिकालाबाध्य, सत्यस्वरूप, प्राणाराम और सुखकारी मन वाला शान्ति से युक्त तथा अमृतस्वरूप ब्रह्म हो जाता है। हे प्राचीन योग्य! इस प्रकार तू (उस ब्रह्म की) उपासना कर ॥ २॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः॥

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म माꣳसꣳस्नावास्थि मज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदꣳसर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तꣳस्पृणोतीति॥ १॥ (सर्वमेकं च) ॥ इति सप्तमोऽनुवाकः॥ (७)॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः

पाङ्क्त रूप से ब्रह्म की उपासना

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक दिशाएँ और अवान्तर दिशाएँ (ये लोक पाङ्क्त हैं) अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र (ये देवता पाङ्क्त हैं) तथा जल, औषधि, वनस्पति, आकाश और विराडात्मा (ये भूत पाङ्क्त हैं) क्योंकि यह भूतों का अधिकरण है। (उक्त वर्णन के अनुसार मन्त्र में आया हुआ अधिभूत पद, अधिलोक और अधिदैवत इन दो पाङ्क्तों का भी उपलक्षक है।) अब अध्यात्म पाङ्क्त बतलाते हैं। प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान (ये वायु पाङ्क्त हैं) चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी और त्वचा ये इन्द्रिय पांक्त हैं तथा चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि और मज्जा ये धातु पाङ्क्त हैं। ये सभी मिलाकर अध्यात्म पाङ्क्त कहे जाते हैं। इस प्रकार पाङ्क्त उपासना का विधान कर मन्त्रदृष्टा ऋषि या वेदने कहा-यह सब पाङ्क्त ही है! (संख्या में समानता होने के कारण) इस अध्यात्म पाङ्क्त से ही बाह्य पाङ्क्त को एक रूप से उपासक उपलब्ध करता है॥ १॥

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः॥

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳसर्वम्। ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओꣳशोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति॥ १॥ (ॐदश)॥ इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥(८)॥

अथाष्टमोऽनुवाकः

ॐकार उपासना की विधि

"ॐ" यह शब्दरूप ब्रह्म है (ऐसा इसका मनसे ध्यान करे, क्योंकि) ॐ यही सब कुछ है (अर्थात् सभी शब्द ओंकार से व्याप्त हैं)। "ॐ" यह अनुकरण है, (क्योंकि इसी से दूसरे की बात को स्वीकार करते हैं) ऐसा प्रसिद्ध है "ॐ श्रावय" इस प्रकार प्रेरणा पूर्वक याज्ञिक लोग प्रतिश्रवण कराते हैं और "ॐ" ऐसा कह कर साम गान करने वाले साम का गान करते हैं। "ॐशोम्" ऐसा कहकर शास्त्रों का (गति रहित ऋचाओं का शस्त्र शंसन करने वाले) पाठ करते हैं। अध्वर्यु लोग प्रत्येक कर्म के प्रति "ॐ" ऐसा उच्चारण करता है। "ॐ" ऐसा कहकर ब्रह्म प्रेरणा देता है और "ॐ" ऐसा कह कर (यजमान को) अग्निहोत्र के लिये वह आज्ञा देता है। अध्ययन करने वाला ब्राह्मण "ॐ" ऐसा उच्चारण करता हुआ कहता है-मैं वेद या परब्रह्म को प्राप्त करूँ ऐसा कहकर वह ब्रह्म को प्राप्त ही कर लेता है॥ १॥

॥ इत्यष्टमोऽनुवाकः॥

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेतिं नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥ १॥ (प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च षट् च)॥ इति नवमोऽनुवाकः॥ (९)॥

अथ नवमोऽनुवाकः

ऋतादि शुभ कर्मों का विधान

ऋत् (शास्त्र द्वारा बुद्धिस्थ निश्चित अर्थ) तथा शास्त्राध्ययन और अध्यापन या वेदपाठ, (ये सभी अनुष्ठेय हैं) सत्यभाषण स्वाध्याय और प्रवचन, (अनुष्ठान के योग्य है।) स्वधर्माचरण रूप तप को करते हुए स्वाध्याय तथा प्रवचन अवश्य करे। इन्द्रियनिग्रह स्वाध्याय और प्रवचन अवश्य अनुष्ठेय हैं। अग्नियों का आधान, स्वाध्याय तथा प्रवचन (नित्य करने योग्य है), अग्निहोत्र होम स्वाध्याय और प्रवचन (ये नित्य कर्तव्य हैं।) अतिथि सत्कार स्वाध्याय और प्रवचन (इनका नियम से अनुष्ठान करे), विवाहादि लौकिक व्यवहार स्वाध्याय और प्रवचन (इनका भी यथा प्राप्त अनुष्ठान करना चाहिये)। प्रजा की उत्पत्ति, स्वाध्याय तथा प्रवचन (ये सदा कर्तव्य है) ऋतुकाल में भार्यागमन स्वाध्याय और प्रवचन (सदा करता रहे)। पुत्र को स्त्री परिग्रह, स्वाध्याय और प्रवचन (इनका नियम से अनुष्ठान करे)। सत्य ही अनुष्ठेय है ऐसा रथीतर वंश में उत्पन्न सत्यवचा नामक आचार्य मानता है। तप ही कर्तव्य है ऐसा नित्य तपोनिष्ठ या तपोनित्य नाम वाला पुरुशिष्ट का पुत्र आचार्य मानता है। स्वाध्याय और प्रवचन ही अनुष्ठान के योग्य है एसा मुद्गल का पुत्र नाक नाम वाला आचार्य मानता है। अतः ये ही (स्वाध्याय और प्रवचन ही) तप हैं, वे ही तप हैं॥ १॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः॥

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणꣳसवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्॥ १॥ (अहꣳषट्)॥ इति दशमोऽनुवाकः॥ (१०)॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ १॥

अथ दशमोऽनुवाकः

त्रिशंकु का वेदानुवचन

(अन्तर्यामी रूप से) मैं संसार रूप वृक्ष का प्रेरक हूँ। मेरी प्रसिद्धि पर्वतशिखर के समान ऊँची है (ज्ञान प्रकाशित होने योग्य पवित्र परब्रह्म रूप कारण वाला होने से) मैं ऊर्ध्व पवित्र हूँ। अन्नवान् सूर्य के समान मैं भी विशुद्ध अमृतमय हूँ। मैं दीप्तिमान् (आत्मतत्त्वरूप) धन, सुन्दर मेधा वाला, अमरण-धर्मा तथा अव्यय हूँ या अमृत से सिक्त हूँ, यह त्रिशंकु ऋषि का (आत्मैकत्व विज्ञान प्राप्ति के अनन्तर होने वाला) वेदानुवचन है॥ १॥

॥ इति दशमोऽनुवाकः॥

अथैकादशोऽनुवाकः

समावर्तन काल में शिष्य को आचार्य का उपदेश

वेदाध्ययन कराने के बाद आचार्य शिष्य को उपदेश करते हैं—सत्य बोलो, धर्म (अनुष्ठान करने योग्य कर्म सामान्य) का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद न करो, आचार्य के लिए इष्ट धन लाकर (विद्यादान से उऋण होकर और आचार्य की आज्ञा से विवाह करके) संतान परंपरा का छेदन न करो (अर्थात् पुत्रोत्पत्ति के लिए लौकिक प्रयत्न और पुत्रेष्टि यागादि कर्म भी आवश्यकतानुसार करो) सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिये (अर्थात् कभी भूल कर भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिये) धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिये, यानी सदा कर्त्तव्य कर्म का अनुष्ठान करो। आत्मरक्षा में उपयोगी कर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिये। अध्ययन और अध्यापन से प्रमाद नहीं करना चाहिये॥ १॥

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳसुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि॥ २॥

नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्॥ ३॥

ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥ ४॥ (स्वाध्यायप्रचनाभ्यां न प्रमदितव्यं तानि त्वयोपास्यानि स्यात्तेषु वर्तेरन् सप्त च)॥ इत्येकादशोऽनुवाकः॥ (११)॥

देवकार्य और पितृकार्य से प्रमाद न करे, तू मातृ देव हो, तू पितृ देव हो, आचार्य देव हो, अतिथि देव हो, (अर्थात् ये सब देवता के समान उपासना करने योग्य हैं। इनके अतिरिक्त) जो निर्दुष्ट शिष्याचार रूप कर्म हैं, वे ही तेरे लिये कर्तव्य हैं। शिष्ट पुरुषों से आचरित भी निन्दनीय कर्म तेरे लिये कर्तव्य नहीं है। हम आचार्यों के भी जो शास्त्र-सम्मत शुभ चरित्र हैं, उन्हीं की उपासना तुझे करनी चाहिये॥ २॥ उनके विपरीत कर्म (आचार्य से आचरित भी) कर्तव्य नहीं है। जो कोई हमसे (आचार्यत्वादि धर्मों के कारण) श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उन्हें आसनादि के द्वारा श्रमनिवृत्त करना चाहिये। (दान के प्रसंग आने पर श्रद्धा से ही देना चाहिये—अश्रद्धा से नहीं, विभूति के अनुसार देना चाहिये, लज्जापूर्वक देना चाहिये, भय मानते हुए देना चाहिये।) मैत्री आदि कार्य के निमित्त से देना चाहिये। यदि तुझे (किसी समय किसी श्रौत या स्मार्त) कर्म में संदेह हो या आचार रूप व्यवहार के विषय में संदेह होवे॥ ३॥ तो वहाँ पर जो विचारशील, आचार में पूर्णरूप से तत्पर, किसी दूसरे से प्रयुक्त न होने वाले, (स्वेच्छा से कर्मपरायण) सरलबुद्धि एवं धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों उस कर्म या आचार प्रसंग में वे जैसा व्यवहार करें वैसा ही तुम भी करो। वैसे ही जिन पर संशययुक्त दोष लगाया गया हो, उनके प्रति वहाँ जो विचारशील, कर्म में सर्वथा नियुक्त, दूसरों की प्रेरणा के विना ही स्वतः कर्मपरायण, सरल हृदय और धर्मकाम ब्राह्मण हों, वे जैसा व्यवहार करें वैसा तुम भी करो। यह विधि है, यह उपदेश है, यह वेद का रहस्य है, यानी वेदार्थ है और यही ईश्वर का अनुशासन है। ऐसी ही तुझे उपासना करनी चाहिये। इसी प्रकार यह उपासना के लिये है (अर्थात् अनुपास्य नहीं है)॥ ४॥

॥ इत्येकादशोऽनुवाकः॥

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्॥ आवीद्वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ (सत्यमवादिषं पञ्च च) ॥ इति द्वादशोऽनुवाकः ॥(१२)॥

(शं नः शीक्षाꣳसह नौ यश्छन्दसां भूः स यः पृथिव्योमित्यृतं चाहं वेदमनूच्य शं नो द्वादश)॥ १२॥ शं न्नो मह इत्यादित्यो नो इतराणि त्रयोविꣳशतिः॥ २३॥

ॐ शं नो मित्रं शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

॥ इति शीक्षावल्ली ॥ १॥

अथ द्वादशोऽनुवाकः

सूर्य देव हमारे लिये सुखप्रद हो, वरुण देव हमारे लिये सुखद हो, अर्यमा हमारे लिये सुख देने वाला, इन्द्र तथा बृहस्पति हमारे लिये शान्तिप्रद हो, विस्तृत पाद वाला विष्णु हमारे लिये सुखदायक हो। ब्रह्मस्वरूप वायु को नमस्कार है। हे वायो! तुम्हें नमस्कार है, तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, तुझे ही हमने प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है, तुझे ऋत् कहा है और तुझे ही सत्य कहा है, तूने मेरी रक्षा की है और ब्रह्म के प्रवक्ता आचार्य की रक्षा की है, मेरी रक्षा की है और वक्ता की भी रक्षा की है॥ १॥

॥ इति शीक्षावल्ली समाप्ता॥

अथ ब्रह्मानन्दवल्ली

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि-नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति। तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषो-ऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ (१)॥

अथ ब्रह्मानन्दवल्ल्यां प्रथमोऽनुवाकः

(वह ब्रह्म आचार्य और शिष्य) हम दोनों की साथ-साथ रक्षा करे, हम दोनों का साथ-साथ पालन करे, हम साथ-साथ विद्याजन्य सामर्थ्य प्राप्त करें, हम दोनों का अध्ययन किया हुआ तेजस्वी (अर्थज्ञान के योग्य) हो और हम परस्पर विद्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

ब्रह्मवेत्ता को सर्वकाम की प्राप्ति सृष्टिक्रम और अन्नमय कोश

ब्रह्मज्ञानी परतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, इसके विषय में यह श्रुति कही गयी है ब्रह्म (स्वरूप से व्यभिचरित न होने वाला) सत्य, ज्ञान-स्वरूप और देश-काल-वस्तु कृत परिच्छेद से रहित है। जो पुरुष (उस ब्रह्म को) बुद्धिरूप गुफा में निहित जानता है वह सर्वज्ञ ब्रह्मरूप से अभिन्न हुआ सम्पूर्ण भोगों को एक साथ प्राप्त कर लेता है।

उस इस उक्त लक्षण वाले आत्मा से ही (सर्वप्रथम शब्द गुणवाला) आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से (शब्द-स्पर्श दो गुणवाला) वायु उत्पन्न हुआ। वायु से (शब्द, स्पर्श और रूप गुणवाला) जल, जल से (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणवाला) पृथिवी, पृथिवी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न और वीर्यरूप से परिणत हुए अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न और रस का विकार है, उसका यह (प्रसिद्ध शिर) ही शिर है, यह (दक्षिण बाहु) ही दक्षिण पंख है। (बायीं भुजा) वाम पंख है। यह (शरीर का मध्यभाग अंगों का) आत्मा है और यह (नाभि के नीचे का भाग) पुच्छ प्रतिष्ठा है। इसके विषय में ही यह मन्त्र है॥ १॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः॥

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीꣳश्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति। तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः॥ (२)॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

अन्न महिमा और प्राणमय कोश

(रसादिरूप में परिणत हुए) अन्न से ही स्थावर-जंगमरूप प्रजा उत्पन्न होती हैं, जो कोई प्रजा पृथिवी के आश्रित हैं और उत्पत्ति के अनन्तर अन्न से ही जीवित रहते हैं। पुनः जीवनवृत्ति की समाप्ति होने पर अन्न में ही लीन हो जाती हैं, क्योंकि अन्न ही प्राणियों का अग्रज है। इसीलिये सम्पूर्ण (प्राणियों के देह के संताप को शान्त करने वाला) औषध कहलाता है। जो कोई अन्न ब्रह्म की उपासना करते हैं वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्न को प्राप्त करते हैं। अन्न ही प्राणियों में ज्येष्ठ है अन्न से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्न से बढ़ते हैं, अन्न प्राणियों द्वारा खाया जाता है और जो स्वयं भी प्राणियों को खाता है। अतएव वह अन्न कहा जाता है। उस इस पूर्वोक्त अन्नरसमय पिण्ड से पृथक् उसके भीतर रहने वाला शरीर प्राणमय है। उस प्राणमय से ही वह अन्नमय कोश परिपूर्ण है। वह प्राणमय आत्मा भी पुरुषाकार ही है, उस अन्न रसमय की पुरुषाकारता के अनुसार (साँचे में ढली हुई प्रतिमा के समान) यह प्राणमय कोश भी पुरुषाकार है, उस (वायुविकाररूप प्राणमय कोश) का मुख और नासिका से निकलने वाला प्राण ही शिर है। व्यान दक्षिण पक्ष है, अपान उत्तर पक्ष है, आकाश मध्यभाग है और पृथिवी पुच्छ प्रतिष्ठा है उसी प्राणमय कोश के विषय में यह मन्त्र हैं॥ १॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः॥

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूता-नामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मो-पासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग् दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ इति तृतीयोऽनुवाकः॥ (३)॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः

प्राण की महिमा और मनोमय कोश

इन्द्रियाँ प्राण के पीछे प्राणन करती हैं और अग्नि आदि देवगण वायु रूप प्राण के अनुगामी होकर प्राणन क्रिया करते हैं तथा जो भी मनुष्य पशु आदि हैं (वे भी प्राणन क्रिया से ही चेष्टा वाले होते हैं) प्राण ही प्राणियों का जीवन है। इसीलिये वह आयु कहलाता है। जो कोई भी प्राणमय की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं, वे पूर्ण आयु प्राप्त करते हैं। प्राण ही प्राणियों की आयु है। इसलिये वह सर्वायुष कहलाता है (इस प्रकार उपासना के फल की प्राप्ति बतलाने के लिए उक्त बात की पुनरावृत्ति की गयी)। उस पूर्वोक्त अन्नमय कोश का यही देहस्थित प्राणमय आत्मा है। उस इस प्राणमय कोश से पृथक् इसके भीतर रहने वाला शरीर मनोमय है, उस मनोमय से यह प्राणमय कोश परिपूर्ण है। वह यह (संकल्प-विकल्पात्मक मनोमय कोश) भी पुरुषाकार ही है। उस (प्राणमय कोश) की पुरुषाकारता के अनुरूप ही यह मनोमय भी पुरुषाकार है ''यजुः'' (संकेत विशिष्ट मनोवृत्ति) उसका शिर है, ऋग् विषयक मनोवृत्ति दक्षिणपक्ष है, साम विषयक मनोवृत्ति उत्तरपक्ष है। आदेश (ब्राह्मण भाग) आत्मा है तथा अथर्वाङ्गिरस (ऋषि के साक्षात्कार किये मन्त्र और ब्राह्मण ही) पुच्छ प्रतिष्ठा है, (क्योंकि उनमें शान्ति और पुष्टि के कारण रूप कर्मों की प्रधानता है) इस मनोमय आत्मा के विषय में ही यह मन्त्र है॥ १॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः॥

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः॥ (४)॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

मनोमय की महिमा तथा विज्ञानमय कोश

जहाँ से मन के सहित वाणी उसे प्राप्त न कर लौट आती है। उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला पुरुष कभी डरता नहीं। जो मनोमय कोश है, उस अपने प्राणमय कोश का यही आत्मा है। उस इस मनोमय से पृथक् इसके भीतर आत्मा विज्ञानमय कोश है। उस विज्ञानमय से यह मनोमय परिपूर्ण है। वह यह निश्चय रूप विज्ञानमय भी पुरुष के आकार का ही है। उसकी पुरुषाकारता के अनुरूप ही यह विज्ञानमय भी पुरुषाकार है। उसका शिर श्रद्धा ही है, ऋत् दक्षिणपक्ष है, सत्य उत्तरपक्ष है, समाधान ही मध्य भाग है और महतत्त्व पुच्छ प्रतिष्ठा है। उस विज्ञानमय के विषय में ही यह मन्त्र है॥ १॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः॥

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्मांणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः॥ (५)॥

अथ पंचमोऽनुवाकः

विज्ञानमय कोश की महिमा तथा आनन्दमय कोश

विज्ञानवान् (पुरुष ही श्रद्धादि पूर्वक) यज्ञ का विस्तार करता है। इन्द्रादि सभी देवगण (सर्व प्रथम उत्पन्न होने से) ज्येष्ठ विज्ञानस्वरूप ब्रह्म की उपासना करते हैं। विज्ञान ब्रह्म है, इस प्रकार साधक जाने और फिर यदि उससे प्रमाद भी न करे (अर्थात् बाह्य अंनात्म पदार्थों में आत्म बुद्धिरूप प्रमाद न करे) तो अपने (शरीराभिमान के कारण होनेवाले) सम्पूर्ण पापों को त्याग कर वह समस्त भोगों को विज्ञानमय स्वरूप से ही पूर्णतया उपभोग करता है। उस पूर्व कथित मनोमय शरीर का आत्मा यह विज्ञानमय कोश ही है। उस इस विज्ञानमय कोश से भिन्न उसके भीतर रहने वाला आनन्दमय है। उस आनन्दमय के द्वारा यह विज्ञानमय परिपूर्ण है। वह यह आनन्दमय कोश भी पुरुषाकार ही है। विज्ञानमय की पुरुषाकारता के अनुरूप ही यह भी पुरुषाकार है। उस आनन्दमय आत्मा का प्रिय वृत्ति ही शिर है, मोदवृत्ति दक्षिण पंख है, प्रमोदवृत्ति उत्तर पंख है, आनन्द आत्मा और ब्रह्म पुच्छरूप आश्रय है। उसके विषय में यह मन्त्र है ॥ १॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः॥

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती३। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित्समश्नुता३ उ। सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदꣳ सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनु प्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत्। यदिदं किंच। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति॥ इति षष्ठोऽनुवाकः॥ ६॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः

सद् और असद् रूप से ब्रह्म को जानने का फल तथा सम्पूर्ण प्रपंच रूप से ब्रह्म की स्थिति

"ब्रह्म असद् है" ऐसा यदि कोई पुरुष जानता है तो वह स्वयं ही असद् हो जाता है, (क्योंकि असद् पदार्थ पुरुषार्थ से सम्बन्ध नहीं रखता) और "ब्रह्म है" ऐसा यदि जानता है तो उसे ब्रह्मवेत्ता लोग सद्रूप मानते हैं। उस पूर्वोक्त विज्ञानमय का यह जो आनन्दमय है, वह शरीर स्थित आत्मा है (इस प्रकार आचार्य का उपदेश सुनकर शिष्य के) अब ये अनुप्रश्न हैं, (आकाशादि का कारण होने से ब्रह्म विद्वान् और अविद्वान् दोनों ही के लिये समान रूप से प्राप्त है, अतः) क्या कोई अज्ञानी पुरुष भी इस वर्तमान शरीर को त्याग कर उस परमात्मा को प्राप्त कर सकता है या कोई विद्वान् इस वर्तमान देह को छोड़कर उस परमात्मा को प्राप्त होता है या नहीं प्राप्त होता है, (इस प्रकार इन दोनों के ब्रह्म प्राप्ति के विषय में की गयी शंका के समाधान के लिये आचार्य कहते हैं) उस परमेश्वर ने कामना की "मैं बहुत रूप से उत्पन्न होऊँ।" इसलिये उसने विचार रूप तप किया और तप करने के बाद ही यह जो कुछ जगत् है इन सबकी रचना उसने की। इसे रचकर वह परमेश्वर इसी में जीव भाव से प्रविष्ट हो गया। इस शरीर में अनुप्रवेश कर वह अबाधित स्वरूप परमेश्वर पृथिव्यादि मूर्त, आकाशादि अमूर्त, देश काल वस्तु परिच्छिन्न कहने योग्य और ऐसा न कहने योग्य, आश्रय-अनाश्रय, चेतन-अचेतन एवं व्यावहारिक दृष्टि से सत्य तथा असत्य रूप में यह जो कुछ भी है उसे ब्रह्मतत्त्वदर्शी "सत्य" इस नाम से कहते हैं। उसी के विषय में यह मन्त्र है ॥ १ ॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः॥

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानꣳस्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसꣳह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति॥ इति सप्तमोऽनुवाकः॥ (७)॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः

ब्रह्म की सुकृत रूपता, आनन्द रूपता तथा ब्रह्मज्ञानी की अभय प्राप्ति

सृष्टि के पहले यह नाम-रूपात्मक जगत् अव्याकृत ब्रह्मस्वरूप ही था। उसी अव्याकृत ब्रह्म से नाम-रूपात्मक व्याकृत सत् उत्पन्न हुआ। उस ब्रह्म ने स्वयं अपने आपको ही नाम-रूपात्मक जगत् रूप से बनाया। इसीलिये वह सुकृत (स्वयं किया हुआ) कहा जाता है। वह जो भी प्रसिद्ध सुकृत है वह निश्चय रस ही है, क्योंकि मधुरादि रस को प्राप्त कर ही यह पुरुष सुखी होता है। यदि हृदयाकाश में स्थित यह आनन्द स्वरूप परमात्मा न होता तो भला कौन व्यक्ति अपान वायु के द्वारा अपानन और प्राणवृत्ति के द्वारा प्राणन कर सकता (इसीलिये वह ब्रह्म अवश्य है जिससे कि प्राणादि चेष्टाएँ हो रही हैं), क्योंकि यही लोक में धर्मानुसार सुखी करता है। जिस समय यह साधक इसे न देखने योग्य, शरीर रहित, निर्वचन के अयोग्य, निराधार ब्रह्म में अभय स्थिति प्राप्त करता है उस समय निश्चय ही यह अभय को प्राप्त हो जाता है और जिस समय यह ब्रह्म में थोड़ासा भी भेद देखता है, तो—उस भेद दर्शन के कारण ही इसे भय होता है, क्योंकि भेददर्शी अज्ञानी के लिये वह ब्रह्म ही भयरूप हो जाता है। इसी विषय में यह मन्त्र भी है॥ १॥

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः॥

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः॥ १॥

स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामनन्दाः स एक आजानजानां देवानामानन्दः॥ २॥

अथाष्टमोऽनुवाकः

ब्रह्मानन्द की मीमांसा

इस परमेश्वर के भय से वायु चलती है, इसी के भय से सूर्य उदय होता है एवं इसी के भय से अग्नि, इन्द्र तथा पाँचवा मृत्यु दौड़ता है। अब यह ब्रह्मानन्द की मीमांसा की जाती है। साधु स्वभाव वाला, नवयुवक, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन किया हुआ, अत्यन्त आशावान्, अत्यन्त दृढ़ और अत्यन्त बलवान् हो एवं उसी के उपभोग के साधन धन-धान्यादि परिपूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी भी हो (अर्थात् पारलौकिक धर्मादि साधन से और लौकिक भोग से युक्त पृथिवी-पति राजा हो) उसका वह आनन्द एक मनुष्य का आनन्द है। ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हैं॥ १॥ वही कर्म और उपासना द्वारा मनुष्य से गन्धर्व को प्राप्त हुए का एक आनन्द है। (क्योंकि मनुष्य से गन्धर्वत्व को प्राप्त हुए जीव में अन्तर्धानादि होने की शक्ति एवं शीतोष्णादि से प्रतिघात न होने की शक्ति रहती है) वही आनन्द कामना के प्रतिघात से रहित श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। ऐसे ही मनुष्य गन्धर्व के सौ गुना आनन्द है वही जन्मजात देव गन्धर्व का एक आनन्द है। वही कामना प्रतिघात से शून्य श्रोत्रिय को वह देव गन्धर्व का आनन्द भी प्राप्त है। देव गन्धर्वों के जो सौ आनन्द हैं वही चिरस्थायीलोक में रहने वाले पितृगण का एक आनन्द है, अकामहत श्रोत्रिय को वह आनन्द प्राप्त है एवं चिरलोक निवासी पितृगणों के जो सौ आनन्द हैं वही (स्मार्त कर्म के फल स्वरूप) आजानदेव भाव को प्राप्त हुए का एक आनन्द है॥ २॥

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः॥ ३॥

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥ ४॥

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति॥ ५॥ इत्यष्टमोऽनुवाकः॥ (८)॥

और वह अकामहत श्रोत्रिय को प्राप्त है। आजानदेवताओं के जो सौ आनन्द हैं जो कर्म करके देवत्व को प्राप्त होते हैं (ऐसे केवल अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मानुष्ठान से) कर्म देवत्व को प्राप्त हुए का वही एक आनन्द है। वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। कर्मदेव देवताओं के जो सौ आनन्द हैं वही (यज्ञ में हविर्भाग ग्रहण करने वाले) देवताओं का एक आनन्द है और वह कामना से प्रतिहत न होने वाले श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। देवताओं के जो सौ आनन्द हैं वही देवताओं के स्वामी इन्द्र का एक आनन्द है॥ ३॥ और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। इन्द्र के जो सौ आनन्द हैं वही इन्द्र गुरु बृहस्पति का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। बृहस्पति के जो सौ आनन्द हैं। वही प्रजापति का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। प्रजापति के जो सौ आनन्द हैं वही त्रैलोक्य शरीरधारी ब्रह्मा का एक आनन्द है, वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है (निष्पापत्व और श्रोत्रियत्व ये दोनों धर्म सर्वत्र समान होने पर भी अकामहतत्व के प्रकर्ष से आनन्दानुभव में प्रकर्ष आता जाता है। अन्त में आनन्द तथा आनन्दी का अभेद हो जाता है)॥ ४॥ वह जो यह (पंचकोशात्मक देह रूप) पुरुष में है और जो वह आदित्य मण्डल में पुरुष है, वह एक है। जो उक्त रीति से इस प्रकार जानता है वह (दृष्टादृष्ट विषय समुदाय रूप) इस लोक से निवृत्त होकर इस अन्नमय कोशरूप आत्मा को प्राप्त होता है (उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण विषय समूह अन्नमय कोशस्वरूप है) इसी प्रकार क्रमशः वह साधक इस प्राणमय कोशरूप आत्मा को प्राप्त होता है। इस मनोमय कोशरूप आत्मा का उपसंक्रमण करता है। इस विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त होता है एवं इस आनन्दमय कोशरूप आत्मा को प्राप्त होता है। उसी के विषय में यह मन्त्र है॥ ५॥

॥ इत्यष्टमोऽनुवाकः॥

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति। एतꣳह वाव न तपति। किमहꣳ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳस्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳस्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥ इति नवमोऽनुवाकः॥ (९)॥

ब्रह्मविदिदमेकविꣳशतिरन्नादन्नरसमयात्प्राणो व्यानोऽपान आकाशः पृथिवी पुच्छꣳषड्विꣳशतिः प्राणं यजुर्ऋक् सामादेशोऽथर्वाङ्गिरसः पुच्छं द्वाविꣳशतिर्यतः श्रद्धर्तꣳसत्यं योगो महोऽष्टादश विज्ञानं प्रियं मोदः प्रमोद आनन्दो ब्रह्मपुच्छं द्वाविꣳशतिरसन्नेवाथाष्टविꣳशतिरसत्षोडश भीषाऽस्मान्मानुषो मनुष्यगन्धर्वाणां देवगन्धर्वाणां पितृणां चिरलोकलोकानामाजानजानां कर्मदेवानां ये कर्मणा देवानामिन्द्रस्य बृहस्पतेः प्रजापतेर्ब्रह्मणः। स यश्च संक्रामत्मेकपञ्चाशद्यतः कुतश्च नैतमेकादश नव। ब्रह्मविद्य एवं वेदेत्युपनिषत्।

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

॥ इति ब्रह्मानन्दवल्ली॥ २॥

अथ नवमोऽनुवाकः

ब्रह्मानन्दानुभवी विद्वान् किसी से भयभीत नहीं होता

जहाँ से (सविकल्पक वस्तुओं को प्रकाशित करने वाली) मन के सहित वाणी उसे प्राप्त किये बिना ही लौट आती है। उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला विद्वान् किसी से भयभीत नहीं होता। मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया और पाप कर्म क्यों किया। इस प्रकार की चिन्ता केवल इस विद्वान् को संतप्त नहीं करती, (क्योंकि ताप के कारण सुकर्म और दुष्कर्म भी होते हैं) उसे तो ये दोनों आत्म स्वरूप ही दिखायी पड़ते हैं। अतः वह जो इस प्रकार जानने वाला विद्वान् है वह अपनी आत्मा को प्रसन्न और सबल बनाये रखता है। जो (पूर्वोक्त अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म को) जानता है, ऐसी यह ब्रह्मविद्या रूप उपनिषद् है (इस विद्या में ही कल्याण निहित है)

॥ इति नवमोऽनुवाकः॥

॥ इति ब्रह्मानन्दवल्ली समाप्ता॥

अथ भृगुवल्ली

हरिः ॐ। सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तः होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ इति प्रथमोऽनुवाकः॥ (१)॥

अथ भृगुवल्ल्यां प्रथमोऽनुवाकः

भृगु के प्रति वरुण का ब्रह्म उपदेश

वरुण का अत्यन्त प्रसिद्ध पुत्र (ब्रह्म जिज्ञासा से) अपने पिता वरुण के पास गया (और बोला) हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश करें। (विधिपूर्वक अपने पास आये हुए) भृगु से वरुण ने कहा—अन्न, (उसके भीतर भक्षण करने वाला) प्राण, (प्राण के भीतर विषयों की उपलब्धि के साधन) श्रोत्रादि इन्द्रियाँ, मन और वाणी (ये सभी ब्रह्म प्राप्ति के द्वार हैं)। फिर भृगु से वरुण ने कहा निश्चय ही जिससे ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से ये प्राण धारण करते हैं (और विनाशकाल उपस्थित होने पर अन्त में) मरणोन्मुख हो जिसमें ये लीन होते हैं। तू उस ब्रह्म को विशेष रूप से जानने की इच्छा कर। वही बह्म है, (तदनन्तर अपने पिता से ब्रह्म की उपलब्धि के द्वार उक्त लक्षण को सुन कर) भृगु ने मन और इन्द्रियों के समाधान रूप तप किया और उसने तप करके॥ १॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः॥

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः॥ (२)॥

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ इति तृतीयोऽनुवाकः॥ (३)॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

अन्न को ब्रह्मरूप से जानकर पिता की आज्ञा से भृगु का पुनः तप करना

अन्न ब्रह्म है ऐसा जाना, क्योंकि निश्चय अन्न से ही ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए अन्न से ही जीवित रहते हैं तथा मरणोन्मुख होने पर अन्न में ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जान कर फिर भी संशय ग्रस्त हो भृगु पिता वरुण के पास आया। भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश करो। भृगु ने कहा तप से ब्रह्म को जानने की विशेष इच्छा करो। तप ही ब्रह्म है, तब भृगुने तप किया और उसने तप करके॥ २॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः

प्राण को ब्रह्म रूप से जानकर पुनः वरुण के उपदेशानुसार भृगु की तपश्चर्या

प्राण ब्रह्म है, ऐसा भृगु ने जाना, क्योंकि निश्चय प्राण से ही ये प्राणी जन्मते हैं, उत्पन्न हुए प्राण से ही जीते रहते हैं और मरणोन्मुख होने पर प्राण में ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जानकर संशय ग्रस्त होकर फिर भी पिता वरुण के पास आया। भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश करें। भृगु से वरुण ने कहा—तू तप से ब्रह्म की विशेष रूप से जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ही ब्रह्म है, तब भृगु ने (इन्द्रिय और मन की एकाग्रता रूप) तप किया और उसने तप करके॥ ३॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः॥

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः॥ (४)॥

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः॥ (५)॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

मन को ब्रह्मरूप जानकर पुनः वरुण के उपदेश से भृगु की तपश्चर्या

मन ब्रह्म है ऐसा जाना, क्योंकि निश्चय मन से ही ये सभी प्राणी उत्पन्न हुए, मन से ही जीवित रहते हैं और मरणोन्मुख होने पर मन में ही लीन होते हैं। ऐसा जान कर भृगु फिर भी अपने पिता वरुण के पास गया। भगवन्! मुझे ब्रह्म का बोध कराओ। वरुण ने भृगु से कहा—तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा करो। तप ही ब्रह्म है, तब भृगु ने तप किया और उसने तप करके॥ ४॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः

विज्ञान को ब्रह्मरूप से जानकर वरुण के उपदेश से भृगु की पुनः तपश्चर्या

विज्ञान ब्रह्म है ऐसा जाना, क्योंकि विज्ञान से ही ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न हुए, विज्ञान से ही प्राण धारण करते हैं। और फिर मरणोन्मुख होने पर विज्ञान में ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जानकर भृगु फिर अपने पिता वरुण के निकट आया। हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का बोध करावें। वरुण ने भृगु से कहा, तू तप से ब्रह्म को विशेष रूप से जानने की इच्छा कर। तप ही ब्रह्म है, तब भृगु ने तप किया और तप करके॥ ५॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः॥

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥ इति षष्ठोऽनुवाकः॥ (६)॥

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥ इति सप्तमोऽनुवाकः॥ (७)॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः

आनन्द को ब्रह्मरूप से निश्चय करना तथा भार्गवी विद्या की महिमा एवं फल

आनन्द ब्रह्म है ऐसा जाना, क्योंकि आनन्द से ही ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए, आनन्द से ही जीवित रहते हैं और विनाशोन्मुख हुए आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। वह यह वरुण से उपदिष्ट और भृगु से ज्ञात ब्रह्मविद्या हृदयाकाश के भीतर (अद्वैत परमानन्दरूप में) स्थित है। जो ऐसा जानता है वह परब्रह्म में स्थिति प्राप्त करता है, यानी ब्रह्म ही हो जाता है। वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता (प्रदीप्ताग्नि) हो जाता है। वह प्रजा, पशु और शमदमादि ज्ञान के साधन रूप ब्रह्मतेज से युक्त हो महान् होता है तथा (शुभाचरण के कारण होने वाली) ख्याति से भी महान् होता है॥ ६॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः

अन्न की अनिन्दा रूप व्रत तथा शरीरादि अन्न ब्रह्म की उपासना का फल

(गुरु के समान ही) अन्न की भी निन्दा न करे, यह ब्रह्मवेत्ता के लिये व्रत है (शरीर के भीतर रहने के कारण) प्राण ही अन्न है और शरीर अन्नाद है। प्राण में शरीर स्थित है और शरीर में प्राण प्रतिष्ठित है। इस प्रकार (परस्पर एक दूसरे के आश्रित होने से) ये दोनों अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित हैं (अर्थात् आश्रित होने से अन्न है और आधार होने से अन्नाद है) जो इस प्रकार अन्न को अन्न में स्थित जानता है वह प्रख्यात होता है। अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है। प्रजा, पशु तथा ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है एवं ख्याति के कारण भी महान् होता है॥ ७॥

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः॥

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या। इत्यष्टमोऽनुवाकः॥ (८)॥

अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या॥ इति नवमोऽनुवाकः॥ (९)॥

अथाष्टमोऽनुवाकः

अन्न का न त्यागना रूप व्रत तथा जल और ज्योति रूप अन्न ब्रह्म की उपासना

अन्न का प्रत्याख्यान न करे, यह व्रत है। जल ही अन्न है, ज्योति अन्नाद है। जल में ज्योति स्थित है और ज्योति में जल स्थित है। इस प्रकार ये दोनों अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित है। जो इस प्रकार अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है। प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है तथा ख्याति के कारण भी महान् होता है॥ ८॥

॥ इत्यष्टमोऽनुवाकः॥

अथ नवमोऽनुवाकः

अन्न संचय रूप व्रत तथा पृथिवी और आकाश रूप अन्न ब्रह्म की उपासना का फल

बहुत अन्न उपजावे, यह व्रत है। पृथिवी ही अन्न है, आकाश अन्नाद है। पृथिवी में आकाश प्रतिष्ठित हैं और आकाश में पृथिवी प्रतिष्ठित है। इस प्रकार ये दोनों अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित है। जो इस प्रकार अन्न को अन्न में स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है। प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज से महान् होता है तथा कीर्ति से भी महान् होता है॥ ९॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः॥

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳराद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳराद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳराद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नꣳराध्यते॥ १॥

य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ॥ इति मानुषीः समाज्ञाः। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति॥ २॥

यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे। तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति॥ ३॥

अथ दशमोऽनुवाकः

अतिथि सत्कार का विधान और फल एवं प्रकारान्तर से ब्रह्म की उपासना

निवास के लिये घर पर आये हुए किसी भी (अतिथि का) परित्याग न करें, (पृथिवी और आकाश की उपासना करने वालों के लिये) यह व्रत है। इसलिये गृहागत अतिथिसत्कार के लिये किसी न किसी प्रकार खूब अन्न प्राप्त करें (क्योंकि अन्न उपासक गृहागत) उस अतिथि से "मैंने अन्न तैयार किया है" ऐसा कह कर परित्याग नहीं करते। जो गृहस्थ सत्कारपूर्वक सिद्ध किया हुआ अन्न अतिथि को देता है उसे मुख्यवृत्ति से ही अन्न प्राप्त होता है। जो मध्यवृत्ति से सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे मध्यमवृत्ति से ही अन्न प्राप्त होता है और जो निकृष्टवृत्ति से (तिरस्कार पूर्वक) सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे निकृष्टवृत्ति से अन्न प्राप्त होता है॥ १॥ जो इस प्रकार जानता है (उसे पूर्वोक्त फल की प्राप्ति होती है। अब प्रकारान्तर से ब्रह्मोपासना बतलाते हैं।) ब्रह्मवाणी में क्षेमरूप से, योगक्षेमरूप से प्राण और अपान में, कर्मरूप से हाथों में, गतिरूप से चरणों में और विसर्गरूप से गुदा में (उपासनीय है), यह मनुष्य सम्बन्धी उपासना बतलायी गयी है। अब देवताओं में होनेवाली उपासना कही जाती है—तृप्तिरूप से ब्रह्म ही वृष्टि में, बलरूप से विद्युत् में उपासनीय है॥ २॥ यशरूप से पशुओं में, ज्योतिरूप से नक्षत्रों में, पुत्रादि प्रजा, पितृ ऋण से मुक्त होनारूप अमरत्व और आनन्दरूप से उपस्थ में, (स्थित ब्रह्म की उपासना करें) वह ब्रह्म सबका आधार है—ऐसा समझ कर उसकी उपासना करें, इससे उपासक प्रतिष्ठावान् होता है। वह ब्रह्म महत्त्व गुण वाला है, इस भाव से उसकी उपासना करें, इससे उपासक महान् होता है। वह मन ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करें, इससे उपासक मनन करने में समर्थ होता है॥ ३॥

तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः। स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः॥ ४॥

स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमाँल्लोकान्कामान्नीकामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते। हा३वु हा३वु हा३वु॥ ५॥

वह नमः है इस प्रकार ब्रह्म की उपासना करें, इससे सम्पूर्ण भोग्यपदार्थ उपासक के पास विनम्र होकर जाते हैं। वह ब्रह्म सबसे बड़ा है इस प्रकार उपासना करें। इससे वह ब्रह्म के समान गुण वाला होता है। वह ब्रह्म का परिमर (विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य और अग्नि ये पाँच देवता जिसमें मरते हैं, ऐसा आकाश) है, इस प्रकार उसकी उपासना करें, इससे उस उपासक से द्वेष करने वाले प्रतिपक्षी मर जाते हैं तथा जो अप्रिय भाई के पुत्र होते हैं वे भी मर जाते हैं। वह जो इस पुरुष में है तथा वह जो उस आदित्य में है—एक ही है ॥ ४॥

आदित्य और देह में स्थित चेतन की अभेद उपासना का फल

जो इस प्रकार जानने वाला है वह इस दृष्टोदृष्टलोक से निवृत्त होकर इस अन्नमय आत्मा को प्राप्त कर इस प्राण में आत्मा के प्रति संक्रमण कर, इस मनोमय आत्मा के प्रति संक्रमण कर, इस विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त कर तथा इस आनन्दमय आत्मा के प्रति संक्रमण कर इन लोकों में यथेच्छ भोगों को भोगता हुआ इच्छानुसार रूप धारण कर विचरता हुआ इस साम का गान करता है हा३वु, हा३वु, हा३वु॥ ५॥

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः। अहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३वाः। अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्णज्योतीः। य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥ ६॥ (राध्यते विद्युति मानवान्भवत्येको हा३वु य एवं वेदैकं च)॥ इति दशमोऽनुवाकः॥ (१०)॥

भृगुस्तस्मै यतो वै विशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तत्त्रयोदशान्नं प्राणं मनो विज्ञानमिति तद्विज्ञाय तं तपसा द्वादश द्वादशानन्द इति सैषा दशान्नं न निन्द्यात् प्राणः शरीरमन्नं न परिचक्षीतापो ज्योतिरन्नं बहु कुर्वीत पृथिव्यामाकाश एकादशैकादश। न कंचनैकषष्टिरेकान्नविꣳशतिरेकान्नविꣳशतिः। सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति॥ इति भृगुवल्ली समाप्ता॥ ३॥

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्ति : शान्तिः शान्तिः॥ इति तैत्तिरीयोपनिषत्संपूर्णा॥ ७॥

ब्रह्मज्ञानी के ज्ञान का विषय साम

विशुद्ध होता हुआ भी मैं भोग्य हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही अन्न का भोक्ता हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही श्लोककृत् (अन्न एवं अन्नाद का संघातकर्ता) हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ। मैं ही मूर्तामूर्त जगत् के पहले हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुआ हूँ, मैं ही देवताओं से पूर्ववर्ती विराट् एवं अमरत्व का केन्द्र स्थान हूँ। जो अन्नरूप मुझे (अन्नार्थियों को) देता है वह इस प्रकार मेरी रक्षा करता है, किन्तु स्वयं अन्न भक्षण करने वाले को मैं अन्नरूप से भक्षण करता हूँ। मैं इस सम्पूर्ण भुवन का पराभव करता हूँ, हमारी ज्योति सूर्य के समान सदा प्रकाशरूप है ऐसी यह ब्रह्मविद्या है। जो इसे इस प्रकार जानता है (उसे पूर्वोक्त फल मिलता है)।

॥ इति भृगुवल्ली समाप्ता॥

॥ इति तैत्तिरीयोपनिषत्समाप्ता॥

ॐ

ऐतरेयोपनिषद्

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रा-न्संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवत्व-वतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अथ प्रथमोऽध्यायः

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति॥ १॥

स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः॥ २॥

अथ प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः

ॐ वाङ् मे मनसीति शान्तिपाठः

मेरी वाणी में मन प्रतिष्ठित हो और मन में वाणी प्रतिष्ठित हो (अर्थात् मन से जैसा निश्चय किया हो वाणी वैसे ही बोले और जैसे वाणी बोले मनसे वैसे ही चिन्तन हो, दोनों परस्पर अनुकूल रहें)। हे परमात्मन्! तुम मेरे सामने प्रकट हो जावो, हे वाक् और मन! मेरे प्रति वेद को लावो, मेरा श्रवण किया हुआ मुझे न त्यागे, अधीत शास्त्रों के द्वारा मैं दिन-रात को एक कर दूँ—अर्थात् दिन-रात अध्ययन चलता रहे। मैं वाचिक सत्य का भाषण करूँ और मानसिक सत्य को ही बोलूँ। वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे, वह वक्ता की रक्षा करे, वह मेरी रक्षा करे और वक्ता की रक्षा करे, वक्ता की रक्षा करे। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

आत्मा ने ईक्षण पूर्वक लोकों की रचना की

संसार की सृष्टि से पूर्व यह नामरूपात्मक जगत् एकमात्र आत्मा ही था। उससे भिन्न कोई क्रियाशील वस्तु नहीं थी, उसने चिन्तन किया कि मैं लोकों की रचना करूँ।

सृष्टि क्रम

उस आत्मा ने अंभ (शब्द से कहे जाने वाले लोक) मरीचि, मर और आप इन लोकों की सृष्टि की, जो द्युलोक से परे हैं और स्वर्ग जिसका आश्रय है, वह अंभ है। द्युलोक से नीचे भुवर्लोक मरीचि है, पृथिवी मरलोक है (क्योंकि उसमें प्राणी मरते हैं) और जो पृथिवी के नीचे हैं वह आप है (क्योंकि वह नीचे के लोक में रहने वाले प्राणियों से प्राप्त किया जाता है)॥ २॥

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति। सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्॥ ३॥

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षीभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ्निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य औषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः॥ ४॥ इति प्रथमः खण्डः॥ (१)॥

लोकपाल की रचना

उसने फिर विचार किया कि ये लोक तो बन गये (किन्तु रक्षक के बिना ये नष्ट हो जायेंगे अतः इन) लोकों की रक्षा के लिये अब मैं लोकपालों की रचना करूँ, ऐसा विचार कर उसने जल (प्रधान पंच भूतों) से ही एक पुरुष निकालकर अवयव युक्त किया॥ ३॥

गोलक इन्द्रिय के सहित इन्द्रियाधिष्ठातृ देवों की रचना

उस पुरुषाकार पिण्ड को लक्ष्य में रखकर ईश्वर ने संकल्परूप तप किया। ईश्वर के संकल्परूप तप से तपे हुए पिण्ड के अण्डे के समान मुख प्रकट हुआ, मुख से वाणी और वाणी से (उसका अभिमानी) अग्निदेव उत्पन्न हुआ। नासिका छिद्रों से प्राण प्रकट हुआ और प्राण से उसका अभिमानी वायु उत्पन्न हुआ। नेत्रगोलक प्रकट हुए, नेत्रों से चक्षुरिन्द्रिय और चक्षु से आदित्य उत्पन्न हुआ। श्रोत्रगोलक उत्पन्न हुए, श्रोत्रगोलक से श्रोत्रेन्द्रिय और श्रोत्र से दिशाएँ उत्पन्न हुईं। त्वक्गोलक उत्पन्न हुआ, त्वचा से लोम और लोमों से औषधि तथा वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। हृदयगोलक उत्पन्न हुआ, हृदय से मन और मन से तदभिमानी चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। नाभि उत्पन्न हुई। नाभि से अपान और अपान से मृत्यु प्रकट हुई। (तदनन्तर) शिश्न से शुक्र और शुक्र से उसका अधिष्ठातृदेव जल प्रादुर्भूत हुआ॥ ४॥

॥ इति प्रथमः खण्डः॥

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनापिपासाभ्यामन्ववार्जत्। ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति॥ १॥

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति। ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति॥ २॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति॥ ३॥

अथ द्वितीयः खण्डः

देवताओं ने अन्न और आश्रय माँगा

(इस प्रकार ईश्वर द्वारा लोकपालरूप से) रचे गये वे ये इन्द्रियाभिमानी देवगण (अविद्या, काम और कर्म, जल से परिपूर्ण संसाररूप) महासमुद्र में गिर गये। उस पिण्डे को परमेश्वर ने क्षुधापिपासा से अभिभूत कर दिया, तब इन इन्द्रियाभिमानी देवताओं ने परमेश्वर से कहा कि हमारे लिए कोई स्थान बतलाओ जिसमें बैठ कर हम अपने भोज्यवस्तु अन्न का भक्षण कर सकें॥ १॥

देवताओं ने गौ और अश्वशरीर को ठुकराया

उन देवताओं के लिए गौ के आकार वाला पिण्ड जल से निकाल कर ले आया। देवताओं ने कहा यह हमारे लिए पर्याप्त नहीं है। फिर उन देवों के लिए पूर्ववत् घोड़ा लाया, फिर भी देवताओं ने कहा कि, यह हमारे लिये (अन्नभक्षण के निर्मित आश्रय) पर्याप्त नहीं है॥ २॥ उनके लिए अपनी उपलब्धि के योग्य पुरुष शरीर ले आया (देखते ही प्रसन्न हो) देवताओं ने कहा-यह शरीर सुन्दर बना है, निश्चय पुरुष ही सुन्दर रचना है। उन देवताओं से परमेश्वर ने कहा कि अपने-अपने आश्रयस्थानों में तुम लोग प्रवेश कर जाओ॥ ३॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नौषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्॥ ४॥

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः॥ ५॥
इति द्वितीयः खण्डः॥ (२)॥

देवताओं का अपने अपने स्थानों में प्रवेश

(वागिन्द्रिय के अभिमानी देव) अग्नि ने वाणी होकर मुख में प्रवेश किया, वायु ने प्राण होकर नासिकाछिद्र में प्रवेश किया, सूर्य चक्षु होकर नेत्रों में प्रविष्ट हुआ, दिशाएँ श्रोत्रेन्द्रिय होकर कानों में प्रविष्ट हुईं, औषधि और वनस्पतियाँ लोम होकर त्वचा में प्रविष्ट हुईं, चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट हुआ, मृत्यु अपान होकर नाभि में प्रविष्ट हुई और जल वीर्य होकर शिश्न इन्द्रिय में प्रविष्ट हुआ ॥ ४॥

क्षुधा और पिपासा का विभाजन

उस ईश्वर से क्षुधा पिपासा ने (आश्रयहीन होने के कारण) कहा, हमारे लिये आश्रय का चिन्तन करो। तब परमेश्वर ने उससे कहा तुम दोनों को मैं इन्हीं देवताओं में भागीदार बना दूँगा। अतः जिस किसी देवता के लिये हवि दी जाती है उस देवता की हवि में भूख प्यास भी भागीदार होती ही हैं। (सृष्टि के आदि में ईश्वर द्वारा की गयी व्यवस्था आज भी सर्वत्र दीख पड़ती है)॥ ५॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः॥

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति॥ १॥

सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायताऽन्नं वै तत्॥ २॥

तदेनत्सृष्टं पराङ्त्यजिघांसत् तद्वाचाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ३॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ४॥

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद्दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ५॥

अथ तृतीयः खण्डः

अन्नसृष्टि का संकल्प

उस ईश्वर ने ईक्षण किया कि इन लोक और लोकपालों की (रचना तो मैंने की) अब मैं इन लोकपालों के लिये अन्न की रचना करूँ॥ १॥

अन्न की सृष्टि

(अन्न की सृष्टि की इच्छा से) उस ईश्वर ने पूर्वोक्त जलों को लक्ष्य करके तप किया। उन अभितप्त जलों से ही (चराचर घनीभूत एक) मूर्ति उत्पन्न हुई, यह जो मूर्ति उत्पन्न हुई वह अन्न ही है॥ २॥

भागते हुए अन्न को ग्रहण का प्रयत्न

(लोकपालों के निमित्त) निर्मित उस इस अन्न ने (अन्न भोक्ता को अपना मृत्यु समझ कर) उनकी ओर से मुख मोड़कर भागना चाहा अर्थात् बाहर ही स्थित रहा। तब उस आदि पुरुष ने अन्न को वाणी से ग्रहण करना चाहा, किन्तु वह उसे वदनक्रिया से ग्रहण करने में समर्थ न हो सका। यदि उस अन्न को (आदिपुरुष) वाणी से ग्रहण कर लेता तो उसके कार्यभूत उसके परवर्ती पुरुष भी अन्न को बोलकर ही तृप्त हो जाया करते॥ ३॥ फिर उस पुरुष ने अन्न को प्राणनक्रिया से पकड़ना चाहा, किन्तु इसे प्राण से पकड़ न सका। यदि उसने (उस समय) इस अन्न को प्राण से पकड़ लिया होता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न के उद्देश्य से प्राणन-क्रिया करके ही तृप्त हो जाता॥ ४॥ उस पुरुष ने इसे नेत्र से ग्रहण करना चाहा, पर नेत्र से ग्रहण करने में वह समर्थ न हुआ। यदि (उस समय) उसने अन्न को नेत्र से ग्रहण कर लिया होता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न को देखकर ही तृप्त हो जाता॥ ५॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्॥ तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्॥ स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ६॥

तत्त्वचाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम्॥ स यद्धैनत्त्वचाऽग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ७॥

तन्मनसाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्॥ स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ८॥

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम्॥ स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ९॥

तदपानेनाजिघृक्षत् तदावयत्। सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः॥ १०॥

पुरुष ने इसे श्रोत्र से पकड़ना चाहा, किन्तु वह श्रोत्र व्यापार से ग्रहण न कर सका। यदि उसने इसे श्रोत्र से ग्रहण कर लिया होता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न को कानों से सुनकर ही तृप्त हो जाता॥ ६॥ पुरुष ने उसे त्वचा से ग्रहण करना चाहा, किन्तु वह त्वचा से इसे ग्रहण न कर सका। यदि उसने इसे त्वचा से ग्रहण कर लिया होता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न को त्वचा से स्पर्श करके ही तृप्त हो जाता ॥ ७॥ उस पुरुष ने अन्न को मन से ग्रहण करना चाहा किन्तु वह मन से ग्रहण न कर सका। यदि उस समय वह अन्न को मन से ग्रहण कर लेता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न का मन से ध्यान करके ही तृप्त हो जाया करता॥ ८॥

उसने इस अन्न को शिश्न से ग्रहण करना चाहा किन्तु वह शिश्न से ग्रहण न कर सका। यदि उसने (उस समय) इस अन्न को शिश्न से ग्रहण कर लिया होता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न का विसर्ग करके ही तृप्त हो जाता ॥ ९॥

अपान से अन्न का ग्रहण

(इसी प्रकार उसने) इसे अपान से ग्रहण करना चाहा और अन्न को ग्रहण कर भी लिया। वह यह (अपान वायु) ही अन्न ग्रहण करने वाला है। जो वायु अन्न द्वारा जीवनवाला प्रसिद्ध है, वह यह अपान वायु ही है॥ १०॥

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति॥ ११॥

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति॥ १२॥

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती३॥ १३॥

परमेश्वर का शरीर में प्रविष्ट होने का विचार

उस परमेश्वर ने विचार किया यह (लोक, लोकपालों के संघातरूप पिण्ड) मेरे बिना कैसे रह सकेगा? उसने विचार किया मैं किस मार्ग से इस शरीर में प्रवेश करूँ, उसने पुनः विचारा (मेरे बिना भी) यदि वाणी से बोल लिया जाय, यदि प्राण से प्राणन किया जाय, यदि त्वचा से स्पर्श कर लिया जाय, यदि मन से ध्यान कर लिया जाय, यदि अपान से खा लिया जाय और यदि शिश्न से विसर्जन कर लिया जाय तो फिर मैं कौन रह गया (अर्थात् मेरे बिना उक्त सभी व्यापार हो जाने पर मेरा कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। किन्तु राजा के बिना जैसे नगर का कार्य नहीं होता, वैसे ही मेरी प्रेरणा के बिना उक्त व्यापार का होना असंभव है)॥ ११॥

मूर्धा द्वारा से परमेश्वर का देह में प्रवेश

वह सृष्टिकर्ता ईश्वर इस मूर्धा को ही विदीर्ण कर इस मार्ग से ही इस संघात में प्रविष्ट हो गया। वह यह द्वार विदृति नाम से प्रसिद्ध है, ब्रह्मलोक प्राप्ति का हेतु होने से वह द्वार आनन्दप्रद है। उसके तीन वासस्थान हैं और तीन ही स्वप्न हैं। (जाग्रत् में) यही नेत्रस्थान वाला है, स्वप्न में यह कण्ठस्थान वाला है और सुषुप्ति में यह हृदयस्थान वाला है॥ १२॥

जीव के मोह की निवृत्ति

(जीवभाव से इस शरीर में प्रविष्ट होकर) उत्पन्न हुए उस परमेश्वर ने भूतों को (तादात्म्य रूप से) ग्रहण किया और (गुरुकृपा से बोध होने पर मुझसे भिन्न) यहाँ दूसरा कौन है, ऐसा कहा और मैंने इस आत्मदेव को देख लिया है। इस प्रकार उसने इस पुरुष को ही पूर्ण ब्रह्मरूप से देखा॥ १३॥

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः॥ १४॥ इति तृतीयः खण्डः॥ (३)॥

॥ इत्यैतरेये द्वितीयारण्यके चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥
उपनिषत्सु प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽअध्यायः

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्यो-ऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथै-नज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म॥ १॥

तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा॥ तस्मादेनां न हिनस्ति साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति॥ २॥

इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति

इसीलिये उस परमेश्वर का ''इदन्द्र'' नाम पड़ा, लोक में ईश्वर ''इदन्द्र'' नाम से प्रसिद्ध है। इदन्द्र होते हुए भी उसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष परोक्ष रूप से इन्द्र कह कर पुकारते हैं क्योंकि देवता लोग परोक्षप्रिय होते हैं (द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति सूचक के लिये है)॥ १४॥

॥ इति प्रथमाध्यायः, तृतीयखण्डः॥

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमः खण्डः

पुरुष का प्रथम जन्म

सबसे पहले यह (संसारी जीव रसादि क्रम से शुक्ररूप से) पुरुषशरीर के भीतर ही गर्भरूप में होता है। यह जो प्रसिद्ध वीर्य है, वह पुरुष के सम्पूर्ण अवयवों से उत्पन्न हुआ सारभूत तेज है। वह पुरुष इस अपने आत्मरूप तेज को अपने शरीर में ही पोषण करता है, फिर जिस समय वह पुरुष अपने गर्भरूप से उत्पन्न शुक्र को स्त्री में सींचता है, तब इसे वह उत्पन्न करता है (इस प्रकार रेतः सिञ्चन के समय शुक्र रूप से अपने स्थान से निकलना ही) इस संसारी पुरुष का पहला जन्म है॥ १॥ जिस प्रकार अपने अङ्ग स्तनादि होते हैं उसी प्रकार यह वीर्य भी स्त्री के आत्मभाव को प्राप्त हो जाता है। इसलिये वह गर्भ उसे कष्ट नहीं पहुँचाता। वह गर्भिणी अपने उदर में प्रविष्ट हुए उस पति के इस आत्मा का (अनुकूल भोजनादि के द्वारा) पोषण करती है॥ २॥

सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म॥ ३॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्याऽयमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म॥ ४॥

तदुक्तमृषिणा। गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच॥ ५॥

पुरुष का दूसरा जन्म

(गर्भरूप पति के आत्मा का) पालन करने वाली वह गर्भिणी स्त्री अपने स्वामी द्वारा पालनीया होती है। प्रसव होने से पूर्व गर्भिणी स्त्री उस गर्भ का पोषण करती है। तब वह पिता गर्भरूप से उत्पन्न हुए प्रसव के अनन्तर सद्योजात उस कुमार को जातकर्मादि से संस्कृत करता है। जन्म के बाद जो वह कुमार का संस्कार करता है, वह इस प्रकार पुत्र-पौत्रादि लोकों के विस्तार से वह अपना ही संस्कार करता है, क्योंकि इस प्रकार (पुत्रोत्पादनादि परम्परा के चलते रहने से) इन लोकों की वृद्धि होती है। यही इस संसारी पुरुष का द्वितीय जन्म है॥ ३॥

पुरुष का तीसरा जन्म

इस पिता का वह पुत्ररूप आत्मा शास्त्रोक्त पुण्यकर्मों के संपादन के लिये (घर में पिता के स्थान पर) प्रतिनिधिरूप से स्थापित किया जाता है। तदनन्तर इस पुत्र का अन्य पितारूप आत्मा वृद्ध हो जाने पर कृतकृत्य होकर यहाँ से प्रस्थान कर जाता है। इस प्रकार यहाँ से प्रस्थान करने के बाद वह (कर्मफल भोग के लिये) फिर जन्मधारण करता है, यही इसका तीसरा जन्म है॥ ४॥

वामदेव का वाक्य

यही बात मन्त्र में भी कही गयी है। माता के गर्भ में रहते हुए ही मैंने इस (वाक् एवं अग्नि आदि) देवताओं के सम्पूर्ण जन्मों को जान लिया है। (संसार बन्धन से मुक्त होने से पूर्व) मुझे लोहे के समान सैकड़ों शरीरों ने अवरुद्ध किया था। अब (तत्त्वज्ञान के प्रभाव से) मैं बाजपक्षी के समान (इस जाल को काट कर) बाहर निकल आया हूँ। वामदेव ऋषि ने गर्भ में सोते हुए ही ऐसा कहा था॥ ५॥

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत्॥ ६॥ (यथास्थानं गर्भिण्यः) इति चतुर्थः खण्डः ॥ (४)॥ इत्यैतरेये द्वितीयारण्यके पञ्चमोऽध्यायः ॥ (५)॥ उपनिषत्सु द्वितीयोऽध्यायः॥ (२)॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति॥ १॥

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति॥ २॥

यह (वामदेव ऋषि पूर्वोक्त आत्मा को) इस प्रकार जानकर इस शरीर के नाश होने के बाद उत्क्रमण कर इन्द्रियों के अविषय स्वयंप्रकाश आत्मलोक में सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर अमर हो गया, (अर्थात् आत्मज्ञान द्वारा पूर्णकाम होने के कारण जीवित ही अमरत्व को प्राप्त किया)॥ ६॥

॥ इति द्वितीयाध्यायः, प्रथमखण्डः॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

आत्मा के विषय में प्रश्नोत्तर

हम जिस आत्मा की उपासना करते हैं वह यह आत्मा कौन है? जिससे जीव प्राणी देखता है या जिससे सुनता है, या जिससे गन्धों को सूँघता है या जिससे शब्द का विश्लेषण करता है, या जिससे स्वादु-अस्वादु वस्तु को जानता है (अर्थात् उक्त सभी ज्ञानों के कारण और कर्तारूप दो आत्माओं में से) वह कौन सा आत्मा है॥ १॥

प्रज्ञान नामक मन के अनेक नाम

यह जो (प्रजाओं का रेतरूप सारभूत) हृदय है वही मन भी है, चेतनता, प्रभुता, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, रोगादिजनित दुःखरूप जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, प्राण, काम और मनोनुकूल वस्तुओं की स्पर्शादि कामना ये सभी प्रज्ञान के नाम हैं॥ २॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव। बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म॥ ३॥

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत्। इत्योम्॥ ४॥ इति पञ्चमः खण्डः॥ (५)॥ इत्यैतरेये द्वितीयारण्यके षष्ठोऽध्यायः॥ (६)॥ उपनिषत्सु तृतीयोऽध्यायः॥ (३)॥

वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ इत्यैतरेयोपनिषत्संपूर्णा॥ ८॥

प्रज्ञान की व्यापकता

यह प्रज्ञानरूप आत्मा ही परात्पर ब्रह्म है, यही इन्द्र है, यही प्रजापति है, यही अग्न्यादि सारे देव तथा पृथिवी, वायु, आकाश, जल, और तेज ये पाँच भूत है, यही क्षुद्र जीवों के सहित उनके बीज एवं अन्य अन्य अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज्ज, अश्व, गौ, मनुष्य और हाथी है। तथा जो कुछ भी यह जंगम आकाशगामी पक्षी और वृक्षादिरूप स्थावर वर्ग है वह सब प्रज्ञानेत्र और निरुपाधिक प्रज्ञान में ही स्थित है, लोक प्रज्ञानेत्र वाला है, प्रज्ञान ही उसका विलयस्थान है। अतः प्रज्ञान ही ब्रह्म है॥ ३॥ वह वामदेव इस चेतनात्मस्वरूप से ही इस लोक से उत्क्रमण कर इन्द्रियातीत ब्रह्मात्मरूप स्वर्ग लोक में सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर अमर हो गया, अमर हो गया॥ ४॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः॥

॥ इत्यैतरेयोपनिषत्समाप्ता॥

ॐ

छान्दोग्योपनिषद्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत॥ ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्॥ १॥

अथ प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः

हे परमात्मन्! मेरे (हस्तपादादि सभी) अङ्ग पुष्ट होवें। वाणी, प्राण, नेत्र और श्रोत्र एवं सभी इन्द्रियाँ बल प्राप्त करें। सम्पूर्ण विश्व उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है, ऐसे ब्रह्म का तिरस्कार मैं न करूँ, ब्रह्म मेरा तिरस्कार न करे। इस प्रकार मेरा निराकरण न हो, मेरा निराकरण न हो और उपनिषद् में बतलाए गये शमदमादि धर्म ब्रह्मात्मैक्य स्थिति में निरत मुझमें होवें। वे सब मुझमें होवें, वे धर्म सदा ही मुझमें रहें। आध्यात्मिकादि त्रिविध तापों की शान्ति होवे।

मन्त्रार्थ

उद्गीथ दृष्टि से ओंकार की उपासना

उद्गीथ शब्द वाच्य "ओम्" इस अक्षर की उपासना करे, (क्योंकि) "ओम्" ऐसा (उच्चारण करके यज्ञादि में उद्गाता) उच्च स्वर से साम गान करता है। उस अक्षर का ही उपव्याख्यान प्रारम्भ किया जाता है, अर्थात् किस प्रकार उसकी उपासना होती है, उसकी विभूति क्या है और फल क्या है, इत्यादि कथन को उपव्याख्यान कहते हैं॥ १॥

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ॥ २ ॥

स एष रसानाꣳ रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥ ३ ॥

कतमा कतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥ ४ ॥

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः। तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च ॥ ५ ॥

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥ ६ ॥

रसों में श्रेष्ठ उद्गीथ है

इन चराचर प्राणियों का जन्म, स्थिति और लय स्थान होने के कारण पृथिवी रस है, पृथिवी का रस जल है, जल का रस औषधियाँ हैं, उन औषधियों का रस पुरुष है, पुरुष का रस वाक् है, वाक् का रस ऋक् है, ऋक् का रस साम है और साम का रस उद्गीथ है। (प्रकरण के बल से यहाँ पर ॐकार को ही उद्गीथ कहा है, जो साम का भी सारतर है) ॥ २ ॥

वही यह उद्गीथ भूतादि उत्तरोत्तर सम्पूर्ण रसों में श्रेष्ठ रस और परमात्मा का प्रतीक होने के कारण उत्कृष्ट एवं परार्ध्य है, संख्या की दृष्टि से पृथिव्यादि रसों में आठवाँ है ॥ २ ॥

उद्गीथ उपासनान्तर्वर्ती ऋक् साम एवं उद्गीथ का निर्णय

कौन कौन ऋक् है? कौन कौन साम है? और कौन कौन उद्गीथ है? इसी का अब विचार किया जाता है। (ऋग्वेद के एक होने पर भी ऋग् मन्त्र रूप व्यक्ति के बाहुल्य से "डतमच्" प्रत्यय का प्रयोग किया गया है) ॥ ४ ॥

वाणी ही ऋक् है, प्राण साम है, तथा "ओम्" यह अक्षर उद्गीथ है। वाक् और प्राण क्रमशः ऋक् और साम के कारण हैं। इसलिये वाक् ही ऋक् है और साम प्राण है। इस प्रकार इन दोनों के मिथुन (जोड़े) है ॥ ५ ॥

उक्त मिथुन के ओंकार में संसृष्ट होने का फल

वह यह मिथुन "ओम्" इस अक्षर में संसृष्ट होता है। जिस समय मिथुन के अवयव परस्पर मिलते हैं, उस समय में एक दूसरे की कामनाओं को प्राप्त कराते हैं। (ऐसा लोक में ग्राम्य धर्म के समय मिथुन के अवयव स्त्री और पुरुष के संसर्ग में देखा गया है) ॥ ६ ॥

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ७ ॥

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किंचानुजानात्योमित्येव तदा हैषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा समर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ८ ॥

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शꣳसत्योमित्युद्गायत्येत-स्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥ ९ ॥

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यै-वाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति॥ १० ॥ इति प्रथमः खण्डः ॥ (१)॥

उक्त उपासना का फल

जो उपासक इस प्रकार "ओम्" अक्षररूप उद्गीथ की उपासना करता है वह (यजमान की) कामनाओं को प्राप्त कराने वाला होता है ॥ ७ ॥

ओंकार में समृद्धि गुण

वह यह "ओंकार" ही अनुमति सूचक अक्षर है। अतएव (लोक में कोई विद्वान् या धनी पुरुष धनादि के लिये) किसी को जो कुछ अनुमति देता है तो "ओम्" ऐसा ही कहता है। यह अनुज्ञा की समृद्धि है। जो इस प्रकार जानने वाला पुरुष समृद्धि गुणयुक्त इस उद्गीथ की उपासना करता है, निश्चय ही वह यह यजमान के सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करनेवाला होता है॥ ८ ॥

ओंकार की स्तुति

उस अक्षर से ही वह ऋग्वेदादि रूपत्रयी विद्या (और उसमें विहित कर्म) प्रवृत्त होते हैं। "ओम्" ऐसा उच्चारण कर अध्वर्यु आश्रावण कर्म कराता है, "ओम्" ऐसा बोल कर होता शंसन कराता है और "ओम्" ऐसा उच्चारण कर ही उद्गाता उद्गान करता है। इस अक्षर की पूजा के लिये ही (वेदोक्त सम्पूर्ण कर्म हैं) तथा ऋत्विक् यजमानादि के प्राणरूप महिमा से एवं व्रीहि यवादि रस से निष्पन्न हुए हवि से (वैदिक कर्म सम्पन्न होता है)॥ ९ ॥

अज्ञानी और ज्ञानी के कर्म फल में भेद

जो कोई उस अक्षर को इस प्रकार जानता है और जो ऐसा नहीं जानता है, वे दोनों ही उस अक्षर के द्वारा कर्म करते हैं, परन्तु विद्या और अविद्या दोनों भिन्न फल वाले हैं। जो कोई विद्या श्रद्धा और योग से युक्त हो जिस कर्म को करता है उसका वही कर्म अन्य की अपेक्षा प्रबलतर होता है। अतएव निश्चय ही यह सम्पूर्ण संसार इस ओंकार अक्षर का ही व्याख्यान है॥ १० ॥

॥ इति प्रथमः खण्डः ॥

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति॥ १॥

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे तꣳहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः॥ २॥

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे ताꣳहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा॥ ३॥

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्॥ ४॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳशृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्॥ ५॥

अथ द्वितीयः खण्डः

निम्नाङ्कित आख्यायिका से प्राण उपासना श्रेष्ठ सिद्ध होती है

प्रसिद्ध है कि प्रजापति के पुत्र देवता (शास्त्रालोकित इन्द्रिय वृत्तियाँ) और असुर (विषयोसक्त तमःप्रधान इन्द्रिय वृत्तियाँ) किसी निमित्त से परस्पर युद्ध करने लगे। उनमें से देवताओं ने यह निश्चय किया, कि इस उद्गीथ के द्वारा हम असुरों को जीत लेंगे, ऐसा निश्चय कर उद्गीथ का अनुष्ठान किया॥ १॥

घ्राण आदि का असुरों से पराभव

पहले देवताओं ने नासिका में रहने वाले घ्राण की उद्गीथरूप से उपासना की। किन्तु असुरों ने अधर्म और आसक्ति पाप से घ्राणदेव को बिंध दिया। अतएव घ्राण से वह सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों की को सूँघता है क्योंकि वह पाप से बिंधा हुआ है॥ २॥ तत्पश्चात् देवताओं ने उद्गीथ दृष्टि से वाणी की उपासना की, किन्तु असुरों ने उसे भी उक्त रीति से पाप के द्वारा वेध डाला। इसी से लोग वाणी द्वारा सत्य और असत्य दोनों ही प्रकार की बात बोलते हैं, क्योंकि वह वाणी आसक्तिरूप पाप से बिंधी हुई है॥ ३॥ फिर देवताओं ने उद्गीथरूप से चक्षु की उपासना की, असुरों ने उसे भी उक्त रीत्या पाप से वेध दिया। अतएव नेत्र से देखने योग्य और अयोग्य दोनों प्रकार की वस्तुओं को देखता है, क्योंकि वह नेत्र विषयासक्तिरूप पाप से बिंधा हुआ है॥ ४॥ पुनः देवताओं ने उद्गीथ दृष्टि से श्रोत्र की उपासना की। पूर्वोक्त असुरों ने उसे भी पाप से वेध डाला। इसी से लोग सुनने योग्य और अयोग्य दोनों ही प्रकार की बात श्रोत्र से सुनते हैं। क्योंकि विषयासक्तिरूप पाप से बिंधा हुआ है ॥५॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳसंकल्पयते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्॥ ६॥

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे तꣳहासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसेत॥ ७॥

एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसत एवꣳहैव स विध्वꣳसते य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः॥ ८॥

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति। एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति॥ ९॥

तत्पश्चात् देवताओं ने उद्गीथ दृष्टि से मन की उपासना की, बिचारे मन को भी असुरों ने पाप से वेध ही डाला। अतएव संकल्प के योग्य और अयोग्य दोनों ही प्रकार के पदार्थों का संकल्प मन से लोग करते हैं। क्योंकि वह भी तो पाप से बिंधा हुआ है॥ ६॥

मुख प्राण से असुरों की हार

तदनन्तर जो यह प्रसिद्ध मुख के भीतर प्राणवायु है, देवताओं ने उद्गीथ दृष्टि से उसकी उपासना की। किन्तु उस प्राण के निकट जाकर असुर ऐसे ही विध्वस्त हो गये, मानो अभेद्य पाषाणखण्ड के पास जाकर मिट्टी का ढेला नष्ट हो गया हो॥ ७॥

प्राण उपासक की महिमा

जैसे (टैंकों से भी न टूटने वाले) दुर्भेद्य पाषाण को प्राप्त कर (मिट्टी का ढेला) नष्ट हो जाता है वैसे ही वह व्यक्ति विध्वस्त हो जाता है, जो इस प्रकार जानने वाले उपासक पुरुष के प्रति पापाचरण करना चाहता है, या जो इसे ताड़नादि करता है। क्योंकि वह प्राण उपासक दुर्भेद्यपाषाण के समान दुर्धर्ष है॥ ८॥ लोग इस मुख्य प्राण के द्वारा न सुगन्ध को और न दुर्गन्ध को ही जानते हैं, क्योंकि वह प्राण आसक्तिरूप पाप से पराभूत नहीं है। अतः यह प्राण जो कुछ खाता है या पीता है, उससे अन्य घ्राणादि इन्द्रियों का ही पोषण करता है। अन्त (मरणकाल) में इस मुख्य प्राण को न प्राप्त कर घ्राणादि प्राण समुदाय शरीर से निकल जाता है। अतएव मरण के समय में पुरुष मुख फाड़ देता है॥ ९॥

तꣳहाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यंतेऽङ्गानां यद्रसः॥ १०॥

तेन तꣳह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचक्र एतमु एव बृहस्पतिं मन्यंते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः॥ ११॥

तेन तꣳहायास्य उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते॥ १२॥

तेन तꣳह बको दाल्भ्यो विदांचकार। स ह नैमिषीयानामुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति॥ १३॥

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम्॥ १४॥ इति द्वितीयः खण्डः॥ (२)॥

प्राण का आंगिरस नाम क्यों?

अंगिरा नाम के ऋषि ने इस मुख्य प्राण की उद्गीथ रूप से उपासना की थी। अतः इस प्राण को आंगिरस मानते हैं, क्योंकि यह प्राण सम्पूर्ण अङ्गों का रसरूप है॥ १०॥

प्राण का बृहस्पति नाम क्यों?

इसी कारण से बृहस्पति ने भी प्राण को उद्गीथ समझ कर उपासना की थी। अतः लोग इस प्राण को ही बृहस्पति मानते हैं, क्योंकि वाक् ही बृहती है और प्राण उस बृहती का पति है॥ ११॥

प्राण का आयास्य नाम क्यों?

इसी से आयास नामक ऋषि ने प्राण की उद्गीथ दृष्टि से उपासना की थी। अतः लोग इस प्राण को ही आयास्य मानते हैं, क्योंकि यह प्राण आस्य (मुख) से निकलता है॥ १२॥ अतएव दल्भ के पुत्र बक ने भी पूर्वोक्त प्रकार से प्राण को जाना। इसी से वह नैमिषारण्य में यज्ञ करने वालों का उद्गाता हुआ और उन यजमानों की कामना के लिये दाल्भ्य ने प्राणविज्ञान सामर्थ्य से ही आगान किया॥ १३॥

प्राण से ओंकार की उपासना

ऐसा जानने वाला जो विद्वान् इस उद्गीथ नामक ओंकार की पूर्वोक्त रीति से उपासना करता है, वह (अन्य उद्गाता भी) कामनाओं का आगान करने वाला हो जाता है। ऐसी अध्यात्म उपासना है॥ १४॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः॥

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति उद्यꣳस्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद॥ १॥

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत॥ २॥

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः। अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक् तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति॥ ३॥

अथ तृतीयः खण्डः

सूर्य दृष्टि से उद्गीथ की उपासना

अब अधिदैवत उपासना बतलाई जाती है। जो यह सूर्य तपता है (वह उद्गीथ है) उस उद्गीथ की उपासना करे। क्योंकि यह आदित्य उदित होता हुआ प्रजाओं के अन्न उत्पत्ति के लिये उद्गान करता है, इतना ही नहीं, वह उदित होकर अन्धकार और तज्जन्य भय का भी नाश करता है। जो इस प्रकार इसे जानता है वह आत्मा के जन्म मरणादि भय और उसके कारण अज्ञान को नष्ट कर डालता है॥ १॥

आदित्य और प्राण में साम्य होने के कारण
प्राण दृष्टि से उद्गीथ की उपासना

गुण दृष्टि से यह प्राण और यह आदित्य समान ही है, क्योंकि यह प्राण और वह सूर्य भी उष्ण है। इस प्राण को "स्वर" इस नाम से कहते हैं और उस आदित्य को भी "स्वर" एवं "प्रत्यास्वर" ऐसा पुकारते हैं (स्वरति गच्छतीति स्वरः प्राणः। आदित्यस्तु गच्छतीति स्वरः, प्रत्यावृत्यागच्छतीति प्रत्यास्वरः। अतः आदित्य को दोनों नाम से कहते हैं)। (अतः तत्त्वतः अभिन्न होने के कारण) इस प्राण और सूर्यरूप से उद्गीथ के अवयवरूप ओंकार की उपासना करे॥ २॥

व्यानरूप से उद्गीथ की उपासना

अब (प्रकारान्तर से अध्यात्म उपासना) कही जाती है। व्यान दृष्टि से ही उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये। पुरुष जो प्राणन (मुख और नासिका द्वारा वायु का बहिर्गमन) करता है वह प्राण है (और जो मुख एवं नासिका द्वारा ही) वायु को भीतर खींचता है वह अपान है, तथा प्राणायाम की जो संधि है वह व्यान है। जो व्यान है वही वाक् है। अतएव पुरुष प्राण और अपान की क्रियायें न करता हुआ ही बोलता है॥ ३॥

या वाक्सर्क्तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति यर्क्तत्साम तस्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ॥ ४ ॥

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानꣳस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥ ५ ॥

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीदꣳसर्वꣳस्थितम् ॥ ६ ॥

वाक्, ऋक्, साम और उद्गीथ समानता का हेतु

जो वाणी है वही ऋक् है, इससे ही पुरुष प्राण और अपान क्रिया न करता हुआ वाक् विशेष ऋक् का उच्चारण करता है। जो ऋक् है वही साम है, वही साम के अवयवरूप ओंकार उद्गीथ भी है। अतः उसका उद्गान भी प्राणायाम क्रिया न करता हुआ करता है॥ ४॥

इसके सिवा जो अन्य भी अधिक प्रयत्न साध्य-सामर्थ्ययुक्त कर्म हैं, जैसे अग्नि का मंथन, एक सीमा तक दौड़ना और सुदृढ़ धनुष को खींचना, इन सभी कर्मों को पुरुष प्राण और अपान क्रिया को न करता हुआ ही करता है। अतएव व्यान दृष्टि से ही उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये (प्राण की अन्य वृत्तिरूप से नहीं)॥ ५॥

अब उद्गीथ के अक्षरों की उपासना निश्चय पूर्वक करनी चाहिये।

"उद्गीथ" इस शब्द में प्राण ही उत् है अर्थात् "उत्" अक्षर में प्राणदृष्टि करनी चाहिये। क्योंकि सब लोग प्राण से ही उठते हैं। वाक् ही "गी" है, क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष वाक् को "गिरः" ऐसा कहते हैं तथा अन्न ही "थ" है। क्योंकि अन्न में ही यह सब स्थित है॥ ६॥

उद्गीथ के अक्षरों में द्युलोकादि और साम वेदादि दृष्टि

ऊँचे स्थान होने से द्यौलोक ही "उत्" है। लोकों का ग्रासक होने से अन्तरिक्ष "गी" है और सबकी प्रतिष्ठा होने से पृथिवी "थ" है। उक्त न्याय से ही आदित्य उत् है, वायु "गी" है और अग्नि "थ" है। एवं सामवेद ही "उत्" है, यजुर्वेद

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थꣳसामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति॥ ७॥

अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत्सामोपधावेत्॥ ८॥

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत्॥ ९॥

येन च्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्तꣳस्तोममुपधावेत्॥ १०॥

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेत्॥ ११॥

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृध्येत यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति॥ १२॥ इति तृतीयः खण्डः॥ (३)॥

''गी'' है, ऋग्वेद ''थ'' है। क्योंकि ऋक् में ही साम अधिष्ठित है। उन अक्षरों को ऐसा जान कर जो इन उद्गीथ अक्षरों की उपासना करता है, उसके लिये जो ऋग्वेदादि वाक् का दोह है, उसे वाणी स्वयं ही दुहती है तथा वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता हो जाता है॥ ७॥

सकाम उपासना का प्रकार

इसके अनन्तर निश्चय ही कामनाओं की समृद्धि बतलाई जाती है। अपने ध्येयों की इस प्रकार उपासना करे। जिसे साम विशेष से उद्गाता को स्तुति करनी हो, उस साम का (उसकी उत्पत्ति आदि क्रम से) चिन्तन करे ॥ ८॥ जिस ऋचा में (वह साम अधिष्ठित हो) उस ऋचा का, जिस ऋषि वाला हो उस ऋषि का तथा जिस देवता की स्तुति करनी हो उस देवता का भी चिन्तन करे॥ ९॥ वह जिस गायत्री आदि छन्द से स्तुति करने वाला हो उस छन्द का चिन्तन करे। एवं जिस स्तोम से स्तुति करने वाला हो उस त्रिवृत्पञ्चदशादिरूप स्तोम का भी चिन्तन करे॥ १०॥ जिस दिशा की स्तुति करने वाला हो देवतादि के सहित उस दिशा का चिन्तन करते हुए स्वरादि के उच्चारण में प्रमाद न करता हुआ स्तुति करे। जिस फलाभिलाषा वाला होकर वह उद्गाता स्तुति करता है, ऐसे उपासक के लिये वही फल तत्काल समृद्धि को प्राप्त होता है॥ १२॥

॥ इति तृतीयः खण्डः॥

ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्॥ १॥

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशꣳस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्॥ २॥

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि। ते नु विदित्त्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन्॥ ३॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवꣳसामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन्॥ ४॥

अथ चतुर्थः खण्डः

उद्गीथ नामक ओंकार उपासना के लिये आख्यान

"ओम्" यह अक्षर ही उद्गीथ है, इस रूप में ही उद्गीथ की उपासना करे, क्योंकि ओम् ऐसा उच्चारण कर उद्गाता यज्ञ में उद्गान करता है। उसी की व्याख्या की जाती है। (पूर्व प्रस्तावित ओंकार का ही इस वाक्य द्वारा ग्रहण करना चाहिये। उद्गीथ शब्द के अक्षरों की उपासना से व्यवहित होने के कारण ही पुनः उस मन्त्र की आवृत्ति की गयी है)॥ १॥ एक बार मृत्यु से भयभीत हुए देवताओं ने वेदत्रयी (द्वारा प्रतिपादित कर्म) में प्रवेश किया तथा कर्मों में न विनियोग किये गये मन्त्रों से जप होमादि करते हुए देवताओं ने अपने को इन मन्त्रों से आच्छादित कर दिया। उन्होंने जो छन्दों द्वारा अपने को आच्छादित किया वही छन्दों (मन्त्रों) का छन्दस्त्व है॥ २॥ जैसे (मछुवे गहरे) जल में मछलियों को देख लेता है, वैसे ही मृत्यु ने ऋक्, साम, और यजुः सम्बन्धी कर्मों से संलग्न देवताओं को देखा। (वैदिक कर्मानुष्ठान के कारण विशुद्धान्तः करण वाले) देवताओं ने मृत्यु की बात को जानकर ऋक्, साम और यजुः सम्बन्धी (कर्मों से निवृत्त हो) स्वर में ही प्रवेश किया॥ ३॥

ओम् की महिमा

जब (अध्ययन द्वारा उपासक) ऋक् को प्राप्त करता है तब वह "ओम्" ऐसा कहकर ही बड़े आदर से उच्चारण करता है। ऐसे ही वह साम और यजुः को भी प्राप्त करता है। यह जो अक्षर है यही स्वर है, यह अमृत और अभय रूप है, इसमें प्रविष्ट हो देवता अमर और अभय हो गये हैं॥ ४॥

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरꣳस्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति॥ ५॥ इति चतुर्थः खण्डः॥ (४)॥

अथ खलु य उद्गीथः सः प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति॥ १॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच रश्मीꣳस्त्वं पर्यावर्तयाद्बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम्॥ २॥

अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति॥ ३॥

ओंकार उपासना का फल

(उन देवताओं के समान ही दूसरा भी) वह जो इस प्रकार जानकर इस अक्षर की उपासना करता है, वह भी (उन देवताओं के समान ही) इस अमृत अभयरूप अक्षर में ही प्रवेश कर लेता है और उसमें प्रविष्ट हो जिस अमृतत्व से देव अमर हो गये थे, उसी अमृतत्व से युक्त हो यह भी अमर हो जाता है॥ ५॥

॥ इति चतुर्थः खण्डः॥

अथ पंचमः खण्डः

ओंकार उद्गीथ और आदित्य की उपासना

निस्सन्देह जो उद्गीथ है वही ऋग्वेदियों का प्रणव है और जो प्रणव है वही यहाँ पर उद्गीथ है वही ऋग्वेदियों का प्रणव है और जो प्रणव है वही यहाँ पर उद्गीथ है। एवं यह आदित्य ही उद्गीथ है और यही प्रणव है, क्योंकि यह सूर्य "ओम्" ऐसा उच्चारण करता हुआ ही जाता है (अतएव सविता की अनुज्ञा पाकर प्राणों की प्रवृत्ति होती है)॥ १॥

रश्मि दृष्टि से सविता की व्यस्त उपासना का विधान

निस्सन्देह मैंने प्रमुख रूप से इसी का (आदित्य और उसकी रश्मियों का अभेद करके) गान किया। इसी से तू मेरा एक ही पुत्र है, ऐसा कौषीतकि ने अपने पुत्र से कहा। अतः तू सूर्य और रश्मियों का भेदरूप से चिन्तन कर, इससे निश्चय ही तुझे बहुत से पुत्र होंगे, यह अधिदैवत उपासना है॥ २॥

मुख्य प्राण रूप से उद्गीथ की उपासना

इसके बाद अध्यात्म उपासना कही जाती है। यह जो मुख्य प्राण है, उसकी उद्गीथ रूप से उपासना करे, क्योंकि (वागादि प्रवृत्ति के लिये) यह "ओम्" इस प्रकार अनुज्ञा करता हुआ जाता है॥ ३॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच प्राणाꣳस्त्वं भूमानमभिगायताद्बहवो वै ते भविष्यन्तीति ॥ ४ ॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥ ५ ॥ इति पञ्चमः खण्डः ॥ (५) ॥

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयत इयमेव साऽग्निरमस्तत्साम ॥ १ ॥

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ॥ २ ॥

मुख्य प्राण की व्यस्त उपासना का फल

मैंने प्रमुख रूप से केवल मुख्य प्राण का ही ध्यान किया था इसीलिये तू अकेला ही मेरा पुत्र हुआ ऐसा कौषीतकि ने अपने पुत्र से कहा। अतः तुझे बहुत से पुत्र होवें इस आशय से तू भेद गुण विशिष्ट प्राणों का चिन्तन कर ॥ ४ ॥

प्रणव और उद्गीथ का एकत्व

निश्चय ही जो उद्गीथ है वही प्रणव है और जो प्रणव है वही उद्गीथ है। ऐसा समझ कर होतृ सदन (होता के शंसन कर्म करने योग्य स्थान) से उद्गाता हौत्र कर्म में किये हुए दोषयुक्त उद्गान का अनुसंधान करता है संशोधन करता है ॥ ५ ॥

॥ इति पञ्चमः खण्डः ॥

अथ षष्ठः खण्डः

उद्गीथ सम्बन्धी आधिदैविक उपासनाएँ

यह पृथिवी ही ऋक् है तथा अग्नि साम है, वह यह (अग्नि नामक) साम इस (पृथिवी संज्ञक) ऋक् में अधिष्ठित है। अतः (इस समय भी साम गायकों द्वारा) ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है। यह पृथिवी ही 'सा' है और अग्नि 'अम' है। अतएव ये (दोनों मिलकर) साम हैं ॥ १ ॥ अन्तरिक्ष ही ऋक् है और वायु ही साम है, वह यह (वायु रूप) साम इस (अन्तरिक्ष रूप) ऋक् में अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है। अन्तरिक्ष ही 'सा' है और वायु 'अम' है इस प्रकार ये दोनों साम कहे जाते हैं ॥ २ ॥

द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते द्यौरेव सादित्योऽमस्तत्साम॥ ३॥

नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम॥ ४॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते॥ ५॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः॥ ६॥

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद॥ ७॥

द्युलोक ही ऋक् है और आदित्य साम है वह यह (आदित्य रूप) साम इस (द्यौ रूप) ऋक् में अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गान (आज भी) किया जाता है। द्यौ ही 'सा' है और आदित्य 'अम' है, इस प्रकार (ये दोनों मिलकर) साम हैं॥ ३॥ नक्षत्र ही ऋक् है और चन्द्रमा साम है, वह यह (चन्द्रमारूप) साम इस (नक्षत्ररूप) ऋक् में अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का गान किया जाता है। नक्षत्र ही 'सा' है और चन्द्रमा 'अम' है इस प्रकार ये साम हैं॥ ४॥ और यह जो आदित्य की शुक्ल प्रभा है, वही ऋक् है एवं आदित्य में जो नील वर्ण अत्यन्त श्यामता है वह साम है। वह यह नीलवर्ण रूप साम इस शुक्ल रूप दीप्ति में अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है॥ ५॥ तथा यह जो आदित्य की शुक्ल प्रभा है वही 'सा' है और जो नीलवर्ण अत्यन्त कृष्णता है वही 'अम' है। ये दोनों मिलकर साम हैं, एवं यह जो आदित्य के मध्य में सुवर्ण के सदृश पुरुष दिखायी पड़ता है, जो सुवर्ण के समान दाढ़ी मूछें वाला और स्वर्ण के समान केशवाला है, एवं जो नख तक सभी अंग सुवर्ण सा है॥ ६॥ जैसे कप्यास (बानर की गुदा लाल) होती है वैसे ही लाल वर्ण वाले कमल के समान अत्यन्त तेजस्वी उसके नेत्र हैं। ऐसे उस आदित्य मण्डलस्थ पुरुष का 'उत्' ऐसा नाम है, क्योंकि वह सम्पूर्ण पापों (के सहित उनके कार्यों) से ऊपर उठा हुआ है। जो इस प्रकार जान लेता है वह सम्पूर्ण पापों से ऊपर उठ ही जाता है॥ ७॥

तस्यर्क् च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम्॥ ८॥ इति षष्ठः खण्डः॥ (६)॥

अथाध्यात्मं वागेवर्क् प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते। वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम॥ १॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते। चक्षुरेव सात्माऽमस्तत्साम॥ २॥

श्रोत्रमेवर्ङ्मनः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते। श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम॥ ३॥

उस देव के ऋक् और साम गेष्ण (पक्ष) हैं। इसीलिये वह देव उद्गीथ कहा गया है। अतएव उसका गायक उद्गाता कहा जाता है। क्योंकि वह इस (उत्) का ही गाने वाला है। वह यह 'उत्' नामक देव जो इस (आदित्य लोक) से ऊपर लोक हैं और जो इन देवताओं की कामनाएँ हैं उन सभी का शासक है। बस! यह अधिदैवत उद्गीथ उपासना कही गयी॥ ८॥

॥ इति षष्ठः खण्डः॥

अथ सप्तमः खण्डः

उद्गीथ सम्बन्धी अध्यात्म उपासनाएँ

अब अध्यात्म उपासना का वर्णन किया जाता है। वाक् ही ऋक् है और प्राण साम है। इस प्रकार इस (वाक्रूप) ऋक् में प्राणरूप साम अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का (आज भी) गान किया जाता है। वाक् ही "सा" है और प्राण ही 'अम' है, इस प्रकार ये साम हैं॥ १॥

नेत्र ही ऋक् है और जीवात्मा साम है। इस प्रकार इस ऋक् में यह साम बैठा है। इसलिये ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है। चक्षुः ही "सा" है और जीवात्मा ही "अम" है, एवं ये दोनों साम हैं॥ २॥

श्रोत्र ही ऋक् है और मन साम है। इस प्रकार इस (श्रोत्ररूपी) ऋक् में यह (मनरूप) साम बैठा है। अतः ऋक् में अधिष्ठित ही साम का गान किया जाता है। श्रोत्र ही "सा" है और मन ही "अम" है। इस प्रकार ये दोनों साम हैं॥ ३॥

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते। अथ यदेवै-तदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम॥ ४॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम॥ ५॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः॥ ६॥

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति देवकामाꣳश्च॥ ७॥

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति मनुष्यकामाꣳश्च तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात्॥ ८॥

तथा यह जो नेत्रों की शुक्लप्रभा है वही ऋक् है और जो नीलवर्ण अत्यन्त श्यामता है वह साम है। इस प्रकार इस ऋक् में यह साम स्थित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है तथा यह जो नेत्र की शुक्लदीप्ति है वही ''सा'' है और नीलवर्ण गहरी श्यामता है वही ''अम'' है। इस प्रकार ये दोनों साम हैं॥ ४॥

अध्यात्म एवं अधिदैव पुरुष की एकता

तथा यह जो नेत्रों के मध्य में पुरुष दीखता है वही ऋक् है, वही साम है, वही उक्थ है, वही यजुः है और वही ब्रह्म है। उस इस नेत्रस्थ पुरुष का वही रूप है जो उस सूर्य मण्डलस्थ पुरुष का है और जो उसके पक्ष हैं वे ही इसके भी पक्ष हैं, जो उसका नाम है वही इसका भी नाम है॥ ५॥ वह यह नेत्रस्थ पुरुष जो इस (अध्यात्म आत्मा) से नीचे के लोक हैं, उनका तथा मनुष्य सम्बन्धी काम का शासन करता है। अतः जो यह गायक लोग वीणा में गाते हैं वे उस ईश्वर का ही गान करते हैं। अतएव वे धनवान् हो जाते हैं॥ ६॥

अभेद दृष्टि से की गयी उक्त उपासना का फल

तथा जो दोनों की एकता समझ कर साम गान करता है वह (चाक्षुषआत्मा और आदित्यआत्मा) दोनों की स्तुति करता है, एवं वह उपासक उस आदित्य के ही द्वारा जो इससे भी ऊपर के लोक हैं और जो देवताओं के भोग हैं उन्हें भी प्राप्त कर लेता है ॥ ७॥ तथा इस चाक्षुष पुरुष के द्वारा ही जो इससे नीचे के लोक हैं, उन्हें एवं मानुषी कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। अतः इस प्रकार जानता हुआ उद्गाता (यजमान से इस प्रकार) कहे॥ ८॥

कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामगानस्येष्टे य एवं विद्वान्साम गायति साम गायति॥ ८॥ इति सप्तमः खण्डः॥ (७)॥

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति॥ १॥

तथेति ह समुपविविशुः स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचꣳश्रोष्यामीति॥ २॥

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच॥ ३॥

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच॥ ४॥

मैं तेरे लिए किन कामनाओं का आगान करूँ? क्योंकि यह उद्गाता इष्ट कामनाओं के आगान में समर्थ होता है। जो ऐसा जानता है वह सामगान करता है॥ ९॥

॥ इति सप्तमः खण्डः॥

अथाष्टमः खण्डः

अनेकधा दृष्टान्तों से उद्गीथ उपासना का उत्कर्ष प्रदर्शन

यह इतिहास प्रसिद्ध है कि शलावत का पुत्र शिलक, चिकितायन का पुत्र दाल्भ्य और जीवल का पुत्र प्रवाहण, ये तीनों ही उद्गीथ आदि के विज्ञान में कुशल थे। उन्होंने एक दूसरे से कहा—हम लोग उद्गीथ विद्या में कुशल हैं। अतः सब लोगों की सम्मति हो तो उद्गीथ विद्या के सम्बन्ध में परस्पर (पक्ष-प्रतिपक्ष के उपन्यास पूर्वक) विचार कहें॥ १॥ फिर वे "बहुत अच्छा" ऐसा कहकर बैठ गये, फिर जीवल के पुत्र प्रवाहण ने शेष दोनों के प्रति कहा। (कि ब्राह्मण होने के नाते) पहले आप दोनों पूज्य महानुभाव अपना विचार कहें और मैं आप दोनों ब्राह्मणों की कही हुई वाणी का श्रवण करूँगा॥ २॥ तत्पश्चात् शिलक शालावत्य ने चैकितायन दाल्भ्य से कहा कि यदि तुम अनुमति दो तो मैं तुमसे कुछ पूछूँ? उसने कहा, "पूछो"॥ ३॥ उद्गीथ रूप साम का आश्रय क्या है?—इसके उत्तर में "स्वर ही" उसका आश्रय है। स्वर की गति क्या है? प्रश्न के उत्तर में "प्राण" ऐसा कहा, क्योंकि स्वर प्राण से निष्पन्न होता है। प्राण की गति क्या है। ऐसा पूछने पर "अन्न" ऐसा उत्तर दिया और अन्न की गति क्या है? ऐसा पूछने पर दाल्भ्य ने "जल" है ऐसा कहा॥ ४॥

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच स्वर्गं वयं लोकꣳसामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसꣳस्तावꣳहि सामेति॥ ५॥

तꣳह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति॥ ६॥

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाचास्य लोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच प्रतिष्ठां वयं लोकꣳसामाभिसꣳस्थापयामः प्रतिष्ठासꣳस्तावꣳ हि सामेति॥ ७॥

तꣳह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच॥ ८॥ इत्यष्टमः खण्डः ॥ (८)॥

जल की गति क्या है? इस पर दाल्भ्य ने वह "लोक" ऐसा कहा, (क्योंकि उस लोक से ही वृष्टि होती है)। उस लोक की गति क्या है? उसके उत्तर में कहा स्वर्ग का अतिक्रमण सामको नहीं करना चाहिये। हम सामको स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित करते हैं, क्योंकि सामकी स्वर्गरूप से संस्तुति की गयी है। अतः स्वर्ग ही साम है॥ ५॥ उस चैकितायन दाल्भ्य से शालावत्य शिलक ने कहा हे दाल्भ्य! निश्चय ही तेरा साम परोवरीय रूप से असमाप्त गति वाला है। यदि इस समय कोई असहिष्णु सामवेत्ता अप्रतिष्ठित साम को प्रतिष्ठित कह दे कि "तेरा मस्तक पृथिवी पर गिर जाय" तो निस्सन्देह तेरा शिर गिर जाएगा॥ ६॥ साम की इस प्रतिष्ठा को मैं आप से ही जानना चाहता हूँ। इस पर शालावत्य ने कहा जान लो, तब उस लोक की गति क्या है? इसके उत्तर में शिलक ने कहा—"यह लोक", (क्योंकि यह लोक ही यागादि के द्वारा उस लोक का पोषक है)। फिर इसलोक का आश्रय क्या है? ऐसा पूछने पर "सम्पूर्ण प्राणियों की प्रतिष्ठा", प्रत्यक्ष सिद्ध पृथिवी लोक का अतिक्रमण साम को नहीं करना चाहिये। अतः हम प्रतिष्ठा भूत इस लोक में ही साम को भली प्रकार स्थित कराते हैं, क्योंकि साम की प्रतिष्ठा रूप से ही संस्तुति की गयी है॥ ७॥

तब शालावत्य से जैवलि प्रवाहण ने कहा हे शिलक! "तुम्हारा मस्तक गिर जाएगा" तो निश्चय ही तुम्हारा मस्तक गिर गया होता। शालावत्य ने कहा—मैं इसे आपसे जानना चाहता हूँ। तब प्रवाहण ने जान लो, ऐसा उत्तर दिया॥ ८॥

॥ इत्यष्टमः खण्डः॥

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्॥ १ ॥

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्परोवरीयाः- समुद्गीथमुपास्ते॥ २॥

तꣳहैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति॥ ३॥

तथामुष्मिँल्लोके लोक इति स य एतदेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके जीवनं भवति तथामुष्मिँल्लोके लोक इति लोके लोक इति॥ ४॥ इति नवमः खण्डः॥ (९)॥

अथ नवमः खण्डः

शिलक के मत में आकाश सबका आश्रय माना गया है

इस लोक का आश्रय क्या है? इस पर प्रवाहण ने कहा कि सर्वाभिन्न आकाश रूप परमात्मा ही आश्रय है, क्योंकि यह समस्त भूत आकाशरूप परमात्मा से उत्पन्न होते हैं। आकाश में ही लीन होते हैं और आकाश ही इनसे बड़ा है। अतएव आकाश ही इनका आश्रय है॥ १॥

इस उद्गीथ की उत्कृष्टता और उपासना का परिणाम

वह यह उद्गीथ ही श्रेष्ठ से श्रेष्ठ है। अतः यह अनन्त भी है, जो इस प्रकार इसे जानकर इस परमात्मरूप अनन्त उद्गीथ की उपासना करता है, उस विद्वान् का (जीवन उत्तरोत्तर) उत्कृष्टतर हो जाता है और वह विद्वान् उत्तरोत्तर ब्रह्माकाश तक विशिष्ट लोकों को जीत लेता है॥ २॥ (इस उद्गीथ को जानने वाले) अतिधन्वा शौनक ने इस उद्गीथ का उदर शाण्डिल्य के प्रति निरूपण कर उससे कहा, जब तक तेरी प्रजा में से इस उद्गीथ को जानेंगे तब तक इस लोक में उनका जीवन उत्तरोत्तर इन प्रसिद्ध लौकिक जीवनों की अपेक्षा उत्कृष्टतर होता जायेगा॥ ३॥ तथा उस (अदृष्ट) परलोक में भी उसे उत्कृष्टतर लोक की प्राप्ति होगी। जो इस प्रकार जानने वाला पुरुष इसकी उपासना करता है उसका जीवन निश्चय ही इस लोक में उत्कृष्टतर होता है तथा परलोक में भी उसे विशिष्टतर लोक मिलता है। उसे (उत्तरोत्तर उत्कृष्ट) लोक प्राप्त होता है॥ ४॥

॥ इति नवमः खण्डः॥

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास॥ १ ॥

स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तं बिभिक्षे तꣳहोवाच। नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति॥ २ ॥

एतेषां मे देहीति होवाच तानस्मै प्रददौ हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीतꣳस्यादिति होवाच॥ ३ ॥

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच कामो म उदपानमिति॥ ४ ॥

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार साग्र एव सुभिक्षा बभूव तान्प्रतिगृह्य निदधौ॥ ५ ॥

अथ दशमः खण्डः

उषस्ति चाक्रायण का आख्यान

वज्रपात से आहत कुरुदेश के महावत के ग्राम में (सर्वथा स्तनादि स्त्री जनोचित चिह्नादि से रहित अल्पवयस्क) पत्नी के साथ चक्र का पुत्र उषस्ति (दुर्भिक्ष हो जाने के कारण) दुरवस्था में रहता था॥ १ ॥ उसने कुत्सित उड़द खाते हुए एक महावत से माँगा? तब महावत ने उषस्ति से कहा, इन जूठे उड़दों के सिवा मेरे पास और उड़द नहीं है। जो एकत्रित थे वे सभी मेरे इन पात्र में रखे हुए हैं। (अतः अब मैं क्या करूँ? और आपकी माँग को कैसे पूरा करूँ)॥ २ ॥ उषस्ति ने कहा—तुम मुझे इन उड़दों को ही दे दो। तब महावत ने उषस्ति को वे उड़द दे दिये (और पास के जल को देखकर कहा कि भाई) 'यह अनुपान भी ले लो'। इस पर उषस्ति ने कहा, यदि मैं इस जल को पीऊँगा तो निश्चय ही मुझसे उच्छिष्ट जल पीना माना जायगा॥ ३ ॥ महावत ने कहा, क्या ये उड़द जूठे नहीं हैं? सुनकर उषस्ति ने कहा कि 'भाई! इन उड़दों को खाये बिना जीवित नहीं रह सकता था, पर जलपान तो मुझे इच्छानुसार मिल जाता है। (अतः जीवनरक्षणार्थ उच्छिष्ट अन्न का भोजन दोषावह नहीं है)॥ ४ ॥' उषस्ति ने उन उड़दों को खाकर शेष अपनी आटिकी पत्नी के लिये ले आया पर वह तो उसके आने से पूर्व ही पर्याप्त अन्न प्राप्त कर चुकी थी (फिर भी पति के आदर के लिये) उन जूठे उड़दों को उनके हाथ से लेकर रख लिया॥ ५ ॥

स ह प्रातः संजिहान उवाच यद्बतान्नस्य लभेमहि लभेमहि धनमात्राꣳराजासौ यक्ष्यते स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति॥ ६॥

तं जायोवाच हन्त पत इम एव कुल्माषा इति तान्खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय॥ ७॥

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥ ८॥

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति॥ ९॥

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति॥ १०॥

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ते ह समारतास्तूष्णीमासांचक्रिरे॥ ११॥ इति दशमः खण्डः॥ (१०)॥

उषस्ति ने प्रातः काल निद्रा त्यागने के अनन्तर (अपनी पत्नी को सुनाते हुए कहा) भूख से पीड़ित हमें थोड़ा अन्न मिल जाय, तो उसे खाकर समर्थ हो हम थोड़ा धन प्राप्त कर लेते, क्योंकि वह राजा यज्ञ करेगा और समस्त ऋत्विक् कर्मों के लिए मुझ विद्वान् का अवश्य वरण करेगा॥ ६॥ उषस्ति से उसकी पत्नी ने कहा, हे स्वामिन्! आपके दिये हुए ये उड़द विद्यमान हैं उन्हें ही लीजिये। उषस्ति उन्हें खाकर राजा के उस विस्तृत यज्ञ में गया॥ ७॥ वहाँ जाकर आस्ताव (प्रस्तोतागण के स्तुति करने योग्य) स्थान में स्तुति करने वाले उद्गाताओं के समीप बैठ गया और प्रस्तोता से कहा॥ ८॥ हे प्रस्तोतः! जो देवता प्रस्ताव भक्ति में अनुगत है, यदि तुम उसे जाने बिना उसका प्रस्तवन करेगा तो मस्तक गिर जायगा। (भाव यह कि देवता ज्ञानियों के समक्ष देव अज्ञानी कर्म न करावे, उसके परोक्ष में कर्म कराने का देवता के न जाननेवालों का भी अधिकार है)॥ ९॥ ऐसे ही उषस्ति ने उद्गाता से भी कहा, हे उद्गातः! जो देवता उद्गीथ में अनुगत है, यदि तुम उसे जाने बिना उद्गान करोगे, तो तेरा मस्तक गिर जायगा॥ १०॥ ऐसे ही प्रति-हर्ता से कहा, हे प्रतिहर्तः! जो देवता प्रतिहार में अनुगत है, यदि तुम उसे जाने बिना प्रतिहरण करोगे, तो तेरा मस्तक गिर जायगा। तब वे प्रस्तोतादि (मस्तक गिर जाने के भय से) अपने-अपने कर्मों से उपरत हो चुपचाप बैठ गये॥ ११॥

॥ इति दशमः खण्डः॥

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच॥ १॥

स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्यैशिषं भगवतो वा अहमवित्त्यान्यानवृषि॥ २॥

भगवाꣳस्त्वेव मे सर्वैरात्विज्यैरिति तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति तथेति ह यजमान उवाच॥ ३॥

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति॥ ४॥

अथैकादशः खण्डः

राजा और उषस्ति का संवाद

उसके बाद उस उषस्ति से यजमान राजा ने कहा, मैं भगवन् (आप) को जानना चाहता हूँ॥ १॥ उसपर यजमान ने कहा, मैंने सम्पूर्ण ऋत्विक् कर्मों के लिये आपकी खोज की थी। पर आपको न प्राप्त कर ही मैंने दूसरे ऋत्विजों का वरण किया था॥ २॥ अब भी सम्पूर्ण ऋत्विक् कर्मों के लिये श्रीमान् ही रहें? राजा की बात सुनकर उषस्ति ने कहा, 'ठीक है', और फिर यह भी कहा कि वे ऋत्विक्‌गण मेरे द्वारा प्रसन्नता से आज्ञा प्राप्त कर स्तुति करें। याद रखो! इन सम्पूर्ण प्रस्तोता आदि को जितना धन दोगे, उतना ही धन मुझे देना। तब यजमान ने कहा ऐसा ही होगा॥ ३॥

प्रस्ताव देवता के विषय में प्रस्तोता का प्रश्न

उसके बाद उषस्ति के पास विनम्र भाव से प्रस्तोता गया, (और बोला) आपने जो मुझसे कहा था कि हे प्रस्तोतः! जो देवता प्रस्ताव में अनुगत है यदि तू उसे जाने बिना ही प्रस्तवन करेगा, जो तेरा मस्तक गिर जायगा। अतः वह देवता कौन है? (जो प्रस्ताव भक्ति में अनुगत है)॥ ४॥

प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ५ ॥

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ६ ॥

आदित्य इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुदगास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ७ ॥

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ८ ॥

प्रस्ताव में अनुगत देवता प्राण है

''वह देवता प्राण है'' ऐसा उषस्ति ने कहा, क्योंकि ये सभी चराचर भूत प्रलय काल में प्राण में ही प्रवेश कर जाते हैं और फिर प्राण से ही उत्पन्न होते हैं। अतः वह यह प्राण देवता ही प्रस्ताव में अनुगत है। यदि तू बिना जाने ही प्रस्ताव भक्ति करता तो मेरे इस प्रकार कहे जाने पर तेरा मस्तक अवश्य गिर जाता॥ ५॥

उद्गाता का प्रश्न

तदनन्तर उषस्ति के समीप उद्गाता गया और कहा, मुझसे जो आपने कहा था कि हे उद्गातः! जो देवता उद्गीथ में अनुगत है यदि उसे जाने बिना ही उसका उद्गान करेगा, तो तेरा मस्तक गिर जायगा। (इसपर उद्गाता ने भी पूछा कि) वह देवता कौन है?॥ ६॥

उद्गीथानुगत देवता आदित्य है

इस प्रकार पूछे जाने पर ''वह देवता आदित्य है'' ऐसा उषस्ति ने कहा, क्योंकि ये सभी चराचर प्राणी ऊपर विद्यमान् आदित्य का ही गान करते हैं। वह यह आदित्य देवता ही उद्गीथ में अनुगत है। यदि तू उसे बिना जाने ही उद्गान करता, तो मेरे द्वारा उस प्रकार कहे जाने पर तेरा मस्तक गिर जाता॥ ७॥

प्रतिहर्ता का प्रश्न

पुनः प्रतिहर्ता उषस्ति के पास आया (और कहा) आपने मुझसे जो कहा था, हे प्रतिहर्तः! जो प्रतिहार में अनुगत देवता है, यदि उसे जाने बिना ही तू प्रतिहरण करोगा, तो तेरा मस्तक गिर जायगा। अतः वह प्रतिहार में अनुगत देवता कौन है?॥ ८॥

अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ॥ ९ ॥ इत्येकादशः खण्डः ॥ (११)॥

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज ॥ १ ॥

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥ २ ॥

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयांचकार ॥ ३ ॥

प्रतिहारानुगत देवता अन्न है

इस प्रकार पूछे जाने पर उषस्ति ने कहा वह देवता अन्न है। क्योंकि ये सम्पूर्ण चराचरे प्राणी अपने लिये अन्न का ही हरण करते हुए ज़ीवित रहते हैं। वह यह अन्न देवता प्रतिहार में अनुगत है। यदि तू उसे जाने बिना ही प्रतिहरण करता, तो मेरे द्वारा उक्त प्रकार से कहे जाने पर निश्चय ही तेरा मस्तक गिर जाता ॥ ९ ॥

॥ इत्येकादशः खण्डः ॥

अथ द्वादशः खण्डः

शौवसाम का उपाख्यान

उसके बाद अब अन्न प्राप्ति के लिये श्वानों द्वारा देखे गये उद्गीथ का आरम्भ किया जाता है। वहाँ प्रसिद्ध है, कि (पुराकाल में) दल्भ का पुत्र बक, या मित्रा का पुत्र ग्लाव स्वाध्याय करने के लिये (एकान्त देश में स्थित) जलाशय के समीप गया ॥ १ ॥ उस ऋषि के समीप (स्वाध्याय से संतुष्ट हो देवता या ऋषि) श्वेत कुत्ता बनकर प्रकट हुआ। उसके पास दूसरे कुत्तों ने आकर कहा भगवन्! आप हमारे लिये अन्न का आगान करें, क्योंकि हम निश्चय ही भूखे हैं॥ २॥ उन छोटे छोटे कुत्तों से श्वेत कुत्ते ने कहा तुम प्रातः काल इसी स्थान पर मेरे पास आना। तब दाल्भ्य बक या मैत्रेय ग्लाव नामक ऋषि उसी स्थान पर प्रतीक्षा करता रहा॥ ३ ॥

ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः सꣳरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हिंचक्रुः ॥ ४ ॥

ओ३मदा३मों३पिबा३मों३देवो वरुणः प्रजापतिः सविता२ऽन्नमिहा२ऽऽहरदन्नपते३ऽन्नमिहा२ऽऽहरा२ऽऽहरो३मिति ॥ ५ ॥ इति द्वादशः खण्डः ॥ (१२) ॥

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा अथकार आत्मेह-कारोऽग्निरीकारः ॥ १ ॥

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोइकारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग्विराट् ॥ २ ॥

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुंकारः ॥ ३ ॥

उन कुत्तों ने (वहाँ ऋषि के सामने आकर) जैसे कर्म में बहिष्पवमान् स्तोत्र से स्तवन करने वाले उद्गाता लोग एक दूसरे से मिलकर चलते हैं वैसे ही (मुँह से एक दूसरे की पूँछ पकड़ कर) भ्रमण किया और वहाँ बैठ कर हिंकार किया ॥ ४ ॥

श्वानों द्वारा किया गया हिंकार

ओं हम खाते हैं, ओं हम पीते हैं, ओं देवता, वरुण, प्रजापति, सूर्यदेव हमारे लिये यहाँ पर अन्न लावें। हे अन्नपते! (सम्पूर्ण अन्न का जनक होने से वही अन्नपति है) तुम हमारे लिये यहाँ अन्न लाओ। अन्न लाओ ॥ ५ ॥

॥ इति द्वादशः खण्डः ॥

अथ त्रयोदशः खण्डः

साम के अवयव स्तोभाक्षर की उपासना

यह लोक ही (रथन्तर साम में प्रसिद्ध) 'हा' उकार स्तोभ है। वायु 'हा' इकार है, चन्द्रमा अथकार है, आत्मा इहकार है, और अग्नि ईकार है ॥ १ ॥ आदित्य ऊकार है, निहव (आह्वान) एकार है, विश्वेदेव औहोइकार है। प्रजापति हिंकार है, तथा प्राण स्वर है, अन्न या है एवं विराट वाक् है ॥ २ ॥ (अव्यक्त होने के कारण विशेष रूप से) जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता और जो कार्य रूप से संचार करने वाला है, वह तेरहवाँ स्तोभ हुँकार है ॥ ३ ॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतामेवꣳसाम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद इति॥ ४॥ इति त्रयोदशः खण्डः॥ (१३)॥ इति प्रथमः प्रपाठकः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनꣳसाधु यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति॥ १॥

तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः॥ २॥

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुरसाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः॥ ३॥

उक्त उपासनाओं का फल

जो इस प्रकार सामावयव रूप स्तोभाक्षर सम्बन्धिनी उपनिषद् को जानता है, उसे वाणी, जो उस वाणी का फल है, उस फल को देती है, एवं वह अन्नवान् और अन्न भक्षण करने वाला होता है। 'उपनिषदं वेद' इस शब्द की आवृत्ति अध्याय समाप्ति के लिये की गयी है॥ ४॥

॥ इति प्रथमाध्यायः त्रयोदशः खण्डः॥

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमः खण्डः

सर्वावयव विशिष्ट साम की साधु दृष्टि से उपासना

ओं समस्त (पाञ्चभक्तिक और साप्तभक्तिक) साम की उपासना निश्चय ही साधु है। जो साधु है वही साम है और जो असाधु होता है वह साम नहीं है (अर्थात् समस्त साम में साधुता है अवयव में नहीं) ऐसा इसे साम रहस्यविद् कहते हैं ॥ १॥ इसी विषय में विवेक करके कहते हैं (जब यह कहा जाता है कि) वह राजा आदि के पास साम रूप से गया, तो लोग यही कहते हैं कि वह पुरुष राजा या सामन्त के पास साधु भाव से गया (और जहाँ इसके विपरीत बन्धनादि असाधु कार्य देखते हैं, वहाँ ये ऐसा कहते हैं) वह इसके पास असाम रूप से गया अर्थात् वह इसके यहाँ अशोभन अप्रिय रूप से गया॥ २॥ इसके बाद ऐसा भी कहते हैं कि हमारा साम हुआ अर्थात् जो शुभ होता है तो अहा! यह साधु है, ऐसा कहा जाता है और ऐसा भी कहते हैं हमारा असाम हुआ। अर्थात् अशुभ होने पर "अरे बुरा हो गया" ऐसा कहते हैं (अतः साम और साधु शब्द समानार्थ सिद्ध हुए)॥ ३॥

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳसाधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः॥ ४॥ इति प्रथमः खण्डः॥ (१)॥

लोकेषु पञ्चविधꣳसामोपासीत पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु॥ १॥

अथावृत्तेषु द्यौर्हिंकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम्॥ २॥

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधꣳसामोपास्ते॥ ३॥ इति द्वितीयः खण्डः॥ (२)॥

वृष्टौ पञ्चविधꣳसामोपासीत पुरोवातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः॥ १॥

इसे इस प्रकार जानने वाला जो वह पुरुष "साम साधु है" ऐसी ही उपासना करता है, उसके पास शास्त्रसम्मत जो साधु धर्म है वे अतिशीघ्र आ जाते हैं और उसके प्रतिविनम्र भाव भी आ जाते हैं॥ ४॥

॥ इति प्रथमः खण्डः॥

अथ द्वितीयः खण्डः

लोक में पंचविध साम की उपासना

लोक में पाँच प्रकार साम की उपासना करें। पृथिवी हिंकार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, आदित्य प्रतिहार और द्युलोक निधन है। इस प्रकार ऊपर के लोकों में लोक दृष्टि की जाने वाली उपासना बतलायी गयी है॥ १॥

अधो लोक में पाँच प्रकार की सामोपासना

इसके बाद अधोमुख लोकों में सामोपासना बतलायी जाती है। द्युलोक हिंकार है, आदित्य प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, अग्नि प्रतिहार है और पृथिवी निधन है ॥ २॥ जो इस उपासना को इस प्रकार जानता है, वह जानने वाला पुरुष लोकों में पंचविध समस्त साम की उपासना करता है, उसके प्रति ऊर्ध्व मुख और अधो-मुख लोक भोग्य रूप से उपस्थित होते हैं॥ ३॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः॥

अथ तृतीयः खण्डः

वृष्टि में पाँच प्रकार की उपासना

वृष्टि में पाँच प्रकार की साम की उपासना करें। पूर्व वायु हिंकार है और जो मेघ उत्पन्न होता है वही प्रस्ताव है। मेघ बरसता है यही श्रेष्ठता के कारण उद्गीथ है, बिजली कड़कती है यही प्रतिहार है॥ १॥

उद्गृह्णाति तन्निधनं वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधꣳसामोपास्ते॥ २॥ इति तृतीयः खण्डः ॥ (३)॥

सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳसामोपासीत मेघो यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम्॥ १ ॥

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳसामोपास्ते॥ २॥ इति चतुर्थः खण्डः॥ (४)॥

ऋतुष पञ्चविधꣳसामोपासीत वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम्॥ १ ॥

बादल जल ग्रहण करता है यह निधन है, जो इस प्रकार जानने वाला पुरुष वृष्टि में पाँच प्रकार के साम की उपासना करता है, उसके लिये वर्षा होती है और वह स्वयं भी वर्षा करा लेता है॥ २॥

॥ इति तृतीयः खण्डः॥

अथ चतुर्थः खण्डः

जलों में पाँच प्रकार की सामोपासना

सब प्रकार के जलों में पंचविध साम की उपासना करें। मेघ जो घनीभूत होता है वह हिंकार है, वह जो बरसता है, वह प्रस्ताव कहा गया है। जो नदियाँ पूर्व की ओर बहती हैं वह उद्गीथ है और जो पश्चिम की ओर बहती हैं वह प्रतिहार है तथा समुद्र इसका निधन है, (क्योंकि उसी में इसका विलय होता है)॥ १॥ जो इसे इस प्रकार जानने वाला पुरुष सभी जलों में पंचविध साम की उपासना करता है (वह इच्छा न करने पर) जल में नहीं मरता और जल से सम्पन्न हो जाता है॥ २॥

॥ इति चतुर्थः खण्डः॥

अथ पञ्चमः खण्डः

ऋतुओं में पंचविध साम की उपासना

ऋतुओं में पाँच प्रकार के साम की उपासना करें। वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, (क्योंकि वर्षा के लिये अन्न संग्रह का प्रस्ताव किया जाता है) प्रधानता के कारण वर्षा उद्गीथ है, शरद प्रतिहार है और हेमन्त ऋतु निधन है॥ १॥

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधꣳसामोपास्ते॥ २॥ इति पञ्चमः खण्डः॥ (५)॥

पशुषु पञ्चविधꣳसामोपासीताजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम्॥ १॥

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्पशुषु पञ्चविधꣳसामोपास्ते॥ २॥ इति षष्ठः खण्डः॥ (६)॥

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत प्राणो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनं परोवरीयाꣳसि वैतानि॥ १॥

जो इसे इस प्रकार जानकर ऋतुओं में पंचविध साम की उपासना करता है उसे ऋतुएँ अपने अनुरूप भोग देती हैं और वह ऋतु सम्बन्धी भोगों से सम्पन्न हो जाता है॥ २॥

॥ इति पञ्चमः खण्डः॥

अथ षष्ठः खण्डः

पशुओं में पंचविध साम की उपासना

पशुओं में पाँच प्रकार के साम की उपासना करें। बकरे हिंकार हैं, बकरे के सहचर होने से भेड़ें प्रस्ताव हैं और सर्वश्रेष्ठ गौवें उद्गीथ हैं, (वहन करने के कारण) अश्व प्रतिहार है और (आश्रय होने से) पुरुष निधन है ॥ १॥ जो इसे इस प्रकार जानने वाला पुरुष पशुओं में पंचविध साम की उपासना करता है, उसे पशु प्राप्त होते हैं और वह पशुप्राप्ति जन्य फल भोग एवं दानादि सामर्थ्य से युक्त हो जाता है॥ २॥

॥ इति षष्ठः खण्डः॥

अथ सप्तमः खण्डः

प्राणों में पंचविध साम की उपासना

प्राणों में पाँच प्रकार के परोवरीय (उत्तरोत्तर श्रेष्ठ गुणवान् प्राण दृष्टि से विशिष्ट) साम की उपासना करें। उनमें घ्राणेन्द्रिय हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, (क्योंकि वाणी से सबका प्रस्ताव किया जाता है और वाणी प्राण से श्रेष्ठ है) चक्षु उद्गीथ है, (वाणी से भी अधिक विषय के प्रकाशक होने से चक्षु वाणी से श्रेष्ठ है) श्रोत्र प्रतिहार है, (क्योंकि सभी ओर से शब्द श्रवण होने के कारण नेत्र की अपेक्षा श्रवण उत्कृष्ट है) मन निधन है, (क्योंकि इन्द्रियों द्वारा उपस्थित विषय मन में रखे जाते हैं)। ये उपासनाएँ निश्चय ही उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर हैं॥ १॥

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य॥ २॥ इति सप्तमः खण्डः॥ (७)॥

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधꣳसामोपासीत यत्किंच वाचो हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः॥ १॥

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम्॥ २॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधꣳ सामोपास्ते॥ ३॥ इत्यष्टमः खण्डः ॥ (८)॥

अथ खल्वमुमादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपासीत सर्वदा समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम॥ १॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिंकुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ २॥

जो पुरुष इस प्राण दृष्टि से विशिष्ट परोवरीय साम का जानने वाला प्राणों में पाँच प्रकार के उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर साम की उपासना करता है उसका जीवन निश्चय ही उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर होता जाता है और वह परोवरीय लोकों को जीत लेता है। यह पाँच प्रकार की सामोपासना का निरूपण किया गया॥ २॥

॥ इति सप्तमः खण्डः॥

अथाष्टमः खण्डः

वाणी में सप्तविध साम उपासना

इसके बाद सप्तविध समस्त साम की उपासना आरम्भ की जाती है। वाक् दृष्टि से विशिष्ट सात प्रकार के साम की उपासना करनी चाहिये। वाणी में जो कुछ "हुँ" ऐसा स्वरूप है वह हिंकार है, (क्योंकि हुँ और हिंकार में हकार की समानता है) जो कुछ "प्र" ऐसा शब्द स्वरूप है वह प्रस्ताव है, (क्योंकि उन दोनों में "प्र" शब्द की समानता है) तथा जो कुछ "आ" ऐसा शब्द स्वरूप है वह आकार में समता के कारण आदि (ओंकार) है॥ १॥ जो कुछ "उत्" ऐसा शब्द है वह उद्गीथ है, जो कुछ "प्रति" ऐसा शब्द है वह प्रतिहार है। जो कुछ "उप" ऐसा शब्द है वह उपद्रव है और जो कुछ "नि" ऐसा शब्द स्वरूप है वह निधन है (इन सबकी समानता स्पष्ट है)॥ २॥

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशꣳसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ३ ॥

अथ यत्सङ्गववेलायाꣳस आदिस्तदस्य वयाꣳस्यन्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्बणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः ॥ ४ ॥

अथ यत्संप्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ५ ॥

जो इसे इस प्रकार जानने वाला पुरुष वाणी में सप्तविध सामकी उपासना करता है, तो जो कुछ वाणी का सार है उसे वाणी उस उपासक को दे देती है तथा वह प्रचुर अन्न से सम्पन्न और अन्न का भोक्ता हो जाता है॥ ३ ॥

॥ इत्यष्टमः खण्डः ॥

अथ नवमः खण्डः

आदित्य दृष्टि से सप्तविध साम की उपासना

इसके बाद अब निश्चय ही आदित्य दृष्टि से विशिष्ट इस सात प्रकार के साम की उपासना करनी चाहिये। (वृद्धि और क्षय से रहित होने के कारण) आदित्य सर्वदा सम है इसी कारण से यह साम है। मेरे प्रति इस प्रकार वह सब में समान बुद्धि उत्पन्न करता है, (क्योंकि सभी प्राणी उसे सन्मुख देखते हैं) अतः इसी समता के कारण वह साम है॥ १ ॥ उस आदित्य में ये सभी भूत अनुगत हैं, ऐसा जानो। उस आदित्य के उदय से पूर्ववर्ती जो धर्मरूप है वह हिंकार है, सूर्य के उसी हिंकार रूप में पशु अनुगत है, इसीलिये वे पशु सूर्योदय से पूर्व हिंकार शब्द करते हैं। अतः वे पशु इस आदित्य नामक साम के (सेवन में तत्पर हुए) हिंकार के पात्र हैं॥ २ ॥ तथा सूर्य के प्रथम उदय होने पर जो रूप होता है वह प्रस्ताव है, इसके उस रूप के अनुगामी मनुष्य हैं। इसलिये वे प्रस्तुति (प्रत्यक्ष स्तुति) और प्रशंसा (परोक्ष स्तुति) की कामना करते हैं, क्योंकि वे इस साम के प्रस्ताव का भजन करने वाले हैं॥ ३ ॥ तदनन्तर आदित्य का संगम वेला (सूर्योदय के तीन मुहूर्त के बाद) में और रूप रहता है वह आदि का (ओंकार) है। आदित्य के उस रूप के अनुगामी पक्षीगण हैं, क्योंकि वे इस साम के आदि रूप के भक्त हैं। इसीलिये वे अन्तरिक्ष में अपने को बिना आश्रय के ही सब ओर ले जाते हैं॥ ४॥ अब मध्याह्न में आदित्य का जो रूप होता है वह उद्गीथ है, इसके उस रूप के अनुगामी देवता लोग हैं, इसीलिये वे प्रजापति के पुत्रों में विशिष्टतम हैं, क्योंकि वे इस साम की उद्गीथ भक्ति के भाजन हैं॥ ५॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यंदिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ६ ॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षꣳश्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ७ ॥

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्यꣳसप्तविधꣳसामोपास्ते ॥ ८ ॥ इति नवमः खण्डः ॥ (९) ॥

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳसामोपासीत हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ १ ॥

और आदित्य का जो रूप मध्याह्न के पश्चात् और अपराह्न से पूर्व होता है वह प्रतिहार है इसके उस रूप के अनुगामी गर्भ हैं। अतः वे सूर्य की प्रतिहार भक्तिरूप से और ऊपर आकृष्ट किये जाने पर नीचे नहीं गिरते, क्योंकि गर्भ इस साम की प्रतिहार भक्ति के भाजन हैं ॥ ६ ॥ तथा अपराह्न के पश्चात् जो सूर्यास्त से पूर्व आदित्य का रूप होता है वह उपद्रव है, इसके उस रूप के अनुगामी वन्य पशु हैं। इसीलिये पुरुष को देखकर वे भयभीत हो वन में या गुहा में भाग जाते हैं, क्योंकि वे इस साम की उपद्रव भक्ति के भाजन हैं ॥ ७ ॥ और जो सूर्यास्त से पूर्व आदित्य का रूप होता है वह निधन है। इसके उस रूप के अनुगामी पितृगण हैं, इसीलिये ये (श्राद्ध काल में) उन्हें (पिता पितामहादि रूप से दर्भों पर) स्थापित करते हैं, क्योंकि वे पितृगण निश्चय ही इस साम की निधन भक्ति के भागी हैं। इस प्रकार इस आदित्य दृष्टि से विशिष्ट सप्तविध सामकी उपासना जो करता है (उसे आदित्य रूपता की प्राप्ति होती है) ॥ ८ ॥

॥ इति नवमः खण्डः ॥

अथ दशमः खण्डः

मृत्यु से अतीत सप्तविध सामोपासना

अब निश्चय ही यह बतलाना उचित है कि अपने समान अक्षरों वाले मृत्यु से पार गामी सप्तविध साम की उपासना करे। उनमें ''हिंकार'' यह तीन अक्षरों वाला है और (प्रस्ताव) यह भी तीन अक्षरों वाला है। अतः यह पहले नाम के समान है ॥ १ ॥

आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत इहैकं तत्समम्॥ २॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम्॥ ३॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि ह वा एतानि द्वाविꣳशतिरक्षराणि॥ ४॥

एकविꣳशत्यादित्यमाप्नोत्येकविꣳशो वा इतोऽसावादित्यो द्वाविꣳशेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम्॥ ५॥

आप्नोतीहादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति य एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳ सामोपास्ते सामोपास्ते॥ ६॥ इति दशमः खण्डः॥ (१०)॥

'आदि' यह दो अक्षरों वाला नाम है, (क्योंकि सात प्रकार के साम की संख्या पूर्ति में ओंकार को आदि वाला कहा गया है) तथा 'प्रतिहार' यह चार अक्षरों वाला नाम है, इसमें से एक अक्षर निकाल कर आदि के दो अक्षरों में लिया है, तो दोनों नाम समान अक्षर वाले हो जाते हैं॥ २॥ ''उद्गीथ'' यह तीन अक्षरों वाला नाम है और ''उपद्रव'' यह चार अक्षरों का नाम है। ये दोनों तीन-तीन अक्षरों में समान हैं, किन्तु एक अक्षर बढ़ता है। (अतः विषमता को दूर करने के लिये) वह एक होने पर भी ''अक्षर'' है। इसलिये वह नाम भी तीन अक्षरों वाला ही है, ऐसा अर्थ कर लेने पर वह भी उन्हीं के समान है॥ ३॥ ''निधन'' यह तीन अक्षरों वाला नाम है। अतः यह उनके समान ही है (इस प्रकार तीन तीन अक्षरों में समानता होने से उनमें सामत्व है और अक्षरों की गणना से) वे ही ये सात भक्तियों के बाईस अक्षर हैं॥ ४॥ वहाँ एक्कीस अक्षरों द्वारा साधक आदित्य लोक रूप मृत्यु को प्राप्त करता है, (क्योंकि बारह महीने, पाँच ऋतु, तीन लोक और एक्कीसवाँ यह आदित्य लोक, इस श्रुति में) इस लोक से आदित्य निश्चय ही एक्कीसवाँ है। शेष बाईसवें अक्षर द्वारा वह मृत्यु मुख आदित्य लोक से परे दुःख एवं शोक रहित लोक को प्राप्त कर लेते हैं॥ ५॥ (वह पुरुष एक्कीस अक्षरों द्वारा) आदित्य लोक की जय प्राप्त करता है और बाईसवें अक्षर से उसे आदित्य जय की अपेक्षा भी उत्कृष्ट जय प्राप्त होती है, जो इसे इस प्रकार जानने वाला पुरुष अपने समान अक्षर वाले और मृत्यु से अतीत सप्तविध साम की उपासना करता है, सप्तविध साम की उपासना करता है॥ ६॥

॥ इति दशमः खण्डः॥

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्॥ १ ॥

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामनाः स्यात्तद्व्रतम्॥ २ ॥ इत्येकादशः खण्डः॥ (११)॥

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनꣳ सꣳशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम्॥ १ ॥

अथैकादशः खण्डः

गायत्र नामक साम की उपासना

(सम्पूर्ण इन्द्रियों में प्रथम होने से) मन हिंकार है (उसके पश्चाद्वर्ती) वाक् प्रस्ताव है, चक्षु उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है तथा प्राण निधन है। (क्योंकि सुषुप्ति में पूर्वोक्त इन्द्रियादि प्राण में लीन होते हैं) यह गायत्र संज्ञक साम प्राणों में प्रतिष्ठित है। (क्योंकि गायत्री की प्राण रूप से स्तुति की गयी है) ॥ १ ॥ वह जो इस प्रकार गायत्र संज्ञक साम को प्राण में प्रतिष्ठित जानता है वह अविकल इन्द्रियवान् होता है, पूर्ण आयु (सौ वर्ष) उपभोग करता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओं से महान् होता है और कीर्ति के कारण भी महान् होता है। वह उदार हृदय वाला होवे, यही उसका व्रत है ॥ २ ॥

॥ इत्येकादशः खण्डः ॥

अथ द्वादशः खण्डः

रथन्तर सामोपासना

(सर्व प्रथम होने के कारण जो अग्नि का) अभिमंथन करता है वह हिंकार है। धूम उत्पन्न होता है वह प्रस्ताव है। अग्नि प्रज्ज्वलित होती है वह उद्गीथ है। अंगार होते हैं वह प्रतिहार है। (क्योंकि अंगारों का प्रतिहरण किया जाता है) और शान्त होने लगता है वह निधन है। तथा सर्वथा शान्त हो जाता है यह भी निधन है। यह रथन्तर साम अग्नि में ओतप्रोत है। (क्योंकि अग्निमंथन में यह गाया जाता है) ॥ १ ॥

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम्॥ २॥ इति द्वादशः खण्डः॥ (१२)॥

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रतिस्त्री सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम्॥ १॥

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनीभवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न कांचन परिहरेत्तद्व्रतम्॥ २॥ इति त्रयोदशः खण्डः॥ (१३)॥

वह जो इस प्रकार इस रथन्तर साम को अग्नि में व्याप्त जानता है वह ब्रह्मतेज से सम्पन्न और अन्न का भोक्ता होता है, पूर्ण जीवन का उपभोग करता है। उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है। प्रजा और पशुओं के कारण महान् होता है। अग्नि की ओर मुख करके कुछ भी भक्षण न करे और न कफ का ही त्याग करे, यह व्रत है॥ २॥

॥ इति द्वादशः खण्डः॥

अथ त्रयोदशः खण्डः

वामदेव्य सामोपासना

(अवाच्य कर्म में प्रवृत्त उत्तराधर अरणी स्थानीय स्त्री पुरुष में मंथन सामान्य दृष्टि विधान के अनन्तर मैथुन दृष्टि का विधान किया गया है। पुरुष जो स्त्री को) संकेत करता है वह हिंकार है। वस्त्राभूषण से प्रसन्न करता है वह प्रस्ताव है। एक शय्या पर गमन करता है वह उद्गीथ है। स्त्री के सन्मुख होता है वह प्रतिहार है और मैथुन के द्वारा कामना को प्राप्त करता है वह निधन है। यह वामदेव्य साम मिथुन में अनुस्यूत है, क्योंकि वायु और जल के परस्पर वामदेव्य की उत्पत्ति कही गयी है॥ १॥ वह जो इस वामदेव्य साम को मिथुन में प्रतिष्ठित जानता है वह कभी विधुर नहीं होता और अमोघरेत वाला होता है, पूर्ण आयु जीता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है। प्रजा और पशुओं के कारण महान् होता है और कीर्ति के कारण भी महान् होता है, (क्योंकि समागमार्थी आयी हुई) किसी भी स्त्री का परित्याग न करे यह उसका व्रत है॥ २॥

॥ इति त्रयोदशः खण्डः॥

उद्यन्हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद्बृहदादित्ये प्रोतम्॥ १ ॥

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम्॥ २ ॥ इति चतुर्दशः खण्डः॥ (१४)॥

अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम्॥ १ ॥

अथ चतुर्दशः खण्डः

आदित्य में बृहत्सामोपासना

उदित होता हुआ सूर्य हिंकार है, (क्योंकि उसका दर्शन सर्व प्रथम होता है। कर्मों के प्रस्तवन का हेतु होने से) उदित हुआ सूर्य प्रस्ताव है। मध्याह्न कालीन सूर्य उत्कृष्ट होने से उद्गीथ है। (पशु आदि को अपने निवास की ओर ले जाने के कारण) अपराह्ण का सूर्य प्रतिहार है और जो अस्त होने वाला सूर्य है वह निधन है, (क्योंकि वह सभी प्राणियों को अपने घरों में निहित करता है) यह बृहत्साम सूर्य में स्थित है (क्योंकि इसका देवता सूर्य है)॥ १ ॥ वह जो पुरुष बृहत्साम को इस प्रकार सूर्य में स्थित जानता है वह तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है, पूर्ण आयु वाला होता है। उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओं के कारण महान् होता है एवं कीर्ति के कारण भी महान् होता है, तपते हुए सूर्य की निन्दा न करे यह बृहत्सामोपासक के लिये व्रत है॥ २ ॥

॥ इति चतुर्दशः खण्डः॥

अथ पंचदशः खण्डः

मेघ में वैरूप सामोपासना

जल बरसाने के लिये जो बादल एकत्रित होते हैं वह हिंकार है, मेघ उत्पन्न होता है वह प्रस्ताव है। जल बरसता है वह उद्गीथ है। बिजली चमकती और कड़कती है यह प्रतिहार है तथा वृष्टिका उपसंहार ही निधन है। यह वैरूप साम मेघ में व्याप्त है॥ १ ॥

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद विरूपाꣳश्च सुरूपाꣳश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम्॥ २॥ इति पञ्चदशः खण्डः॥ (१५)॥

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम्॥ १॥

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तून्न निन्देत्तद्व्रतम्॥ २॥ इति षोडशः खण्डः॥ (१६)॥

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्कर्यो लोकेषु प्रोताः॥ १॥

वह जो पुरुष इस प्रकार इस वैरूप साम को मेघ में व्याप्त जानता है वह विरूप और सुरूप पशुओं का अवरोध करता है। पूर्ण आयु को प्राप्त करता है, उज्ज्वल जीवन बिताता है, प्रजा और पशुओं के तथा कीर्ति के कारण महान् होता है, बरसते हुए मेघ की निन्दा न करे यह उसका व्रत है॥ २॥

॥ इति पञ्चदशः खण्डः॥

अथ षोडशः खण्डः

वैराज सामोपासना

सर्व प्रथम होने के कारण वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरद् प्रतिहार है और हेमन्त निधन है। यह वैराज साम ऋतुओं में ओत-प्रोत है॥ १॥ वह जो पुरुष इस वैराज साम को ऋतुओं में व्याप्त देखता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज के कारण सुशोभित होता है। वह पूर्ण आयु वाला होता है, उज्ज्वल जीवन बिताता है। प्रजा और पशुओं के कारण महान् होता है और कीर्ति के कारण भी महान् होता है। ऋतुओं की निन्दा न करे यह उसका व्रत है॥ २॥

॥ इति षोडशः खण्डः॥

अथ सप्तदशः खण्डः

शक्वरी सामोपासना

पृथिवी हिंकार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है, द्युलोक उद्गीथ है, दिशाएँ प्रतिहार हैं और समुद्र निधन है। ये शक्वरी साम लोकों में व्याप्त हैं॥ १॥

स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥ इति सप्तदशः खण्डः ॥ (१७)॥

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥ १ ॥

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशुमान्भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥ इत्यष्टादशः खण्डः ॥ (१८)॥

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो माꣳसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

वह जो पुरुष इस प्रकार इस शक्वरी साम को लोकों में व्याप्त जानता है वह लोकवान् होता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करता है। उज्ज्वल जीवन बिताता है, प्रजा और पशुओं के कारण महान् होता है तथा कीर्ति के कारण भी महान् होता है। लोकों की निन्दा न करे (यह शक्वरी सामोपासना के लिये) व्रत है ॥ २ ॥

॥ इति सप्तदशः खण्डः ॥

अथाष्टादशः खण्डः

पशुओं में रेवती सामोपासना

बकरी हिंकार है, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं पुरुष निधन है। यह रेवती साम पशुओं में ओत-प्रोत है ॥ १ ॥ वह जो पुरुष इस प्रकार साम को पशुओं में व्याप्त जानता है, वह पशुमान् होता है, पूर्ण आयुष्मान् होता है, उज्ज्वल जीवन बिताता है। प्रजा और पशुओं के कारण महान् होता है तथा कीर्ति के कारण भी महान् होता है, पशुओं की निन्दा न करे यह (रेवती सामोपासक के लिये) व्रत है ॥ २ ॥

॥ इत्यष्टादशः खण्डः ॥

अथैकोनविंशः खण्डः

यज्ञायज्ञीय सामोपासना

लोम हिंकार है, त्वचा प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, अस्थि प्रतिहार है और मज्जा निधन है। यह यज्ञा-यज्ञीय साम देह के अवयवों में व्याप्त है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाङ्गीभवति नाङ्गेन विहूर्च्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या संवत्सरं मज्ज्ञो नाश्नीयात्तद्व्रतं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा॥ २॥ इत्येकोनविंशः खण्डः ॥ (१९)॥

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम्॥ १॥

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानाꣳसलोकताꣳसार्ष्टिताꣳसायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम्॥ २॥ इति विंशः खण्डः॥ (२०)॥

वह जो पुरुष इस प्रकार यज्ञायज्ञीय साम को अङ्गों में व्याप्त जानता है, वह पूर्णाङ्ग होता है, वह अङ्ग के कारण कुटिल नहीं होता। अर्थात् लँगड़ा या दाढ़ी मूछ रहित नहीं होता। पूर्ण आयुष्मान् होता है उज्ज्वल जीवन बिताता है, प्रजा, पशुओं के कारण महान् होता है और कीर्ति के कारण भी महान् होता है। एक वर्ष तक मांस मत्स्य का भक्षण न करे यह व्रत है, या सर्वदा मांसादि भक्षण न करे॥ २॥

॥ इत्येकोनविंशः खण्डः॥

अथ विंशः खण्डः

राजन् सामोपासना

सर्व प्रथम होने से अग्नि हिंकार है, वायु प्रस्ताव है, आदित्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रतिहार है, चन्द्रमा निधन है, (क्योंकि उसी में कर्मकाण्डियों का निधन होता है) यह राजन् साम देवताओं में ओत-प्रोत है॥ १॥ वह जो पुरुष इस प्रकार सामको देवताओं में व्याप्त जानता है, उन्हीं देवताओं के सालोक्य, समान ऐश्वर्य रूप सार्ष्टित्व और परस्पर मेलन रूप सायुज्य को प्राप्त होता है। वह पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन बिताता है, प्रजा और पशुओं के कारण महान् होता है, तथा कीर्ति के कारण भी महान् होता है। ब्राह्मणों की निन्दा न करे, यह उसके लिये नियम है॥ २॥

॥ इति विंशः खण्डः॥

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाꣳसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम्॥ १ ॥

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वꣳह भवति॥ २ ॥

तदेष श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥ ३ ॥

यस्तद्वेद स वेद सर्वꣳसर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतं तद्व्रतम्॥ ४ ॥ इत्येकविंशः खण्डः ॥ (२१) ॥

अथैकविंशः खण्डः

सभी में साम उपासना

(सम्पूर्ण कर्मों के आरम्भ में होने के कारण) त्रयी विद्या हिंकार है, (इनके कार्य होने से) ये तीन लोक प्रस्ताव हैं। अग्नि, वायु और आदित्य ये (उत्कृष्टता के कारण) उद्गीथ हैं, नक्षत्र पक्षी और किरणें-ये प्रतिहार हैं, विषधर सर्प, गन्धर्व और पितृगण-ये निधन हैं। यह सामोपासना (किसी नाम विशेष के अभाव से) सब में ओत-प्रोत है॥ १ ॥

सर्व विषयक सामोपासना का फल

जो इस प्रकार सब में व्याप्त इस साम को जानता है, वह सर्वरूप हो जाता है॥ २ ॥

इस सामोपासना का उत्कर्ष

इस विषय में यह मन्त्र भी है, जो पाँच प्रकार के त्रयीविद्यादि तीन-तीन कहे गये हैं, उन पाँच त्रिकों की अपेक्षा महान् इनसे भिन्न कोई नहीं है। (अर्थात् इन्हीं में सम्पूर्ण वस्तुओं का अन्तर्भाव है) ॥ ३ ॥

जो पुरुष इस सर्वात्मक साम को जानता है वह सर्वज्ञ हो जाता है। सम्पूर्ण दिशाओं में स्थित पुरुष इस उपासक को भेंट उपस्थित करते हैं। "मैं सब कुछ हूँ" इस प्रकार इस साम की उपासना करें। (उपासक के लिए) यह नियम है ॥ ४ ॥

॥ इत्येकविंशः खण्डः ॥

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत्॥ १ ॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्य-स्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत॥ २ ॥

अथ द्वाविंशः खण्डः

विनर्दि गुणयुक्त सामोपासना

साम के (बैल के शब्द के समान) विनर्दि नामक गान का वरण करता है, वह पशुओं के लिए हितकर है और अग्नि देवता सम्बन्धी उद्गीथ है। प्रजापति सम्बन्धी उद्गीथ विशेष रूप से विपरीत नहीं किया जा सकता है। सोम देवता सम्बन्धी उद्गीथ स्पष्ट है। वायु का मृदुल और श्लक्ष्ण (उच्चारण करने में सरल) है। इन्द्र का श्लक्ष्ण और (अधिक प्रयत्न सापेक्ष होने से) बलवान् है। बृहस्पति का क्रौंच (क्रौंचपक्षी के शब्द के समान) है और वरुण का अपध्वान्त (फूटे हुए काँसे के स्वर के समान) है। इन सभी गान का प्रयोग करें, केवल वरुण सम्बन्धी गान का परित्याग करें॥ १ ॥

स्तुति के समय में ध्यान विधि

मैं देवताओं के लिए अमृतत्व का आगान करूँ, (इस प्रकार चिन्तन करते हुए) आगान करे। पितरों के लिए स्वधा का (आगान करूँ) मनुष्यों के लिये प्रार्थित वस्तु का, पशुओं के लिए तृणोदक कां, यजमान के लिए स्वर्ग लोक का और अपने लिए अन्न का आगान करूँ। इस प्रकार इन्हें मन से चिन्तन करते हुए (स्वर, ऊष्म और व्यञ्जनादि के उच्चारण में) प्रमाद रहित होकर स्तुति करे ॥ २ ॥

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रꣳशरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात्॥ ३॥

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिꣳशरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति-पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यद्येनꣳस्पर्शेषूपालभेत मृत्युꣳशरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति धक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात्॥ ४॥

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति॥ ५॥ इति द्वाविंशः खण्डः॥ (२२)॥

स्वरादि वर्णों की देवरूपता

अकारादि सभी स्वर इन्द्र (प्राण) की आत्मा हैं, सभी ऊष्म वर्ण प्रजापति की आत्मा हैं। सभी स्पर्श वर्ण मृत्यु की आत्मा हैं। (इस प्रकार जानने वाले) उद्‌गाता को यदि कोई स्वरों के उच्चारण में (तूने दोषयुक्त स्वर का प्रयोग किया है इस प्रकार) उपालम्भ दे, तो वह उसे उत्तर देवे, कि मैं इन्द्र के शरणापन्न हूँ वही तुझे उत्तर देगा॥ ३॥

और यदि कोई पुरुष इसे ऊष्म वर्णों के उच्चारण में दोष दिखलावे, तो वह उससे कहे—कि मैं प्रजापति के शरणापन्न हूँ, वही तुझे पीसेगा और यदि कोई इसे स्पर्श वर्णों के उच्चारण में उलाहना दे, तो उससे कहे कि मैं मृत्यु के शरणापन्न हूँ वही तुझे जला डालेगी॥ ४॥

वर्णों के उच्चारण काल में चिन्तनीय वस्तु

सभी स्वर घोषयुक्त और बलयुक्त बोलने चाहिये। अतः (उनका उच्चारण करते समय) मैं इन्द्र में बल का आधान करूँ। ऐसा (चिन्तन करना चाहिये, ऐसा ही) समस्त ऊष्म वर्ण बिना भीतर प्रवेश किये बिना बाहर निकले और विवृत प्रयत्न से युक्त उच्चारण करने चाहिये। (और उनका उच्चारण करते समय ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि) मैं प्रजापति को आत्मदान करूँ तथा सम्पूर्ण स्पर्श वर्ण को एक दूसरे से थोड़ा भी न मिलाकर बोलना चाहिये और ''मैं मृत्यु के अपने को हटाऊँ'' (उस समय ऐसा चिन्तन करना चाहिये)॥ ५॥

॥ इति द्वाविंशः खण्डः॥

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसꣳस्थोऽमृतत्वमेति॥ १॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्ताम-भ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति॥ २॥

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णोंकार एवेदꣳसर्वमोंकार एवेदꣳसर्वम्॥ ३॥ इति त्रयोविंशः खण्डः॥ (२३)॥

अथ त्रयोविंशः खण्डः

धर्म के तीन स्कन्ध हैं

धर्म के आधार स्तम्भ तीन हैं। अग्निहोत्रादि यज्ञ, (नियम पूर्वक ऋग्वेदादि का अभ्यास रूप) अध्ययन और (वेदी के बाहर यथा शक्ति द्रव्य प्रदान रूप) दान, यह पहला स्कन्ध है (यानी ये गृहस्थों से अनुष्ठेय हैं)। कृच्छचान्द्रायणादि तप ही दूसरा धर्म स्कन्ध है। (जो केवल आश्रम धर्म में स्थित तापस एवं परिव्राजक के लिये अनुष्ठेय है)। आचार्य कुल में रहने वाला ब्रह्मचारी है, जो कि आचार्य कुल में ही अपने शरीर को नियम व्रतादि से अत्यन्त क्षीण कर देता है, वह तीसरा धर्म स्कन्ध है। ये सभी पुण्यलोक के भागी होते हैं। (चतुर्थ परिव्राजक तो) ब्रह्म में सम्यक् प्रकार से स्थित अमृतत्व को प्राप्त करता है॥ १॥

त्रयीविद्या और व्याहृतियों का प्रादुर्भाव

प्रजापति ने लोकों के (सार ग्रहण की इच्छा से) ध्यानरूप तप किया, उन अभितप्त लोकों से उनकी सारभूता त्रयीविद्या प्रतिभान हुई और उस अभितप्त त्रयीविद्या से भूर्भुवः स्वः (ये व्याहृति रूप अक्षर) प्रादुर्भूत हुए॥ २॥

ॐकार का प्रादुर्भाव

(फिर प्रजापति ने) इन व्याहृतियों की आलोचना की, उन अभितप्त व्याहृतियों से ओंकार प्रादुर्भूत हुआ। जिस प्रकार पत्ते की नसों से सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा के प्रतीक रूप ओंकार से सम्पूर्ण वाक् व्याप्त हैं। ओंकार ही यह सब है, ओंकार ही यह सब कुछ है॥ ३॥

॥ इति त्रयोविंशः खण्डः॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनꣳरुद्राणां माध्यन्दिनꣳ सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम्॥ १॥

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात्॥ २॥

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवꣳसामाभिगायति॥ ३॥

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयꣳरा ३३३३३ हु ३ म्आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति॥ ४॥

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि॥ ५॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै वसवः प्रातःसवनꣳसंप्रयच्छन्ति॥ ६॥

अथ चतुर्विंशः खण्डः

सवनों के अधिष्ठाता देवता

ब्रह्मवादी लोग कहते हैं कि प्रातः सवन वसु देवों का है। मध्याह्न सवन रुद्रों का है तथा तृतीय सवन आदित्य और विश्वेदेवों का है। (इन्हीं अधिष्ठातृ देवताओं के द्वारा भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक के ऊपर यजमान विजय प्राप्त करता है)॥ १॥

साम आदि का ज्ञाता ही यज्ञ का अधिकारी है

तो फिर यजमान का लोक कहाँ है? (जिसके लिये वह यज्ञानुष्ठान करता है) जो यजमान उस लोक को नहीं जानता, वह अज्ञानी किस प्रकार यज्ञ अनुष्ठान कर सकेगा। अतः आगे बतलाये जाने वाले साभादि उपायों का ज्ञाता होकर ही कर्म करे॥ २॥

प्रातः सवन में वसु देव सम्बन्धी साम गान

प्रातःकाल में पढ़ने योग्य अनुवाक (शस्त्र नामक स्तोत्र पाठ) से पूर्व वह यजमान गार्हपत्याग्नि के पीछे की ओर उत्तराभिमुख बैठकर वसुदेवता सम्बन्धी साम का गान करता है॥ ३॥ हे अग्ने! तुम इस पृथिवी लोक की प्राप्ति के लिये इसका द्वार खोल दो, जिससे कि हम उस द्वार से राज्य प्राप्ति के लिये तुम्हारा दर्शन कर सकें॥ ४॥ उसके बाद (यजमान इस मन्त्र से) हवन करता है। पृथिवी लोक में रहने वाले पृथिवी लोक निवासी अग्निदेव को हम नमस्कार करते हैं। मुझ यजमानको तुम पुण्यलोक की प्राप्ति कराओ। यह निश्चय ही यजमान का लोक है और मैं इसे प्राप्त करने वाला हूँ॥ ५॥

इस लोक में यजमान "मैं आयु समाप्त होने पर (पुण्य लोक को प्राप्त करूँगा) स्वाहा" ऐसा बोलकर हवन करता है। तुम लोक की अर्गला को दूर करो इस मन्त्र को कहकर उत्थान करता है। इसके बाद वसुगण उस यजमान को प्रातः सवन प्रदान करते हैं॥ ६॥

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रꣳसामाभिगायति ॥ ७ ॥

लो३कद्वारमपावा३र्णू३३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३३३३३ हु३म् आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥ ८ ॥

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ९ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनꣳसवनꣳसंप्रयच्छन्ति ॥ १० ॥

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यꣳस वैश्वदेवꣳसामाभिगायति ॥ ११ ॥

लो३कद्वारमपा वा३र्णू३३ पश्येम त्वा वयꣳस्वारा ३३३३३ हु३म् आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥ १२ ॥

मध्याह्न सवन में रौद्र साम गान

मध्याह्न सवन का आरम्भ करने से पहले यजमान दक्षिणाग्नि के पीछे की ओर उत्तराभिमुख बैठकर वैराज्य पद की प्राप्ति के लिये रुद्र देवता सम्बन्धी गान करता है ॥ ७ ॥ हे वायो! तू अन्तरिक्ष लोक का द्वार खोल दो जिससे कि उस द्वार से वैराज्य पद प्राप्ति के लिये तुम्हारा दर्शन कर सकें ॥ ८ ॥ उसके पश्चात् (यजमान इस मन्त्र से) होम करता है, अन्तरिक्ष में रहने वाले अन्तरिक्ष लोक निवासी वायुदेव को नमस्कार है। मुझ यजमान को उस लोक की प्राप्ति कराओ। निश्चय ही यह अन्तरिक्ष लोक यजमान का है, मैं इसे प्राप्त करने वाला हूँ॥ ९ ॥ यहाँ पर यजमान ''मैं मरने पर (अन्तरिक्ष लोक को प्राप्त करूँगा) स्वाहा'' ऐसा बोल कर हवन करता है और लोकद्वार की अर्गला को दूर करो ऐसा कह कर उत्थान करता है। तब वे रुद्रगण उस यजमान को मध्याह्न सवन प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

तृतीय सवन का आरम्भ करने से पूर्व यजमान आहवनीयाग्नि के पीछे की ओर उत्तराभिमुख बैठकर (स्वराज्य और साम्राज्य प्राप्ति के लिये क्रमशः) आदित्य और विश्वेदेव सम्बन्धी साम का गान करता है ॥ ११ ॥

हे देव! तुम लोक का द्वार खोल दो (जिससे हम स्वराज्य प्राप्ति के लिये) तुम्हें पा सकें ॥ १२ ॥

साम आदित्यमथ वैश्वदेवं लो३कद्वारमपावा३र्णू३३ पश्येम त्वा वयꣳसाम्ना ३३३३३ हु ३म् आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति॥ १३॥

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत॥ १४॥

एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति॥ १५॥

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयꣳसवनꣳसंप्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद॥ १६॥ इति चतुर्विंशः खण्डः॥ (२४)॥ इति द्वितीयः प्रपाठकः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवꣳशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः॥ १॥

यह आदित्य साम है, इसके बाद विश्वेदेव साम कहते हैं। लोक का द्वार खोल दो जिससे कि हम साम्राज्य प्राप्ति के लिये तुम्हारा दर्शन कर सकें॥ १३॥ तदनन्तर (यजमान इस मन्त्र द्वारा) हवन करता है। स्वर्ग में रहने वाले द्युलोक निवासी आदित्यों को तथा विश्वेदेवों को नमस्कार है। तुम मुझ यजमान को पुण्य लोक प्राप्त कराओ॥ १४॥ निश्चय ही यह यजमान का लोक है। मैं इसे प्राप्त करने वाला हूँ। यहाँ पर यजमान "आयु समाप्त होने पर (मैं स्वर्ग लोक को प्राप्त करूँगा) स्वाहा" ऐसा कहकर हवन करता है और सम्बन्धित लोक द्वार की अर्गला को हटाओ—ऐसा कह कर उत्थान करता है॥ १५॥ उस यजमान को आदित्य और विश्वेदेव तृतीय सवन देते हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह निश्चय ही यज्ञ के पूर्वोक्त यथार्थ स्वरूप को जानता है। द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति के लिये है॥ ६॥

॥ इति द्वितीयाध्यायः, चतुर्विंशः खण्डः॥

अथ तृतीयाध्याये प्रथमः खण्डः

आदित्यादि में मधु आदि दृष्टि

कर्माश्रित उपासना बतलाने के वाद अब स्वतन्त्र उपासना बतलाते हैं। ओं वह आदित्य निश्चय ही (देवताओं को प्रसन्न करने वाला होने से) देवताओं का मधु है। द्युलोक ही उसका तिरछा बाँस है, (क्योंकि वह तिरछा दिखायी पड़ता है) वह (लटक रहा) अन्तरिक्ष मधु का छत्ता है और किरणें (उस छत्ते में रहने वाले मक्खियों के) बच्चे हैं॥ १॥

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः। ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः॥ २॥

एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत॥ ३॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳरूपम् ॥ ४॥ इति प्रथमः खण्डः॥ (१)॥

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूꣳष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः॥ १॥

तानि वा एतानि यजूꣳष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत॥ २॥

आदित्य की पूर्व दिग्वर्ती किरणों में मधुनाड्यादि दृष्टि

उस आदित्यरूप मधु की जो पूर्व दिग्वर्ती किरणें हैं, वे ही इस अन्तरिक्षरूप छत्ते के पूर्ववाली मधुनाड़ियाँ (छिद्र) हैं, ऋचाएँ मधुकर हैं ऋग्वेद ही पुष्प है, (अग्नि में प्रक्षिप्त) वे सोमादि अमृत ही जल है॥ २॥ उन इन ऋग्रूप मधुकरों ने ही इस ऋग्वेदरूप पुष्प का अभिताप किया। उस अभितप्त ऋग्वेद से (यागादि रूप कर्मों के कारण) ख्याति, देह गत दीप्ति, समर्थ इन्द्रियाँ, बल और अन्नाद्य रूप रस उत्पन्न हुए॥ ३॥ वह (यश से लेकर अन्नाद्य पर्यन्त) रस विशेष रूप से गया (और जाकर) उसने आदित्य के पूर्वभाग में आश्रय लिया। यह जो (उदित हुए) आदित्य का लाल रूप है, निश्चय ही वही यह रस है॥ ४॥

॥ इति प्रथमः खण्डः॥

अथ द्वितीयः खण्डः

आदित्य के दक्षिणवर्ती किरणों में मधुनाड्यादि दृष्टि

और इसकी जो दक्षिणदिशा में किरणें हैं, वे ही इस आदित्यरूप मधु की दक्षिण दिशावाली मधुनाड़ियाँ हैं (यजुर्वेद विहित कर्म में प्रयुक्त) यजुर्मन्त्र ही मधुकर हैं, यजुर्वेद विहित कर्म ही पुष्प हैं तथा वे सोमादि रूप अमृत ही जल हैं॥ १॥ उन इन यजुः श्रुतियों ने यजुर्वेद को अभितप्त किया, उसी अभितप्त यजुर्वेद से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्य रूप रस उत्पन्न हुआ॥ २॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लꣳरूपम्॥ ३॥ इति द्वितीयः खण्डः॥ (२)॥

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः॥ १॥

तानि वा एतानि सामान्येतꣳसामवेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत॥ २॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य कृष्णꣳरूपम्॥ ३॥ इति तृतीयः खण्डः॥ (३)॥

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः॥ १॥

उस रस ने विशेष रूप से गमन किया और आदित्य के दक्षिण भाग में आश्रय लिया। यह जो आदित्य का शुक्ल रूप दीखता है वही यह मधु है॥ ३॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः॥

अथ तृतीयः खण्डः

आदित्य के पश्चिम दिग्वर्ती किरणों में मधुनाड्यादि दृष्टि

और ये जो आदित्य की पश्चिम दिग्वर्ती किरणें हैं, वे ही इस सूर्य की पश्चिमवाली मधुनाड़ियाँ हैं। सामवेद की श्रुतियाँ ही मधुकर हैं। सामवेदोक्त कर्म ही पुष्प है तथा वह (सोमादि रूप) अमृत ही जल है॥ १॥ उन इन साम श्रुतियों ने ही इस सामवेद विहित कर्म को अभितप्त किया। उस अभितप्त सामवेद से ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्य रूप रस उत्पन्न हुआ ॥ २॥ वह रस विशेष रूप से गया और आदित्य के पश्चिम भाग में आश्रित हुआ। यह जो आदित्य का कृष्ण तेज है, वही यह रस है॥ ३॥

॥ इति तृतीयः खण्डः॥

अथ चतुर्थः खण्डः

आदित्य की उत्तर दिग्वर्ती किरणों में मधुनाड्यादि दृष्टि

और जो आदित्य की उत्तरदिक् सम्बन्धी किरणें हैं वे ही इस आदित्य की उत्तर दिशावाली मधुनाड़ियाँ हैं। अथर्वाङ्गिरस मन्त्र ही मधुकर है, इतिहास पुराण ही पुष्प हैं, (क्योंकि अश्वमेध यज्ञ के पारिप्लव रात्रियों में इन कथाओं का क्रमाङ्ग रूप से विनियोग किया) तथा वह सोमादि रूप ही अमृत जल है॥ १॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत॥ २॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णꣳरूपम्॥ ३॥ इति चतुर्थः खण्डः॥ (४)॥

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मनुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः॥ १॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत॥ २॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव॥ ३॥

ते वा एते रसानाꣳरसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि॥ ४॥ इति पञ्चमः खण्डः॥ (५)॥

इन अथर्वाङ्गिरस श्रुतियों ने इस इतिहास पुराण को अभितप्त किया। उस अभितप्त (इतिहास पुराण रूप पुष्प) से ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस की उत्पत्ति हुई॥ २॥ वह रस विशेष रूप से गया और आदित्य के उत्तर भाग में आश्रित हुआ। यह जो आदित्य का अतिशय कृष्ण रूप है वह यह रस है॥ ३॥

॥ इति चतुर्थः खण्डः॥

अथ पञ्चमः खण्डः

आदित्य की ऊर्ध्व दिग्वर्ती किरणों में मधुनाड्यादि दृष्टि

और इस आदित्य की जो ऊपर की ओर जानेवाली किरणें हैं वही इसकी ऊर्ध्व दिग्वर्ती मधुनाड़ियाँ हैं। गुह्य आदेश (लोक के द्वार के खोलने की प्रार्थना) ही मधुकर है, प्रणव रूप ब्रह्म ही पुष्प है तथा वह सोमादि रूप अमृत ही जल है॥ १॥ उन इन गोपनीय आदेशों ने ही प्रणव नामक ब्रह्म को अभितप्त किया, उस अभितप्त ब्रह्म से ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ॥ २॥ वह रस विशेष रूप से गया और वह आदित्य के ऊपर वाले भाग में आश्रित हुआ। यह जो आदित्य के मध्य में संचालित सा दीखता है, यही वह मधु है॥ ३॥ वे ये (पूर्वोक्त रोहितादि रूप विशेष) ही रसों के रस हैं। (लोकों के सारभूत होने के कारण) वेद ही रस हैं और ये उनके भी रस हैं, वे ही ये अमृतों के अमृत हैं, क्योंकि नित्य होने के कारण वेद ही अमृत है, उनके भी रोहितादि रूप अमृत माने गाये हैं॥ ४॥

॥ इति पञ्चमः खण्डः॥

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥ २॥

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति॥ ३॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्येता॥ ४॥ इति षष्ठः खण्डः॥ (६)॥

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥ २॥

अथ षष्ठः खण्डः

वस्तुओं के उपजीवन रूप प्रथम अमृत की उपासना

इनमें जो (रोहित रूप वाला) पहला अमृत है, वसुगण अग्नि प्रधान होकर उसके उपजीवी होते हैं। देवता न खाते हैं और न पीते ही हैं, वे इस (रोहित रूप) अमृत को समस्त इन्द्रियों से अनुभव कर ही तृप्त हो जाते हैं॥ १॥

वे देवगण इस रूप को ही लक्षित कर उदासीन हो जाते हैं। (कि अभी हमारे भोग का अवसर नहीं है और जब अमृत के भोग का अवसर आता है तो) फिर अमृत भोग के लिये इस रूप से ही उत्साहित हो जाते हैं ॥ २॥ वह जो कोई इस प्रकार इस यथोक्त अमृत को जानता है, वह वसुओं में ही प्रधान होकर अग्नि मुख से ही इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाते हैं। पूर्वोक्त रीति से इस रूप को लक्षित करके ही उदासीन होता है और इस रूप से ही उत्साहित भी होता है॥ ३॥ जितने समय में आदित्य पूर्व की ओर उदित होता है और पश्चिम की ओर अस्त होता है, उतना ही वसुओं का भोग काल है। अर्थात् उतनी देर तक वह विद्वान् वसुओं के आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त हो जाता है॥ ४॥

॥ इति षष्ठः खण्डः॥

अथ सप्तमः खण्डः

रुद्रों के उपजीवन रूप द्वितीय अमृत की उपासना

अब जो द्वितीय अमृत है, रुद्रगण इन्द्र प्रधान होकर उसके उपजीवी होते हैं। देवगण न खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं॥ १॥ (भोग का काल न जानकर) वे देवगण इस रूप को लक्षित करके ही उदासीन हो जाते हैं और पुनः इसी से (भोग काल उपस्थित जानकर) उद्यमशील होते हैं॥ २॥

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥ इति सप्तमः खण्डः ॥ (७) ॥

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥ इत्यष्टमः खण्डः ॥ (८) ॥

वह जो पुरुष इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह रुद्रों में से ही प्रमुख होकर इस अमृत को देख करके ही उदासीन हो जाते हैं और इस रूप से ही उद्यम शील हो जाते हैं ॥ ३ ॥ जितने समय में सूर्य पूर्व से उदित होता है और पश्चिम में अस्त होता है, उससे द्विगुणे समय में वह दक्षिण से उदित होता है और उत्तर में अस्त होता है। बस! इतने काल वह रुद्रों के ही आधिपत्य व स्वाराज्य को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

॥ इति सप्तमः खण्डः ॥

अथाष्टमः खण्डः

आदित्यों के उपजीवन रूप तृतीय अमृत की उपासना

अब जो तीसरा अमृत है, आदित्यगण वरुण प्रधान होकर उसके आश्रित होकर जीते हैं। देवगण न खाते हैं न पीते हैं, वे इस अमृत को सभी इन्द्रियों से अनुभव करके तृप्त होते रहते हैं ॥ १ ॥ पूर्वोक्त रीति से वे इस रूप को ही लक्ष्य बनाकर उदासीन हो जाते हैं (भोग का अवसर देखकर) इसी से प्रयत्नशील हो जाते हैं ॥ २ ॥ वह जो कोई उस अमृत को जानते हैं, आदित्यों में से ही प्रधान बनकर, वरुण को प्रमुख बनाकर वे इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाते हैं। वह इस रूप से ही उदासीन होता है और इससे ही उद्योग शील होता है ॥ ३ ॥ वह सूर्य जितने समय में दक्षिण से उदित होता है और उत्तर में अस्त होता है, उसकी अपेक्षा दूने काल में पश्चिम से उदित होता और पूर्व में अस्त होता है, इतने समय में वह आदित्यों के ही आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

॥ इति इत्यष्टमः खण्डः ॥

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥ २॥

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेवरूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति॥ ३॥

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्येता॥ ४॥ इति नवमः खण्डः॥ (९)॥

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥ २॥

अथ नवमः खण्डः

मरुतों के उपजीवन रूप चतुर्थ अमृत की उपासना

अब जो चतुर्थ अमृत है, मरुद्गण सोम की प्रमुखता से उसके उपजीवी हैं। देवगण न खाते हैं न पीते हैं, वे केवल इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाते हैं॥ १॥ वे इस रूप को लक्षित करके उदासीन हो जाते हैं और इसी से प्रयत्नशील भी होते हैं॥ २॥ वह जो इस अमृत की उपासना करता है, वह मरुतों में प्रमुख होकर सोम की प्रधानता से ही इस अमृत को देखकर ही तृप्त होता है (भोग का अवसर न जान कर) इस रूप से ही उदासीन होता है और (भोग का अवसर जान कर) इस रूप से ही उत्साहित होता है॥ ३॥

वह आदित्य जितने समय में पश्चिम से उदित होता है और पूर्व में अस्त होता है, उसकी अपेक्षा दूने काल में उत्तर से उदित होता और दक्षिण में अस्त होता है। बस! इतने काल तक वह उपासक मरुद्गण के ही आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त करता है॥ ४॥

॥ इति नवमः खण्डः॥

अथ दशमः खण्डः

साध्यों के उपजीवन रूप पंचम अमृत की उपासना

अब जो पंचम अमृत है, साध्यगण ब्रह्म की प्रमुखता से उसी के आश्रित जीते हैं, देवगण न तो खाते हैं न पीते हैं, वे केवल इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाते हैं॥ १॥ वे इस अमृत रूप को (पूर्वोक्त रीति से) लक्षित करके ही उदासीन होते हैं और इसी से उद्यमशील होते हैं॥ २॥

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति॥ ३॥

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्व-मुदेतार्वाङस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्येता॥ ४॥ इति दशमः खण्डः॥ (१०)॥

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः॥ १॥

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन। देवास्तेनाहꣳसत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति॥ २॥

वह जो इस प्रकार इस अमृत की उपासना करता है, साध्यगणों में से ही एक होकर ब्रह्मा के ही प्रमुखता से ही इस अमृत को देखकर तृप्त होता है, वह इस रूप को लक्ष्य करके उदासीन होता है और उसी रूप से उत्साहित होता है ॥ ३॥

वह आदित्य जितने समय में उत्तर से उदित होता और दक्षिण में अस्त होता है, उसकी अपेक्षा दूने समय तक ऊपर की ओर उदित होता है और नीचे की ओर अस्त होता है। बस! इतने समय तक ही वह उपासक साध्यों के ही आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त हो जाता है॥ ४॥

॥ इति दशमः खण्डः॥

अथैकादशः खण्डः

भोग क्षय के बाद आदित्य रूप ब्रह्म में प्रतिष्ठा

(इस प्रकार उदय और अस्त द्वारा प्राणियों को स्वकर्म फल भोग में अनुग्रह कर) भोग क्षय के बाद वह ऊर्ध्वगत हो (ब्रह्मीभूत हो) उदित होने पर पुनः न तो उदित होता है और न अस्त ही होगा—बल्कि अकेला (निरवयव होकर ही) अपने में स्थित रहेगा। उस विषय में यह श्लोक है॥ १॥

ब्रह्मलोक विषयक विद्वान् का अनुभव

(जिस ब्रह्मलोक से मैं आया हूँ) निश्चय ही उसमें न कभी सूर्य का अस्त होता है और न कभी उदय होता है। हे देवताओ! उस सत्य के द्वारा मैं ब्रह्म के स्वरूप से विरुद्ध न होऊँ—अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति मुझे अवश्य हो॥ २॥

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद॥ ३॥

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य-स्तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच॥ ४॥

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्रणाय्याय वान्तेवासिने ॥ ५॥

नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति॥ ६॥ इत्येकादशः खण्डः॥ (११)॥

मधुविद्या का फल

उपर्युक्त ब्रह्मवेत्ता के लिये न सूर्य उदित होता है और न अस्त होता है—जो इस प्रकार इस औपनिषद ब्रह्म को जानता है॥ ३॥

सम्प्रदाय परम्परा का वर्णन

हिरण्यगर्भ ने विराट प्रजापति को पूर्वोक्त इस मधुविद्या को सुनाया था। इसे प्रजापति ने भी मनु को सुनाया और मनु ने इक्ष्वाकु आदि अपने संतति वर्ग को सुनाया और यही ब्रह्म विज्ञान पिता ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अरुण की संतान उद्दालक को सुनाया था॥ ४॥ (अतः अन्य विद्वान् भी) इस ब्रह्म विज्ञान का उपदेश पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र या सुयोग्य शिष्य को ही करे॥ ५॥

किसी और को इसका उपदेश न करे (इससे विद्या संप्रदान का योग्य पात्र ज्येष्ठ पुत्र या योग्य शिष्य को ही श्रुति बतला रही है।) यद्यपि इस ब्रह्मविद्या के आचार्य को समुद्र से घिरी हुई धनादि सामग्रियों से परिपूर्ण सारी पृथिवी भी दे (तो भी वह इसका बदला नहीं चुका सकता है, क्योंकि) उस दान से भी मधुविद्या का दान अधिक फल देने वाला है, यही अधिकतर फल देने वाला है ॥ ६॥

॥ इत्येकादशः खण्डः॥

गायत्री वा इदꣳसर्वं भूतं यदिदं किंच वाग्वै गायत्री वाग्वा इदꣳ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च॥ १ ॥

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याꣳहीदꣳसर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते॥ २ ॥

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते॥ ३ ॥

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते॥ ४ ॥

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम्॥ ५ ॥

अथ द्वादशः खण्डः (प्रतीकोपासना)

गायत्री द्वारा ब्रह्मोपासना

निश्चय ही ये सब स्थावर जंगम प्राणीवर्ग गायत्री ही हैं। वाणी ही गायत्री है और वाणी ही ये सब प्राणी हैं। वाणी रूप गायत्री (सबका नामोच्चारण करती है और भयादि से) भूतों की रक्षा भी करती है॥ १ ॥ उक्त लक्षण वाली जो वह गायत्री है वह यही है जो कि यह पृथिवी, क्योंकि इस पृथिवी में ही ये सभी चराचर प्राणी स्थित हैं और वे इस पृथिवी का कभी भी अतिक्रमण नहीं कर सकते॥ २ ॥ जो भी यह पृथिवी रूप गायत्री है वह यही है, जो भूत और इन्द्रियों के सजीव संघात में शरीर है, क्योंकि इसी संघात में भूत पद वाच्य ये प्राण प्रतिष्ठित हैं और इसी संघात को वे प्राण अतिक्रमण नहीं करते॥ ३ ॥

जो भी इस पुरुष में शरीर रूप गायत्री है, वह यही है कि जो इस पुरुष के मध्यवर्ती हृदय कमल है, क्योंकि इसी में ये प्राण प्रतिष्ठित हैं और प्राण इसी का अतिक्रमण नहीं करते॥ ४॥ वह यह चार चरणों वाली गायत्री है, जिसके एक-एक चरण में छः-छः अक्षर हैं वाणी, भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय और प्राण भेद से छः प्रकार की है। वह गायत्री संज्ञक ब्रह्म ऋचाओं से भी प्रकाशित किया गया है॥ ५ ॥

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पुरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति॥ ६॥

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः॥ ७॥

अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः॥ ८॥

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णमप्रवर्तिनीꣳश्रियं लभते य एवं वेद॥ ९॥ इति द्वादशः खण्डः ॥ (१२)॥

कार्य और शुद्ध ब्रह्म का स्वरूप

(पहले जो कुछ भी कह आये हैं) इस गायत्री संज्ञक ब्रह्म की उतनी ही विभूति का विस्तार है और शुद्ध ब्रह्म इससे भी महत्तर है। पृथिव्यादि सम्पूर्ण भूत-भौतिक जगत् तथा स्थावर जंगम प्राणी उस इस पुरुष का एक पाद है और समस्त गायत्री रूप पुरुष का तीन पाद द्युलोक में प्रकाश स्वरूप आत्मा अमृत प्रकाशमय है॥ ६॥

भूत, देह और हृदय में एक ही आकाश परिपूर्ण है

जो भी (गायत्री द्वारा कहा हुआ त्रिपाद अमृत रूप) वह ब्रह्म है, वह यही है। जो यह पुरुष से बाहर प्रसिद्ध आकाश है तथा जो भी यह पुरुष के बाहर आकाश है वह यही है, वह यही है॥ ७॥ जो शरीर के भीतर आकाश है और जो भी यह शरीर के भीतर आकाश है, वह यही है॥ ८॥ जोकि हृदय के भीतर आकाश है; वह हृदयाकाशस्थ आत्मा पूर्ण है और अविनाशी है। जो पुरुष इस प्रकार उक्त पूर्ण और अविनाशी गुण विशिष्ट ब्रह्म को जानता है, वह पूर्ण और कभी नष्ट न होने वाली विभूति को प्राप्त करता है, अर्थात् जीते जी ब्रह्म रूपता को प्राप्त कर लेता है॥ ९॥

॥ इति द्वादशः खण्डः॥

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद॥ १॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रꣳ स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद ॥ २॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद॥ ३॥

अथ त्रयोदशः खण्डः

हृदयस्थ पूर्व छिद्र रूप प्राण की उपासना

उस इस प्रसिद्ध हृदय के (भीतर विद्यमान स्वर्ग लोक प्राप्ति के) द्वारभूत पाँच छिद्र हैं। इस स्वर्गलोक रूप भवन का पूर्व दिशा सम्बन्धी जो द्वार है वह प्राण है, वह चक्षु है, वह आदित्य है, वही यह तेज और अन्नाद्य है। इस प्रकार स्वर्ग के द्वारभूत प्राण की उपासना करें। जो दो गुण विशिष्ट इन की इस प्रकार उपासना करता है, वह आदित्य रूप से तथा अन्नाद्य रूप से सविता का तेज प्राप्त कर तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है॥ १॥

हृदयस्थ दक्षिण छिद्र रूप व्यान की उपासना

और इस हृदय का जो दक्षिण छिद्र है उसमें स्थित वह व्यान वायु विशेष है, वह श्रोत्र है, वह चन्द्रमा है, वही यह श्री एवं यश है। जो कोई श्री एवं प्रसिद्धि इन दो गुणों से युक्त व्यान की उपासना करता है, वह निश्चय ही विभूतिमान् और यशस्वी होता है॥ २॥

हृदयस्थ पश्चिम छिद्र रूप अपान की उपासना

तथा इस हृदय का पश्चिमवर्ती छिद्र है, वह अपान वायु विशेष है। वह वाणी है, वह अग्नि है और वही यह (सदाचार और स्वाध्याय के कारण होने वोले) ब्रह्मतेज एवं अन्नाद्य है। इस प्रकार उस अपान की उपासना करता है, वह ब्रह्म तेज वाला और अन्न का भोक्ता होता है॥ ३॥

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान्व्युष्टिमान्भवति य एवं वेद॥ ४॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद॥ ५॥

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद॥ ६॥

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः॥ ७॥

हृदयस्थ उत्तर दिग्वर्ती छिद्र रूप समान की उपासना

और इस हृदय का जो उत्तरवर्ती छिद्र है, उसमें स्थित वह वायु विशेष—समान है। वह मन है, वह वृष्टि है, वही यह समान संज्ञक ब्रह्म कीर्ति एवं कान्ति है, इन दो गुण विशिष्ट समान रूप ब्रह्म की इसी प्रकार उपासना करे। जो इस प्रकार जानता है वह कीर्तिमान् और कान्तिमान् होता है॥ ४॥

हृदयस्थ ऊर्ध्व दिग्वर्ती छिद्र रूप उदान की उपासनां

और इस हृदय का ऊर्ध्व दिग्वर्ती छिद्र है, वह उदान वायु विशेष है। वह वायु है, वह आकाश है और वही यह ओज है एवं महत्ता का कारण ''महः' भी है, इस प्रकार वह उदान संज्ञक ब्रह्म की उपासना करता है, वह बलवान् और तेजस्वी होता है॥ ५॥

उक्त प्राणादि द्वारपालकों की उपासना का फल

वे ये प्रसिद्ध हृदयस्थ ब्रह्म के पाँच पुरुष स्वर्गलोक के पाँच द्वारपाल हैं। वह जो कोई भी उपासक स्वर्ग के द्वारपालों इन पाँच ब्रह्म पुरुषों की उपासना करता है उसके कुल में वीर पुत्र उत्पन्न होता है। जो कोई स्वर्ग लोक के द्वारपाल इन चक्षुरादि पाँच पुरुषों की इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वर्गलोक को प्राप्त करता है॥ ६॥

हृदयस्थ मुख्य ब्रह्म की उपासना

और इस द्युलोक से पर जो नित्य प्रकाश होने से परम ज्योति विश्व के पृष्ठपर—अर्थात् सबके ऊंपर, सर्वोत्तम, उत्तम लोकों में भासमान हो रही है वह निश्चय यही है, जो कि इस पुरुष के भीतर ज्योति है। जो चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलती रहती है॥ ७॥

तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिञ्छरीरे सꣳस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद॥ ८॥ इति त्रयोदशः खण्डः॥ (१३)॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥ १॥

हृदयस्थ परम ज्योति का ज्ञापक लिङ्ग

उस इस हृदयस्थ पुरुष के दर्शन का उपाय यही है—जब मनुष्य इस देह में हाथ से स्पर्श द्वारा उष्णता को जानता है तथा यही उसके श्रवण का उपाय है। जिस समय यह कर्ण छिद्रों को बन्द करके रथ के घोष को, बैल के डकारने के शब्द के समान और जलते हुए अग्नि के शब्द के समान शब्द को सुनता है। वह यह ज्योति दृष्ट और श्रुतलिङ्ग से युक्त होने के कारण दृष्ट एवं श्रुत है। इस प्रकार इस परम ज्योति की उपासना करे, जो इस प्रकार उपासक उपासना करता है, वह दर्शनीय और विख्यात हो जाता है॥ ८॥

॥ इति त्रयोदशः खण्डः॥

अथ चतुर्दशः खण्डः (सगुण ब्रह्मोपासना)

शाण्डिल विद्यान्तर्गत सर्व दृष्टि से ब्रह्मोपासना

यह (प्रत्यक्षादी प्रमाणों का विषयभूत नामरूपात्मक) सम्पूर्ण जगत् निश्चय ब्रह्मरूप है, यह उस ब्रह्म से (अग्नि जलादि क्रम से) उत्पन्न होने वाला उसके विपरीत क्रम से उसी में लीन होने वाला और (स्थिति के समय) उसी में चेष्टा करने वाला है। अतः रागद्वेषादि से रहित संयत इन्द्रिय होकर उपासना करे, क्योंकि पुरुष निश्चय ही निश्चयात्मक है। इस लोक में जैसा निश्चय वाला पुरुष होता है वैसा ही इस देह से मर कर होता है इसलिये उस साधक को निश्चय करना चाहिये (क्योंकि शास्त्रप्रामाण्य से निश्चयानुरूप फल मिलना कहा गया है) ॥ १॥

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥ २ ॥

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ ३ ॥

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥ इति चतुर्दशः खण्डः ॥ (१४) ॥

ब्रह्म में आरोपित चिन्तनीय गुण

(वह ब्रह्म विषयों में प्रवृत्ति के हेतु भूत मन के कारण) मनोमय है। प्राण, शरीर, चैतन्य स्वरूप, सत्य संकल्प, (सर्व व्यापकत्व, सूक्ष्मत्व रूपादि हीनत्वादि आकाश के तुल्य होने से) आकाशात्मा, सर्वकर्मा, (दोष रहित) सम्पूर्ण कामवाला, सुखप्रद, सम्पूर्ण गन्धवाला, सम्पूर्ण रसवाला, सम्पूर्ण जगत् को सभी ओर से व्याप्त करलेने वाला, वाणी रहित, आप्तकाम होने से आग्रह शून्य है ॥ २ ॥

ब्रह्म अणु से अणु है और महान् से महान् है

यह मेरा आत्मा हृदय कमल के भीतर धान से, यव से, सरसों से, श्यामक से अथवा श्यामक तण्डुल से भी सूक्ष्म है और हृदय कमल के भीतर यह मेरा आत्मा पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक या इन सभी लोकों की अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥

हृदयस्थ ब्रह्म और परब्रह्म का अभेद

जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस और इस सम्पूर्ण जगत् को सभी ओर से व्याप्त करनेवाला वाणी रहित और आग्रह रहित है। वहीं मेरा आत्मा हृदयकमलवर्ती है और यही ब्रह्म है। इस देह से मरकर या गमन करने पर मैं इसी ब्रह्म को प्राप्त होऊँगा—ऐसा जिसका निश्चय है और जिसे इस विषय में किंचित् भी सन्देह नहीं है (उसे अवश्यमेव ईश्वर की प्राप्ति होती है) ऐसा शाण्डिल्य ने कहा है। ऐसा शाण्डिल्य ने कहा है ॥ ४ ॥

॥ इति चतुर्दशः खण्डः ॥

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्त्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलꣳस एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदꣳश्रितम्॥ १॥
तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदꣳरोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदꣳरुदम्॥ २॥
अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना, स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना॥ ३॥

अथ पञ्चदशः खण्डः

पुत्र के दीर्घायुष्य के लिये विराट् कोश की उपासना

अन्तरिक्ष उदर वाला (धर्माधर्म का आश्रय भूत) वह कोश पृथिवी रूप मूल वाला है (त्रैलोक्य स्वरूप होने से) वही कभी नष्ट नहीं होता। दिशायें इसके सभी कोण हैं, द्युलोक इसके ऊपर वाले बिल हैं। वह यह कोश कर्म फल रूप वसु का आधान स्थान है, उसी में यह सारा संसार स्थित है॥ १॥ उस कोश की पूर्वदिशा "जुहू" नाम वाली है, (क्योंकि कर्मी लोग पूर्वाभिमुख होकर होमादि करते हैं। दक्षिणदिशा में स्थित यमलोक में जीव अपने पाप कर्मों का फल भोगता है।) अतः दक्षिणदिशा "सहमाना" नाम वाली है। (सायंकालिक लालिमा से युक्त होने के कारण) पश्चिमदिशा 'राज्ञी' नाम वाली है और उत्तर दिशा (विभूति सम्पन्न) देवताओं से अधिष्ठित होने के कारण 'सुभूता' नाम की है। दिशाओं से उत्पन्न होने के कारण उनका वायु वत्स है। वह कोई भी पुरुष इस प्रकार पूर्वोक्त गुण विशिष्ट दिशाओं के वत्सा रूप से वायु की उपासना करता है, वह पुत्र के निमित्त से रोदन नहीं करता। वह मैं इस प्रकार इस वायु को वत्स रूप से जानता हूँ। अतः मैं पुत्र मरण निमित्त से होने वाला रोदन न करूँ—अर्थात् मुझे पुत्र के लिये रोने का प्रसंग न आवे॥ २॥ (पुत्र की दीर्घायु के लिये) मैं पूर्वोक्त अमुक-अमुक-अमुक के सहित अविनाशी कोश की शरण हूँ, अमुक-अमुक-अमुक के सहित प्राण की शरण हूँ, अमुक-अमुक-अमुक के सहित भूः की शरण हूँ, अमुक-अमुक-अमुक के सहित भुवः की मैं शरण हूँ और अमुक-अमुक-अमुक के सहित मैं स्वः की शरण हूँ (मन्त्र में आए हुए अमुक शब्द के स्थान में सर्वत्र पुत्र के नाम का उच्चारण करे—अर्थात् तीन-तीन बार अपने पुत्र का नाम लेवें)॥ ३॥

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदꣳसर्वं भूतं यदिदं किञ्च तमेव तत्प्रापत्सि॥ ४॥

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचम्॥ ५॥

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम्॥ ६॥

अथ यदवोचꣳ स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम्॥ ७॥ इति पञ्चदशः खण्डः॥ (१५)॥

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विꣳशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳसर्वं वासयन्ति॥ १॥

उस मैंने जो कहा कि मैं प्राण की शरण हूँ, सो यह सम्पूर्ण भूत समुदाय प्राण ही है, उसी विराट् की मैं शरण हूँ॥ ४॥ और मैंने जो कहा कि मैं भूः की शरण हूँ इससे मैंने इतना ही कहा है कि मैं पृथिवी की शरण हूँ, अन्तरिक्ष की शरण हूँ, द्युलोक की शरण हूँ॥ ५॥ पुनः मैंने जो कहा कि मैं भुवः की शरण हूँ, इससे यही कहा है कि मैं अग्नि की शरण हूँ, वायु की शरण हूँ तथा आदित्य की शरण हूँ॥ ६॥ और मैंने जो कहा कि मैं "स्वः" की शरण हूँ, इससे मैंने यही कहा कि मैं ऋग्वेद की शरण हूँ और यजुर्वेद की शरण हूँ और सामवेद की शरण हूँ। (इसके बाद उक्त अविनाशी कोशका दिशाओं के वत्सके सहित भलीप्रकार से ध्यानकर ऊपर के मन्त्रों का जप करे)॥ ७॥

॥ इति पंचदशः खण्डः॥

अथ षोडशः खण्डः

स्वीय दीर्घायु के लिये आत्म यज्ञ का संपादन

निश्चय पुरुष ही यज्ञ है, उस (पुरुष की आयु) के जो चौबीस वर्ष हैं, वे (पुरुष संज्ञक यज्ञ के) प्रातः सवन हैं, क्योंकि गायत्री छन्द चौबीस अक्षर वाला है और विधि यज्ञ का प्रातः सवन भी गायत्री छन्द वाला है। (अतः पुरुष प्रातः सवन रूप से संपन्न हुई चौबीस वर्ष की आयु से युक्त होने के कारण यज्ञ स्वरूप है)। उस इस प्रातः सवन के वसुदेवता अनुगत हैं। वागादि इन्द्रियाँ और प्राणादि वायु वसु हैं, क्योंकि ये ही इस पुरुषादि सभी प्राणियों को बसाये हुए हैं॥ १॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳ सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥ २॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳसवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳसर्वꣳ रोदयन्ति॥ ३॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳसवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥ ४॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳसर्वमाददते॥ ५॥

यदि इस प्रातः सवन रूप से सम्पन्न हुई आयु में उसे कोई व्याधि आदि कष्ट पहुँचावे तो वह (यज्ञ सम्पादन करने वाला पुरुष अपने को यज्ञ मानता हुआ) कहे—हे प्राण रूप वसुगण! मेरे इस प्रातः सवन को माध्यंदिन सवन आयु के साथ एक रूप कर दो। यज्ञ स्वरूप मैं (प्रातः सवन के अधिष्ठाता) प्राणरूप वसुओं के मध्य में नष्ट न होऊँ (उस जप और ध्यान के द्वारा) उसके बाद वह कष्ट से मुक्त हो वह नीरोग हो जाता है॥ २॥ इसके बाद पुरुष की आयु जो चौवालीस वर्ष हैं वे माध्यंदिन सवन हैं। त्रिष्टुप् छन्द चौवालीस अक्षरों वाला है और माध्यं-दिन सवन त्रिष्टप् छन्द से सम्बद्ध है। उसके रुद्रगण देवता सर्वत्र अनुगत हैं। निश्चय प्राण ही रुद्र है, क्योंकि ये प्राण रूप रुद्र ही प्राणी समुदाय को रुलाते हैं॥ ३॥ यदि उस यज्ञ कर्ता को (इस चौवालीस) वर्ष की अवस्था में कोई रोगादि संतप्त करें तो वह कहे—हे प्राणरूप रुद्रगण! मेरे इस मध्याह्न कालिक सवन को तृतीय सवन के साथ एकीभूत कर दो। यज्ञस्वरूप मैं प्राणरूप रुद्रों के भीतर कभी विच्छिन्न न होऊँ, इतना कहने मात्र से वह व्याधि आदि कष्ट से छूट जाता है॥ ४॥ इसके अनन्तर पुरुष की जो अड़तालीस वर्ष शेष आयु के हैं वे उस पुरुष यज्ञ के तृतीय सवन हैं। जगती छन्द भी अड़तालीस अक्षरों वाला है तृतीय सवन जगती छन्द से सम्बद्ध है। इस तृतीय सवन के आदित्य देवता सर्वत्र अनुगत है, प्राण ही आदित्य है, क्योंकि ये इस शब्दादि विषय समूह का आदान करते हैं॥ ५॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति॥ ६॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद॥ ७॥ इति षोडशः खण्डः॥ (१६)॥

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः॥ १॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति॥ २॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति॥ ३॥

यदि इस आयु में उस उपासक को कोई रोगादि दुःखी करें—तो वह इस प्रकार कहे, हे प्राणरूप आदित्यगण! मेरे इस तृतीय सवन को आयु रूप से (एक सौ सोलह वर्ष तक) पूर्ण करो। यज्ञ स्वरूप मैं प्राण रूप आदित्य के मध्य में विच्छिन्न न होऊँ। ऐसा कहने से वह उस व्याधि आदि कष्ट से मुक्त होकर रोग रहित हो जाता है॥ ६॥ इस प्रसिद्ध यज्ञ दर्शन को जानने वाले इतरा के पुत्र महिदास ने कहा था। हे रोग! तू मुझे यह संताप क्यों देता है? क्योंकि जो यज्ञ स्वरूप मैं तेरे इस संताप से नहीं मर सकूँगा (अतः तेरा परिश्रम व्यर्थ है) ऐसा निश्चय कर वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहा। जो अन्य कोई भी इस प्रकार उपासना करता है, वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहता है॥ ७॥

॥ इति षोडशः खण्डः॥

अथ सप्तदशः खण्डः

अक्षयादि फलप्रद आत्मयज्ञोपासना

वह जो पुरुष भोजन करना चाहता है, जो जल पीना चाहता है तथा जो (इष्ट वस्तु के अभाव में) प्रसन्न नहीं होता वे ही (दुःख सादृश्य के कारण विधि यज्ञीय दीक्षा के समान) इसकी दीक्षा हैं॥ १॥ और जो खाता है, जो पीता है तथा (इष्ट वस्तु की प्राप्ति से) जो रति का अनुभव करता है वह (उपसदों के पयोव्रत से होने वाले सुख की) सदृश्यता को प्राप्त होता है॥ २॥ और वह जो हँसता है जो भक्षण करता है तथा जो मैथुन करता है, वे सब स्तुत शस्त्र की ही समानता प्राप्त करता है, (क्योंकि शब्द युक्त होना दोनों में समान है)॥ ३॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिꣳसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥ ४॥

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथः॥ ५॥

तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसꣳशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः॥ ६॥

आदित्प्रत्नस्य रेतसः। उद्वयं तमसस्परिज्योतिः पश्यन्त उत्तरꣳस्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥ ७॥ इति सप्तदशः खण्डः॥ (१७)॥

तथा जो तप, दान, सरलता, अहिंसा और सत्य भाष्ण है वे ही इसकी दक्षिणा हैं (क्योंकि दक्षिणा के समान ये भी धर्म के पोषक हैं)॥ ४॥ अतः (प्रसव होने वाली स्त्री के विषय में लोग) कहतें हैं कि प्रसूता होगी (और बच्चे के जन्म के बाद) प्रसूता हुई, ऐसा कहते हैं, वही इसका पुनर्जन्म है तथा मरण ही (इस पुरुषयज्ञ का) अवभृथ स्नान है॥ ५॥ (जिस विद्या के प्रभाव से देवकी पुत्र कृष्ण अन्य विद्याओं के विषय में) वह तृष्णा हीन हो गया था उसे आंगिरस गोत्र में उत्पन्न घोर नामा ऋषि ने अपने शिष्य देवकी पुत्र कृष्ण को सुनाकर कहा कि उसे अन्तकाल में इन तीन मन्त्रों का जप करना चाहिये, १ तू अक्षय है। २ तू अविनाशी है। ३ तू अति सूक्ष्म प्राण वाला है। इन्हीं तीन यजुः के विंषय में नीचे के ये दो मन्त्र हैं॥ ६॥ (इन दोनों मन्त्रों की) इस प्रकार से योजना करनी चाहिये। आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि। दूसरी योजनाः—उद्वयं तमस्सपरि, इत्यादि है। जिनका अर्थ यह है, विषयों से निवृत्त चित्तवाले ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में स्थित परम देदीप्यमान तेज को सब ओर व्याप्त देखते हैं। पुरातन कारण का प्रकाश वे ब्रह्मचारी सर्वत्र देखते हैं, अज्ञान रूप अन्धकार से परे उत्कृष्ट ज्योति को देखते हुए तथा आत्मीय सर्वोत्तम तेज को देखते हुए (ऐसा समझते हैं कि) हम सम्पूर्ण देवों में प्रकाशमान सर्वोत्तम ज्योति स्वरूप सूर्य को प्राप्त हो गये हैं। 'ज्योतिरुत्तमम्' इस शब्द की द्विरुक्ति यज्ञ कल्पना की समाप्ति का सूचक है॥ ७॥

॥ इति सप्तदशः खण्डः॥

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च॥ १ ॥

तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म वाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्ममथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च॥ २ ॥

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥ ३ ॥

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥ ४ ॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥ ५ ॥

अथाष्टादशः खण्डः

मन आदि में अध्यात्म और अधिदेव दृष्टि से ब्रह्म की उपासना

'मन ब्रह्म है' ऐसी उपासना करे, यह आत्म विषयक दर्शन है इसके बाद अब देवता विषयक दर्शन कहते हैं। आकाश ब्रह्म है (ऐसी उपासना करे) इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनों प्रकार की ब्रह्म दृष्टि के विषय में उपदेश किया गया। (मन से ब्रह्म उपलब्ध होता है तथा आकाश सर्व व्यापक सूक्ष्म और उपाधि हीन है, इसीलिये ये दोनों ही ब्रह्म दृष्टि के योग्य हैं) ॥ १ ॥ वह यह (मनः संज्ञक) ब्रह्म चार पाद वाला है, वाक् पाद है, प्राण पाद है, नेत्र पाद है और श्रोत्र पाद है। यह अध्यात्म दृष्टि है। अब अधिदेव दृष्टि कहते हैं-अग्नि पाद है वायु पाद है आदित्य पाद है और दिशाएँ पाद हैं। इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनों प्रकार के चतुष्पाद ब्रह्म का उपदेश किया गया है ॥ २ ॥ वाणी ही मन रूप ब्रह्म का चतुर्थ पाद है, वह अग्नि रूप ज्योति से प्रदीप्त होता और उष्णता भी करता है। जो इस प्रकार से इनकी उपासना करता है वह कीर्ति-यश और ब्रह्मतेज से प्रकाशित होता है और तपता भी है ॥ ३ ॥ प्राण ही मन रूप ब्रह्म का चतुर्थ पाद है, वह वायु रूप ज्योति से गन्ध को ग्रहण के लिये प्रकाशित होता है और उत्साहित भी होता है। जो ऐसी उपासना करता है, वह कीर्ति (प्रत्यक्ष प्रशंसा) और ब्रह्म तेज से प्रकाशित होता है और तपता भी है ॥ ४ ॥ मन नामक ब्रह्म का चतुर्थ पाद नेत्र ही है। वह आदित्य रूप ज्योति से रूप ग्रहण के लिये प्रकाशित होता है और उत्साहित होता है। जो इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति, यश तथा ब्रह्म तेज से प्रकाशित होता और तपता भी है ॥ ५ ॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद॥ ६॥ इत्यष्टादशः खण्डः ॥(१८)॥

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत्। तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्॥ १॥

तद्यद्रजतꣳसेयं पृथिवी यत्सुवर्णꣳसा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बꣳस मेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेयमुदकꣳस समुद्रः॥ २॥

मनोरूप ब्रह्म का श्रोत्र ही चतुर्थपाद है, वह दिशा रूप तेज से शब्द ग्रहण के लिये प्रकाशित होता है और उत्साहित भी होता है। जो ऐसी उपासना करता है वह कीर्ति, यश व ब्रह्म तेज से प्रकाशित होता और तपता भी है। द्विरुक्ति विद्या की समाप्ति का सूचक है॥ ६॥

॥ इत्यष्टादशः खण्डः॥

अथैकोनविंशः खण्डः

आदित्य और अण्ड दृष्टि से अध्यात्म तथा आधिदैविक उपासना

'आदित्य ब्रह्म है' ऐसा आदेश है उसी की व्याख्या की जाती है। (उत्पत्ति से पूर्व यह नामरूपात्मक) जगत् असत् ही था, वह सत् यानी कार्याभिमुख हुआ, वह अंकुरित (हुए बीज के समान) हो गया। क्रमशः स्थूल होता हुआ जल से अण्डे के रूप में परिणत हो गया। वह एक वर्ष तक वैसा ही पड़ा रहा। तत्पश्चात् (वह पक्षियों के अण्डे के समान) फूट गया, वे दोनों अण्डे के खण्ड रजत तथा स्वर्ण रूप हो गये॥ १॥ उनमें जो रजतमय खण्ड था वही यह पृथिवी (रूप से उपलक्षित नीचे का भाग) है और जो स्वर्णमय खण्ड था वह द्युलोक है। उस अण्डे का जो स्थूलगर्भ वेष्टन था वह पर्वत समूह हुआ। जो सूक्ष्म गर्भ वेष्टन था वह मेघों के सहित कुहरा हुआ। जो उत्पन्न हुए गर्भस्थ शरीर में रक्त वाहिनी नाड़ियाँ थीं वे नदियाँ हुई और जो उसके मूत्राशय में जल था वह समुद्र हुआ ॥ २॥

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त सर्वाणि च भूतानि च सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः॥ ३॥

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳ साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन्निम्रेडेरन्॥ ४॥ इत्येकोनविंशः खण्डः॥ (१९)॥ इति तृतीयः प्रपाठकः॥ ३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस स ह सर्वत आवसथान्मापयांचक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति॥ १॥

फिर गर्भ से जो उत्पन्न हुआ वह यह आदित्य है। उस आदित्य के उत्पन्न होने पर सुदूर व्यापी शब्द उत्पन्न हुआ तथा उसी से सभी स्थावर जंगम जीव और उसके अन्न वस्त्रादि विषय भोग उत्पन्न हुए। इसीलिये आज भी सूर्यदेव उदय और अस्त होने पर (सम्पूर्ण भूत और सारे भोग) घोष शब्द युक्त उत्पन्न होते हैं॥ ३॥ वह जो भी कोई ऐसे महिमा वाले आदित्य को इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्म समझ कर उपासना करता है। (वह उस उपासना से आदित्य स्वरूप ही हो जाता है तथा) उस उपासक के समीप शीघ्र ही सुन्दर घोष आ जाते हैं और उसे सुख भी देते हैं। द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति और आदर के लिये है॥ ४॥

॥ इति तृतीयाध्यायः, एकोनविंशः खण्डः॥

अथ चतुर्थाध्याये प्रथमः खण्डः

राजा जानश्रुति और रैक्व की कथा

जनश्रुत के कुल में उत्पन्न उसका पोता ब्राह्मणों को श्रद्धा पूर्वक देने वाला बहुत दानी स्वभाव और भोजनार्थियों के लिये बहुत सा अन्न पकाने वाला प्रसिद्ध राजा था। सभी स्थानों पर लोग मेरा ही अन्न खायेंगे, इस अभिप्राय से जानश्रुति राजाने सभी दिशाओं में अनेक धर्मशालाएँ बनवा रक्खी थीं॥ १॥

अथ ह हꣳसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवꣳहꣳसो हꣳसमभ्युवाद हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति॥ २॥

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्वर एनमेतत्सन्तꣳ सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति यो नु कथꣳ सयुग्वा रैक्व इति॥ ३॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति॥ ४॥

यदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाचाङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति यो नु कथꣳ सयुग्वा रैक्व इति॥ ५॥

उसी समय रात्रि में उधर से हंस उड़ गये (अर्थात् उसके अन्न दान से संतुष्ट हो देवता लोग हंस रूप धारण कर राजा के दृष्टिगोचर हुए)। उनमें से एक हंस ने उड़ते हुए दूसरे हंस से कहा—अरे ओ भल्लाक्ष! जानश्रुति पौत्रायण की अन्नदान जनित प्रभाव से उत्पन्न हुई कान्ति द्युलोक के समान फैली हुई है। तू उसका स्पर्श न कर कदाचित् वह ज्योति तुझे भस्म न कर डाले॥ २॥ आगे चलने वाले दूसरे हंस ने उस हंस से कहा तू किस महत्त्व से युक्त रहने वाले इस राजा के प्रति इस प्रकार सम्मानित वचन कह रहा है (यह बेचारा राजा तो अत्यन्त तुच्छ है, ऐसा कह कर उसका अनादर करता है) क्या तू इसे गाड़ी वाले रैक्व के समान बतलाता है ऐसा कहने वाले उस हंस से भल्लाक्ष ने पूछा। जिसके विषय में तुम कह रहे हो वह गाड़ी वाला रैक्व कैसा है?॥ ३॥ जिस प्रकार (लोक में द्यूत क्रीड़ा के समय) कृतनामक पासे से विजय प्राप्त करने वाले पुरुष के अधीन शेष तीन पासे हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रजा जो कुछ भी सत्कर्म करती है वह सब उस कृत स्थानीय उस रैक्व को प्राप्त हो जाता है। वह रैक्व जिस बात को जानता है उसे जो कोई भी जानता है उसके विषय में भी मैंने फल बतला दिया—(अर्थात् रैक्व के समान ही वह भी कृतनामक पासे के सदृश हो जाता है)॥ ४॥ महल के ऊपर भाग में बैठा हुआ जानश्रुति पौत्रायण ने (अपनी निन्दा रूप और रैक्व आदि की प्रसंशा रूप) इस बात को सुन लिया (हंस की इस बात का स्मरण करते हुए दूसरे दिन प्रातः काल) निद्रा से उठते ही राजा ने सेवक से कहा—अरे भाई तू मुझे गाड़ीवाले रैक्व के समान बतला रहा है (रैक्व जानने की आकांक्षा राजा के मन में है ऐसा समझ कर सेवक ने कहा) जो गाड़ी वाला रैक्व के समान बतला रहा है (रैक्व जानने की आकांक्षा राजा के मन में है ऐसा समझ कर सेवक ने कहा) जो गाड़ी वाला रैक्व है वह कैसा है?॥ ५॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति॥ ६॥

स ह क्षत्ताऽन्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय तꣳ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति॥ ७॥

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कर्षमाणमुपोपविवेश तꣳ हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहꣳ ह्यरा ३ इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय॥ ८॥ इति प्रथमः खण्डः॥ (१)॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे तꣳहाभ्युवाद॥ १॥

रैक्वेमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथोऽनु म एतां भगवो देवताꣳशाधि यां देवतामुपास्स इति॥ २॥

वह सेवक उस रैक्व के खोज करने के बाद ''मैंने रैक्व को नहीं जाना नहीं पहिचाना'' ऐसा कहता हुआ वापिस लौटा। तब राजा ने सेवक से कहा अरे! जिस निर्जन स्थान में ब्रह्मवेत्ताओं की खोज की जाती है वहाँ इस रैक्व के पास जा और उसे पूछ॥ ७॥ सेवक ने एक गाड़ी के नीचे खाज खुजलाते हुए रैक्व को देखा और वह उसके पास नम्रता पूर्वक बैठ गया। बोला हे भगवन्! क्या गाड़ी वाले रैक्व आप ही हैं? उस पर रैक्व ने कहा अरे हाँ! मैं ही हूँ। तब वह सेवक यह समझ कर लौट आया कि अब मैंने रैक्व को पहिचान लिया॥ ८॥

॥ इति प्रथमः खण्डः॥

अथ द्वितीयः खण्डः

रैक्व के पास विधिपूर्वक जानश्रुति की उपसत्ति

तब वह पौत्रायण जानश्रुति राजा (उनके अभिप्राय को जानकर) छः सौ गाएँ, एक गले का हार और दो खच्चरियों से जुता हुआ एक रथ लेकर उस रैक्व के पास आया एवं उससे कहा॥ १॥ ऐ रैक्व! मैं (आपके लिये) ये छः सौ गौएँ यह हार और खच्चरियों से जुता हुआ रथ भी लाया हूँ। (इस धन को आप स्वीकार करें और) हे भगवन्। मुझे उस देवता का उपदेश करें जिसकी आप स्वयं उपासना करते हैं॥ २॥

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारे त्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥ ३ ॥

तꣳहाभ्युवाद रैक्वेदꣳ सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति ॥ ४ ॥

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचाजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास तस्मै होवाच ॥ ५ ॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥ (२) ॥

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥ १ ॥

उस राजा से रैक्व ने कहा ऐ शूद्र! गौओं के सहित यह हार और रथ तेरे पास ही रहे—(अर्थात् मेरी आवश्यकता के लिये यह पर्याप्त नहीं है) तत्पश्चात् फिर से वह जानश्रुति पौत्रायण एक सहस्र गौएँ एक हार, खच्चरियों से जुता हुआ रथ तथा (ऋषि की अभीष्ट पत्नीरूप अपनी एक) कन्या लेकर उस रैक्व के पास गया ॥ ३ ॥ यह हार और यह खच्चरियों से युक्त रथ, यह आपकी भार्या होने के लिये अपनी कन्या और यह ग्राम जिसमें आप रहते हैं। इन सबको आप स्वीकार करें और हे भगवन्! मुझे अवश्य ही उपदेश करें ॥ ४ ॥ तब रैक्व ने उस विद्या के ग्रहण करने के मुख (विद्या ग्रहण द्वार) को समझते हुए कहा—अरे शूद्र! तू जो ये गौएँ आदि लाया है (वह उचित ही है) इस विद्या ग्रहण माध्यम से ही तू मुझसे सम्भाषण कराता है, वे ये रैक्व पर्ण नाम से प्रसिद्ध ग्राम महावृषदेश में है जहाँ वह रैक्व रहा करता था। इस प्रकार भेंट स्वीकार कर उस राजा को रैक्व ने उपदेश किया ॥ ५ ॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥

अथ तृतीयः खण्डः

संवर्ग विद्या का उपदेश

यह बाह्यवायु ही संवर्ग है, क्योंकि जब अग्नि बुझता है तो वायु में ही लीन होता है, तथा जब सूर्य अस्त होता है तब वायु में ही लीन होता है और जब चन्द्रमा अस्त होता है तब वायु में ही लीन होता है (चन्द्र सूर्यादि ग्रह वायु से ही गति शील होकर अस्त होते हैं। इसलिये इनका वायु में विलय माना गया है) ॥ १ ॥

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम्॥ २॥

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणःश्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति॥ ३॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु॥ ४॥

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः॥ ५॥

स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति॥ ६॥

जब जल सूखता है तो वह वायु में ही लीन होता है और वायु ही इन अग्नि आदि महाशक्तिशाली तत्त्वों को अपने में लीन करता है। (अतः संवर्ग गुण दृष्टि से वायु की उपासना करनी चाहिये) इस प्रकार देवताओं में संवर्ग दृष्टि कही गयी॥ २॥ अब शरीर में संवर्ग कहा जाता है। मुख्य प्राण ही संवर्ग है क्योंकि यह पुरुष सोता है तो वागिन्द्रिय प्राण में लीन हो जाती है तथा चक्षु प्राण को ही श्रोत्र प्राण को ही और मन भी प्राण को ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि प्राण ही इन वागादि सभी को अपने में लीन करता है॥ ३॥ वे ये दो ही (संवर्जन गुण वाले होने से) संवर्ग हैं। देवताओं में वायु और वागादि इन्द्रियों में प्राण है॥ ४॥

संवर्ग विद्या की स्तुति के लिये आख्यान

एकबार कपि गोत्र में उत्पन्न शुनक का पुत्र शौनक और कक्षसेन का पुत्र काक्षसेनी अभिप्रतारी से भोजन परोसने के समय ही एक ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मचारी ने भिक्षा माँगी। किन्तु (उसके ब्रह्मज्ञान के अभिमान को जान कर) उन्होंने उसे भिक्षा न दी॥ ५॥ उस ब्रह्मचारी ने कहा—भूरादि समस्त लोकों के रक्षक उस एक ही देव प्रजापति ने चार महात्माओं को ग्रस लिया(अर्थात् वायु ने अग्नि आदि को और प्राण ने वागादि को ग्रस लिया) हे कापेय! हे अभिप्रतारिन्! मनुष्य (अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत भेद से) अनेक प्रकार से वास करते हुए उस देव को अविवेकी पुरुष नहीं देखते। अतएव जिसके भक्षण के लिए अन्न का संस्कार किया जाता है। उस प्रजापति को ही अन्न नहीं दिया गया॥ ६॥

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजानाꣳहिरण्यदꣳष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति॥ ७॥

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश संतस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दश कृतꣳसैषा विराडन्नादी तयेदꣳसर्वं दृष्टꣳसर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद॥ ८॥ इति तृतीयः खण्डः॥ (३)॥

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रो न्वहमस्मीति॥ १॥

कपि गोत्र में उत्पन्न शौनक ने उस ब्रह्मचारी के वाक्य का मनन कर उसके पास जाकर कहा (जिसके विषय में तुमने कहा कि मर्त्यगण उसे नहीं देखते,) जो देवताओं का आत्मा, चराचर प्रजाओं का उत्पत्ति कर्त्ता, अविनाशी दाढ़ों वाला, भक्षण शील और मेधावी है, जिसकी महती महिमा बतलायी गयी है। जो स्वयं दूसरों से न खाया जाने वाला तथा जो वस्तुतः अग्न्यादि देवताओं का अन्न नहीं है, (क्योंकि वह देव) उनको भी खा जाता है। हे ब्रह्मचारिन्! हम उसी की उपासना करते हैं। (फिर उसने सेवकों से कहा कि) इस ब्रह्मचारी को भिक्षा दे दो॥ ७॥ तब उन्होंने उसे भिक्षा दे दी। वे ये (अग्न्यादि और वायु, वागादि) पाँच से अन्य हैं और इनसे (वागादि तथा प्राण) ये पाँच अन्य हैं। इस प्रकार ये सभी दश होते हैं, ये दश होने के कारण कृत (चार अंकों वाले कृत नामक पासे से उपलक्षित द्यूत) हैं। अतः सम्पूर्ण दिशाओं में (अग्न्यादि और वागादि एक-एक को छोड़ कर) शेष ये अन्न हैं और ये दश होने के कारण ही कृत हैं। यह विराट ही अन्न भक्षण करने वाला है। उसके द्वारा यह सब देखा जाता है। जो इस प्रकार जानता है उस विद्वान् के द्वारा ये सम्पूर्ण जगत् उपलब्ध कर लिया जाता है और वह अन्न भक्षण करने वाला होता है। द्विरुक्ति उपासना की समाप्ति का सूचक है॥ ८॥

॥ इति तृतीयः खण्डः॥

अथ चतुर्थः खण्डः

ब्रह्मचर्य पूर्वक सत्यकाम की गोसेवा

जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता जबाला को संबोधित करके निवेदन किया है मातः! मैं स्वाध्याय ग्रहण के लिये ब्रह्मचर्य पूर्वक आचार्य कुल में निवास करना चाहता हूँ। अतः आप बतलाओ कि मैं किस गोत्र वाला हूँ॥ १॥

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति॥ २॥

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति॥ ३॥

तꣳहोवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरꣳसा मा प्रत्यब्रवीद्बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहꣳसत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥ ४॥

जबाला ने सत्यकाम से कहा हे तात! जिस गोत्र वाला तू है मैं उस तेरे गोत्र को नहीं जानती हूँ, तरुणावस्था में जब मैं पति के घर में आये हुये अभ्यागतों की परिचर्या में लगी रहती थी उस समय में मैंने तुझे प्राप्त किया था। (उसी समय तेरे पिता का देहावसान हो गया। अतः अनाथ) मैं जबाला नाम वाली हूँ और तू सत्यकाम नाम वाला है। अतः आचार्य के पूछने पर तू अपने को सत्यकाम जाबाला मैं हूँ, ऐसा कह देना॥ २॥ उसने हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर कहा मैं पूज्य श्रीमान् के यहाँ ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास करूँगा। इसलिये आपकी सन्निधि में शिष्य भाव से आया हूँ॥ ३॥ उस सत्यकाम से गौतम ने कहा हे सोम्य! तू किस गोत्र वाला है। उसने कहा भगवन्! मैं जिस गोत्र वाला हूँ उसे मैं नहीं जानता, मैंने अपनी माता से पूछा था उसने मुझे यही उत्तर दिया कि युवावस्था में मैं बहुत कार्य में व्यस्त हुई (तुम्हारे पिता के घर अतिथियों की) सेवा में लगी रहती थी, उस समय तुझे प्राप्त किया। इसलिये मैं नहीं जानती कि तू किस गोत्र वाला है। जबाला नाम वाली मैं हूँ और सत्यकाम नाम वाला तू है। अतः हे गुरुदेव! मैं सत्यकाम जाबाल हूँ॥ ४॥

तꣳहोवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधꣳसोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तेयेति स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रꣳसंपेदुः॥ ५॥ इति चतुर्थः खण्डः॥ (४)॥

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रꣳस्मः प्रापय न आचार्यकुलम्॥ १॥

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम॥ २॥

उस सत्यकाम से गौतम ने कहा ऐसा सरल एवं स्पष्ट भाषण ब्राह्मणेतर कोई नहीं कर सकता, (ब्राह्मण जाति के सत्यता तथा सरलता से तू भ्रष्ट नहीं हुआ) अतः हे सोम्य! (संस्कारार्थ होम के लिये) समिधा ले आ, मैं तुझ ब्राह्मण का उपनयन कर दूँगा, क्योंकि तूने सत्य का त्याग नहीं किया ऐसा कह सत्यकाम का उपनयन कर चार सौ कृश और दुर्बल गौएँ (गो समूह से) पृथक् करके सत्यकाम से कहा हे प्यारे! तू इन गौओं के पीछे-पीछे अच्छी प्रकार से जा। उन्हें ले जाते हुए सत्यकाम ने कहा कि-इनकी एक सहस्र संख्या पूरी हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा, जब तक वे गौएँ एक सहस्र संख्या में हुईं, वह सत्यकाम अनेक वर्षों तक वन में ही रहा॥ ५॥

॥ इति चतुर्थः खण्डः॥

अथ पञ्चमः खण्डः

सत्यकाम को ब्रह्म के प्रथम पाद का उपदेश साँड ने किया

तब सत्यकाम से हे सत्यकाम! ऐसा साँड ने कहा। उसे सत्यकाम ने "भगवन्" ऐसा कहकर उत्तर दिया, साँड ने कहा हे सोम्य! हम एक सहस्र हो गये हैं (तेरी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी है। अतः) अब तू हमें गुरुकुल में पहुँचा दे ॥ १॥ मैं तुझसे परब्रह्म का एक पाद बतलाऊँगा। ऐसा कहे जाने पर सत्यकाम ने कहा भगवन्! मुझे अवश्यमेव बतलावें। तब साँड ने उससे कहा—पूर्व दिक्कला, पश्चिम दिक्कला, दक्षिण दिक्कला और उत्तर दिक्कला। हे सोम्य! ब्रह्म का यह पाद प्रकाशमान् नामक चार कलाओं वाला है (इसी प्रकार ब्रह्म के अन्य तीन पाद भी चार-चार अवयव वाले हैं)॥ २॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते॥ ३॥ इति पञ्चमः खण्डः॥ (५)॥

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश॥ १॥

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव॥ २॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच पृथिवी कलाऽन्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम॥ ३॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते॥ ४॥ इति षष्ठः खण्डः॥ (६)॥

वह जो कोई विद्वान् ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद की इस प्रकार 'प्रकाशमान् ऐसे गुण से युक्त मानकर उपासना करता है वह इस लोक में विख्यात होता है और मरने पर 'प्रकाशवान्' लोकों को जीतता है, जो विद्वान् इस प्रकार ब्रह्म के 'प्रकाशवान्' इस चतुष्कल पाद की उपासना करता है॥ ३॥

॥ इति पञ्चमः खण्डः॥

अथ षष्ठः खण्डः

अग्नि द्वारा ब्रह्म के द्वितीय पाद का उपदेश

अग्नि तुझे (ब्रह्म का दूसरा) पाद बतलायेगा। ऐसा (कह कर साँड मौन हो गया)। दूसरे दिन सत्यकाम ने (नित्य क्रिया से निवृत्त होकर) गौओं को (गुरुकुल की ओर) ले चला। सायंकाल में जहाँ एकत्रित गौएँ हुई, वहाँ ही अग्नि स्थापित कर गौओं को रोक समिधा का आधान कर (साँड के वचनों को याद करता हुआ) अग्नि के पश्चिम की ओर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया॥ १॥ हे सत्यकाम! ऐसा सत्यकाम से अग्नि ने संबोधित किया। तब सत्यकाम ने हे भगवन्! ऐसा कहकर उसे उत्तर दिया॥ २॥ हे सोम्य! मैं तुझे ब्रह्म का एक पाद बतलाऊँ? (सत्यकाम ने कहा) भगवन्! मुझे अवश्य बतलावें। तो अग्नि ने सत्यकाम से कहा—पृथिवी कला, अन्तरिक्ष कला, द्युलोक कला और समुद्रकला है। हे सोम्य! ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद 'अनन्तवान्' नाम वाला है॥ ३॥ वह जो कोई पुरुष अनन्तवत्व गुण से युक्त इसे जानता है और ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद 'अनन्तवान्' समझकर उपासना करता है, वह इस लोक में अनन्त गुण वाला हो जाता है और वह अनन्तवान् इस गुण से युक्त उपासना करता है॥ ४॥

॥ इति षष्ठः खण्डः॥

हꣳसस्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश॥ १॥

तꣳहꣳस उपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव॥ २॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम॥ ३॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते॥ ४॥ इति सप्तमः खण्डः॥ (७)॥

अथ सप्तमः खण्डः

हंसने ब्रह्म के तृतीय पाद का उपदेश किया

हंस (आदित्य) तुझे ब्रह्म का तीसरा पाद बतलायगा। दूसरे दिन उसने गौओं को गुरुकुल की ओर घुमा दिया, सायंकाल में गौएँ जहाँ एकत्रित हुईं, वहाँ पर सत्यकामने अग्नि जलाकर गौओं को रोका और समिधा का आधानकर अग्नि की पश्चिम की ओर पूर्वाभिमुख हो बैठ गया॥ १॥ तब हंसने उसके समीप जाकर कहा हे सत्यकाम! उसने उत्तर दिया हे भगवन्॥ २॥ हे सोम्य! मैं तुझे ब्रह्म का तीसरा पाद बतलाऊँ? (ऐसा हंसने कहा, तब सत्यकाम ने कहा) भगवन् मुझे अवश्य बतलावें। तब वह हंस सत्यकाम से बोला अग्नि कला है, सूर्य कला है, चन्द्र कला है और विद्युत् कला है। हे सोम्य! ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद ''ज्योतिष्मान्'' नाम वाला है॥ ३॥ जो कोई इस प्रकार का विद्वान् पुरुष ''ज्योतिष्मान्'' ऐसे गुण से युक्त इस चतुष्कल पाद की उपासना करता है, वह इस लोक में तेजोयुक्त होता है तथा तेजस्वी लोकों को जीतता है। जो इस प्रकार इसे जानने वाला पुरुष ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को 'ज्योतिष्मान्' ऐसे गुण से युक्त उपासना करता है॥ ४॥

॥ इति सप्तमः खण्डः॥

मद्गुष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश॥ १॥

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव॥ २॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम॥ ३॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते॥ ४॥ इत्यष्टमः खण्डः॥ (८)॥

अथाष्टमः खण्डः

मद्गु ब्रह्म के चतुर्थपाद का उपदेश किया

मद्गु (जलचर पक्षी) चौथा पाद तुझे बतलायेगा। ऐसा (कहकर हंस चला गया) दूसरे दिन सत्यकाम गौओं को, गुरुकुल की ओर ले चला। सायंकाल में जहाँ वे गौएँ एकत्रित हुईं, वहाँ पर अग्नि प्रज्वलित कर गौओं को रोक समिधा आधान कर सत्यकाम अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया॥ १॥ मद्गु ने निकट में जाकर सत्यकाम से कहा, सत्यकाम! तब उसने उत्तर दिया भगवन्॥ २॥ हे सोम्य! मैं तुझे ब्रह्म का चतुर्थ पाद बतलाऊँ? मुझे अवश्य बतलाएँ। तब मद्गु ने कहा प्राण कला, चक्षु कला, श्रोत्र कला और मन कला है। हे सोम्य! ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद ''आयतनवान्'' नाम वाला है ॥ ३॥ वह जो कोई इसे इस प्रकार जानने वाला पुरुष ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद की ''आश्रयवान्'' ऐसे गुण से युक्त उपासना करता है, वह इस लोक में आश्रय वाला होता है और मरने पर अवकाश युक्त लोकों को जीतता है। जो इसे इस प्रकार जानने वाला पुरुष ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद की ''आश्रयवान्'' ऐसे गुण से युक्त उपासना करता है॥ ४॥

॥ इत्यष्टमः खण्डः॥

प्राप हाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव॥ १॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे भगवाꣳस्त्वेव मे कामे ब्रूयात्॥ २॥

श्रुतꣳह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति॥ ३॥ इति नवमः खण्डः॥ (९)॥

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयꣳस्तꣳह स्मैव न समावर्तयति॥ १॥

अथ नवमः खण्डः

आचार्य मुख से सत्यकाम का उपदेश ग्रहण

(इस प्रकार सत्यकाम ब्रह्मवेत्ता होकर) गुरुकुल में पहुँचा, उससे आचार्य ने कहा, सत्यकाम! सत्यकाम ने उत्तर दिया, भगवन्!॥ १॥ हे सोम्य! तू ब्रह्मवेत्ता सा प्रतीत हो रहा है, (क्योंकि प्रसन्नेन्द्रिय हसमुख चिन्ता रहित ब्रह्मज्ञानी ही होता है) तुझे किसने उपदेश दिया है? तब सत्यकाम ने उत्तर दिया, मनुष्यों से भिन्न देवताओं ने मुझे उपदेश दिया। अब मेरी इच्छा के अनुसार आप भगवान् ही उपदेश करें॥ ३॥ मैंने आप जैसे ऐश्वर्यवान् ऋषियों से सुना है कि आचार्य से जानी गयी विद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त होती है। ऐसा सुनकर आचार्य ने सत्यकाम को (देवताओं द्वारा प्राप्त) उसी विद्या का उपदेश किया, उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं की, न्यूनता नहीं हुई, अर्थात् उसकी विद्या पूर्ण हुई॥ ३॥

॥ इति नवमः खण्डः॥

अथ दशमः खण्डः

अग्नि ने उपकोशल को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया

उपकोशल नाम से प्रसिद्ध कमल के पुत्र ने सत्यकाम जाबाल के पास ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास किया। उसने बारह वर्षों तक उस आचार्य की अग्नियों की परिचर्या की। किन्तु उस आचार्य ने अन्य ब्रह्मचारियों का तो स्वाध्याय कराकर समावर्तन कर दिया, केवल उपकोशल का ही समावर्तन नहीं किया॥ १॥

तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासांचक्रे ॥ २ ॥

स ह व्याधिनानशितुं दध्रे तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किं नु नाश्नासीति स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति ॥ ३ ॥

अथ हाग्नयः समूदिरे तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः ॥ ४ ॥

प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामीति ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः ॥ ५ ॥ इति दशमः खण्डः ॥ (१०) ॥

आचार्य से उनकी पत्नी ने कहा इस ब्रह्मचारी ने खूब तपस्या की है, इसने अग्नियों की अच्छी प्रकार सेवा की है। कहीं अग्नियाँ आप की निन्दा न करें। इसलिये इस उपकोशल को इसकी अभीष्ट विद्या का उपदेश कर दीजिये। पत्नी द्वारा कहे जाने पर भी आचार्य उसे उपदेश किये बिना ही बाहर चले गये ॥ २ ॥ उपकोशल ने मानसिक दुःख से अनशन करने का निश्चय किया (अग्निशाला में चुपचाप बैठे हुए) उससे गुरुपत्नी ने कहा, हे ब्रह्मचारिन् तू भोजन कर, क्या बात है, भोजन नहीं करता? ब्रह्मचारी ने कहा इस अकृतार्थ साधारण मनुष्य में अनेक कामनाएँ रहती हैं, जो अनेक दिशा में ले जानेवाली हैं। मैं व्याधियों से परिपूर्ण हूँ। अतः मैं भोजन नहीं करूँगा ॥ ३ ॥ तब (उसकी सेवा से अनुकूल हुए तीनों) अग्नियों ने करुणावश एकत्रित होकर कहा इस तपस्वी ब्रह्मचारी ने हमारी अच्छी प्रकार सेवा की है। अतः इस श्रद्धालु ब्रह्मचारी को हम ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। ऐसा निश्चय कर वे अग्नियाँ ब्रह्मचारी से बोलीं ''प्राण'' ब्रह्म है ''क'' ब्रह्म है ॥ ४ ॥ उसने कहा यह तो मैं जानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है (क्योंकि प्राण के रहने पर जीवन उसके अभाव में मृत्यु हो जाती है। अतः प्राण का ब्रह्म होना उचित ही है) किन्तु 'क' और 'ख' को मैं नहीं जानता हूँ, तब अग्नियों ने कहा निश्चय ही जो 'क' है वही 'ख' है और जो 'ख' है वही 'क' है। (क्योंकि 'क' सुख है और वह सुख आकाशरूप होने से नित्य एवं व्यापक है) इस प्रकार उन्होंने उस ब्रह्मचारी को प्राण और उसके आश्रय आकाश का उपदेश किया ॥ ५ ॥

॥ इति दशमः खण्डः ॥

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति॥ १॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते॥ २॥ इत्येकादशः खण्डः ॥ (११)॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति॥ १॥

अथैकादशः खण्डः

गार्हपत्याग्नि

(उनमें से सबसे पहले) उस ब्रह्मचारी की गार्हपत्याग्नि ने शिक्षा दी-पृथिवी, अग्नि, अन्न और आदित्य (ये मेरे चार शरीर हैं)। आदित्य में जो यह पुरुष दिखाई पड़ता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ॥ १॥ जो इसे प्रकार जानने वाला इसकी उपासना करता है, वह पुरुष पाप कर्मों को नष्ट कर देता है, अग्नि लोक वाला हो जाता है, पूर्ण आयु प्राप्त करता है, उज्ज्वल जीवन बिताता है तथा इसके संतति परम्परा में उत्पन्न पुरुष क्षीण नहीं होते एवं हम उसका इस लोक में जीवित और परलोक में भी पालन करते हैं। जो विद्वान् इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है (उसे पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है)॥ २॥

॥ इत्येकादशः खण्डः॥

अथ द्वादशः खण्डः

अन्वाहार्य पंचाग्नि विद्या

फिर उपकोशल को दक्षिणाग्नि ने शिक्षा दी—जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा (ये चार मेरे शरीर हैं, अर्थात् अपने को चार प्रकार से विभक्त करके अन्वाहार्य पचन रूप से मैं स्थित हूँ) उनमें से चन्द्रमा में जो पुरुष दिखायी पड़ता है वह मैं हूँ॥ १॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते॥ २॥ इति द्वादशः खण्डः॥ (१२)॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति॥ १॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते॥ २॥ इति त्रयोदशः खण्डः॥ (१३)॥

जो इसे इस प्रकार जान कर इस चतुर्धा विभक्त अग्नि की उपासना करता है, वह पुरुष पाप कर्मों को नाश कर देता है। लोकवान् होता है, पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, विशुद्ध जीवन व्यतीत करता है। उसकी उत्तरवर्ती संतति क्षीण नहीं होती और हम उसका लोक परलोक में पालन करते हैं। जो इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है॥ २॥

॥ इति द्वादशः खण्डः॥

अथ त्रयोदशः खण्डः

आहवनीयाग्नि विद्या

उसके बाद उस ब्रह्मचारी को आहवनीयाग्नि ने शिक्षा दी, प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत् (ये चार मेरे शरीर हैं, इनमें से) यह जो विद्युत् में पुरुष दीख पड़ता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ॥ १॥ जो इसे इस प्रकार जानकर इस (चार भाग में विभक्त अग्नि) की उपासना करता है, वह पुरुष पाप कर्म को नष्ट करा देता है। लोकवान् होता है, पूर्ण आयु को प्राप्त करा देता है तथा विशुद्ध जीवन बिताता है। उस उपासक के परवर्ती क्षीण नहीं होते और हम इस लोक तथा परलोक में उसका पालन करते हैं, जो इसे उक्त रीति से जान कर इसकी उपासना करता है॥ २॥

॥ इति त्रयोदशः खण्डः॥

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति॥ १॥

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वानुशशासेति को नु मानुशिष्यादभो इतीहापेव निह्नुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतिहाग्नीनभ्यूदे किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति॥ २॥

इदमिति ह प्रतिजज्ञे लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच॥ ३॥ इति चतुर्दशः खण्डः॥ (१४)॥

अथ चतुर्दशः खण्डः

आचार्य का शुभागमन

उन अग्नियों ने फिर एक साथ कहा—हे उपकोशल! हे सोम्य! हमने तेरे प्रति यह अपनी विद्या और आत्मविद्या (प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म, इत्यादि रूपा) कही, अब (इस विद्या के फल की प्राप्ति के लिये) मार्ग तुझे आचार्य बतला देंगे। कालान्तर में उसके आचार्य आये और उससे कहा, हे उपकोशल!॥ १॥

गुरु शिष्य संवाद

हे भगवन्! ऐसा उपकोशल ने उत्तर दियां। आचार्य बोले हे सोम्य! तेरी मुखाकृति ब्रह्मज्ञानी के समान प्रतीत होती है, तुझे किसने उपदेश किया। ऐसा सुनकर ब्रह्मचारी ने कहा देव! आपके अभाव में मुझे कौन उपदेश करता? इस प्रकार कहकर, वह अग्नि के द्वारा किये हुए उपदेश को मानो छिपाने लगा। (फिर अग्नियों की ओर संकेत करते हुए बोला निश्चय ही मेरी सेवा से प्रसन्न हो) इन अग्नियों ने उपदेश किया है, क्योंकि अग्नियाँ पहले अन्य प्रकार की थीं और अब ये काँपती हुईं सी हो गईं हैं। ऐसा कहकर उसने अग्नियों को उपदेशक रूप में बतलाया। आचार्य ने पूछा हे सोम्य! उन्होंने तुझे क्या उपदेश किया?॥ २॥ तब उपकोशल ने "यह बतलाया है" ऐसी प्रतिज्ञा की। आचार्य ने पूछा हे सोम्य! उन अग्नियों ने तुझे केवल लोकों को ही बतलाया है। अब मैं तुझे वह बतलाता हूँ, जिससे जानने वाले में पाप कर्म का लेप वैसे ही नहीं होता जैसे कमल पत्र में जल का सम्बन्ध नहीं होता। ब्रह्मचारी ने कहा भगवन्! मुझे अवश्य बतलावें, तब आचार्य ने उससे कहा॥ ३॥

॥ इति चतुर्दशः खण्डः॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति॥ १॥

एतꣳसंयद्वाम इत्याचक्षत एतꣳहि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद॥ २॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद॥ ३॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद॥ ४॥

अथ पंचदशः खण्डः

नेत्रस्थ पुरुष की उपासना का उपदेश

(संयत इन्द्रिय समुदाय समाहित चित्त विवेकियों द्वारा) "जो यह नेत्रों में दृष्टि का द्रष्टा पुरुष दिखलायी पड़ता है यह आत्मा है" यह अमृत है, यह अभय है और यह ब्रह्म है, ऐसा आचार्य ने कहा। उस (पुरुष का ऐसा माहात्म्य है कि उसके स्थान रूप नेत्र) में यदि घृत या जल डालां जाय, तो वह इधर उधर पलकों में ही चला जाता है। (जब उसके स्थान की ऐसी महिमा है, तो भला स्थानी नेत्रस्थ पुरुष की निस्संगता के विषय में तो कहना ही क्या है)॥ १॥ इस पुरुष को "संयद्वाम" ऐसा कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण संभजनीय पदार्थ इसे सभी ओर से प्राप्त होते हैं सभी सम्भजनीय पदार्थ इसे सभी ओर से प्राप्त होते हैं, जो ऐसा जानता है॥ २॥ यही वामनी है, क्योंकि (प्राणियों के प्रति पुण्य कर्मानुसार) सम्पूर्ण पुण्य कर्म फलों को प्राप्त कराता है सम्पूर्ण पुण्य कर्म फलों को यही प्राप्त कराता है, जो ऐसा जानता है॥ ३॥ यही भामनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण (आदित्य, चन्द्र और अग्नि आदि के रूप में) लोकों में भासमान् होता है। जो ऐसा जानता है, वह भी सम्पूर्ण लोकों में भासमान् होता है॥ ४॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान्मासेभ्यः संवत्सरꣳसंवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते॥ ५॥ इति पञ्चदशः खण्डः ॥ (१५)॥

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदꣳसर्वं पुनाति यदेष यन्निदꣳसर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ॥ १ ॥

ब्रह्मज्ञानी की गति

इस ब्रह्मवेत्ता के लिये शव कर्म करें अथवा न करें, वह अर्चि मार्ग के अभिमानी देव को ही प्राप्त होते हैं, फिर अर्चि अभिमानी देव से दिन अभिमानी देवता को, दिनाभिमानी देवता से शुक्ल पक्षाभिमानी-देवता को और शुक्ल पक्षाभिमानी देवता से उत्तरायण छः मासों के अभिमानी देव को प्राप्त होता है। उन मासों से संवत्सराभिमानी को, संवत्सर से आदित्य को और आदित्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत् को प्राप्त करता है। वहाँ से विद्युत्लोक में गये उपासकों को अमानव पुरुष ब्रह्मलोक से आकर सत्य लोकस्थ ब्रह्म के पास पहुँचा देता है। यह देव मार्ग है, यह ब्रह्म मार्ग है। इस मार्ग से जाने वाले उपासक इस मानव सृष्टि में नहीं लौटते, नहीं लौटते॥ ५॥

॥ इति पञ्चदशः खण्डः॥

अथ षोडशः खण्डः

गतिमान् यज्ञ की उपासना

यह जो वायु रूप से चलता है, निश्चय यज्ञ ही है। निःसन्देह यह गमन करता हुआ सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करता है। यह गमन करता हुआ निश्चय ही सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करता है, इसीलिये यही यज्ञ है। (यज्ञ के मन्त्रोच्चारण करने में प्रवृत्त) वाणी और यथार्थ वस्तु के ज्ञान में प्रवृत्त मन ये दोनों मार्ग हैं ॥ १ ॥

तयोरन्यतरां मनसा सꣳस्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतराꣳस यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ॥ २ ॥

अन्यतरामेव वर्तनीꣳसꣳस्करोति हीयतेऽन्यतरा स यथैकपाद्व्रजन्रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञꣳरिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति स इष्ट्वा पापीयान्भवति ॥ ३ ॥

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदत्युभे एव वर्तनी सꣳस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥ ४ ॥

स यथोभयपाद्व्रजन्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान्भवति ॥ ५ ॥ इति षोडशः खण्डः ॥ (१६) ॥

ब्रह्मा के मौन भंग होने पर यज्ञ ही हानि

उन दोनों मार्गों में से एक मन रूप मार्ग का ब्रह्मा नामक ऋत्विक् विवेक युक्त मन से संस्कार करता है तथा होता, अध्वर्यु और उद्गाता ये तीनों ऋत्विक् भी वाणी रूप मार्ग द्वारा दूसरे मार्ग का संस्कार करते हैं। यदि प्रातरनुवाक के आरम्भ हो जाने पर परीधानीया ऋचा के उच्चारण से पूर्व ब्रह्मा बोल जाय, तो वह एक वाणी रूप मार्ग का ही संस्कार करता है। दूसरा मन रूप मार्ग छिद्र युक्त हो जाता है। जैसे एक पाद से चलने वाला पुरुष या एक चक्र से चलने वाला रथ नष्ट हो जाता है, वैसे ही इसका यज्ञ नष्ट हो जाता है। यज्ञ नष्ट हो जाने के बाद यजमान का भी नाश हो जाता है, फिर तो इस प्रकार यज्ञ करके वह और भी अधिकतर पापी होता है ॥ २-३ ॥

ब्रह्मा के मौन धारण से यज्ञ की सिद्धि

और यदि विद्वान् ब्रह्मा प्रातरनुवाक आरंभ करने के बाद शास्त्र की अन्तिम परिधानिया ऋचा से पूर्व मौन त्यागता नहीं तो (सभी ऋत्विक् मिलकर) दोनों ही मार्गों का संस्कार करते हैं, तब एक भी मार्ग नष्ट नहीं होता ॥ ४ ॥ जैसे दोनों पैरों से चलने वाला पुरुष या दोनों चक्रों से चलने वाला रथ प्रतिष्ठित रहता है, इसी प्रकार इस यजमान का यज्ञ प्रतिष्ठित रहता है और यज्ञ के प्रतिष्ठित रहने पर (यज्ञ के समान ही) यजमान भी प्रतिष्ठित रहता है (इस प्रकार मौन विज्ञान युक्त ब्रह्मावाला) वह यजमान यज्ञ करके श्रेष्ठ होता है ॥ ५ ॥

॥ इति षोडशः खण्डः ॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानाꣳरसान्प्राबृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः॥ १॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाꣳरसान्प्राबृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूꣳषि सामान्यादित्यात्॥ २॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्राबृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः॥ ३॥

तद्यद्यृक्तो रिष्येद्भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति॥ ४॥

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टꣳसंदधाति॥ ५॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टꣳसंदधाति॥ ६॥

अथ सप्तदशः खण्डः

यज्ञ दोष के निवारणार्थ व्याहृतियों की उपासना

प्रजापति ने लोकों को उद्देश्य बनाकर (इनके सार ग्रहण की इच्छा से) ध्यान रूप तप किया। उन तपे हुए लोकों में से उसने रस निकाला। पृथिवी से अग्नि रूप रस, अन्तरिक्ष से वायु रूप रस तथा द्युलोक से आदित्य रूप रस को निकाला ॥ १॥ फिर भी प्रजापति ने अग्न्यादि इन तीन देवताओं को लक्ष्य बनाकर तप किया। उन तपे हुए देवताओं से उसने रस निकाले। अग्नि से ऋक्, वायु से यजुः और आदित्य से साम को निकाला॥ २॥ उसके बाद उस प्रजापति ने इस त्रयीविद्या को लक्ष्य में रखकर तप किया। उस तपे हुए विद्या से उसने रस निकाले। ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद से भुवः और सामवेद से स्वः इन तीनों रसों को निकाला॥ ३॥ उस यज्ञ में यदि ऋग्वेदों के सम्बन्ध से क्षति हो तो "भूः स्वाहा" ऐसा उच्चारण कर गार्हपत्याग्नि में हवन करे। इस प्रकार वह यजमान ऋचाओं के रस से ऋक् श्रुतियों के ओज द्वारा वह यज्ञ के ऋक् सम्बन्धी विच्छेद की पूर्ति करता है॥ ४॥ और यदि यजुर्वेद के निमित्त से क्षति हो तो "भुवः स्वाहा" ऐसा उच्चारण कर दक्षिणाग्नि में हवन करे। इस प्रकार यजुर्वेद के रस से यजुर्वेद के ओज द्वारा यज्ञ के यजुः सम्बन्धी क्षति की पूर्ति करता है॥ ५॥ एवं यदि साम श्रुतियों के निमित्त से क्षति हो तो "स्वः स्वाहा" ऐसा उच्चारण कर आहवनीयाग्नि में हवन करे। इस प्रकार वह साम के रस से साम के ओज द्वारा साम सम्बन्धी यज्ञ की क्षति की पूर्ति करता है॥ ६॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णꣳ संदध्यात्सुवर्णेन रजतꣳरजतेन त्रपु त्रपुणा सीसꣳसीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा॥ ७॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टꣳसंदधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति॥ ८॥

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवत्येवंविदꣳ ह वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति॥ ९॥

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानꣳसर्वाꣳश्चर्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम्॥ १०॥ इति सप्तदशः खण्डः॥ (१७)॥ इति चतुर्थः प्रपाठकः॥ ४॥

विद्वान् ब्रह्मा की विशेषता

इस सम्बन्ध में (ऐसा समझना चाहिये कि) जैसे लवण (क्षार) से सुवर्ण को, सुवर्ण से रजत को, रजत से राँगे को, राँगे से शीशे को, शीशे से लोहे को, लोहे से काष्ठ को या चमड़े के बन्धन से काष्ठ को जोड़ा जाता है॥ ७॥ वैसे ही इन लोक देवता और त्रयीविद्या के ओज से यज्ञ की क्षति की पूर्ति करते हैं। जिसमें इस प्रकार विद्वान् ब्रह्मा होता है, वह यज्ञ निश्चय ही मानो औषधियों द्वारा सुसंस्कृत होते हैं॥ ८॥ जहाँ ऐसा विद्वान् होता है, वह यज्ञ उत्तर मार्ग की प्राप्ति कराने वाला होता है। इस प्रकार जानने वाले ब्रह्मा को लक्ष्य में रखकर ही यह गाथा प्रसिद्ध हुई है कि जहाँ-जहाँ कर्म आवर्त्त होता है (ऋत्विक् के कारण से यज्ञ नष्ट होता है) वहाँ पर वह पहुँच जाता है (और यज्ञ कर्त्ता की सब प्रकार की रक्षा करता है) एक मौनी (मनन शील) ब्रह्मा ही ऋत्विक् है। जैसे युद्ध में घोड़ी योद्धाओं की रक्षा सब प्रकार से करती है, वैसे ही ऐसा जानने वाला ब्रह्मा यज्ञ यजमान और समस्त ऋत्विजों की भी रक्षा करता है। अतः इस प्रकार जानने वाले को ही ब्रह्मा बनावे। ऐसा न जानने वाले को ब्रह्मा न बनावे। द्विरुक्ति अध्याय की समाप्ति का सूचक है॥ १०॥

॥ इति चतुर्थाध्यायः, सप्तदशः खण्डः॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

ॐ। यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च॥ १॥

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः॥ २॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा॥ ३॥

यो ह वै संपदं वेद सꣳ हास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव संपत्॥ ४॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम्॥ ५॥

अथ पंचमाध्याये प्रथमः खण्डः

ज्येष्ठादि गुण विशिष्ट प्राण की उपासना

जो कोई (आयु में प्रथम होने से) ज्येष्ठ और (गुणों में अधिक होने से) श्रेष्ठ को जानता है, वह निश्चय ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है, (क्योंकि कार्य कारण संघात में) निश्चय ही प्राण ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ है॥ १॥ जो कोई (अत्यन्त आच्छादक और धनवान् होने से) वसिष्ठ को जानता है, वह स्वजातियों में वसिष्ठ होता है। निश्चय ही वाग् वसिष्ठ है (क्योंकि श्रेष्ठ वक्ता लोग ही दूसरों को पराभव करते एवं धनी भी होते हैं)॥ २॥ जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है, वह इस लोक और परलोक में प्रतिष्ठित होता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है (क्योंकि नेत्र से ही देखकर सम एवं विषम स्थानों में प्रतिष्ठित होता है)॥ ३॥ जो कोई संपद् को जानता है, उसे दैव ओर मानुष भोग सम्यक् प्रकार से प्राप्त होते हैं। श्रोत्र ही संपद् है (क्योंकि श्रोत्र से वेद और उसके अर्थ को जानकर कर्मानुष्ठान करके भोगों को प्राप्त करता है।) जो कोई आयतन को जानता है, वह सजातियों का आयतन बन जाता है। निश्चय ही मन आयतन है (क्योंकि इन्द्रियों द्वारा उपस्थापित विषयों का मन ही आश्रय है)॥ ५॥

इन्द्रियों का परस्पर विवाद

एकबार "मैं श्रेष्ठ हूँ मैं ज्येष्ठ हूँ" इस प्रकार अपनी श्रेष्ठता के लिये इन्द्रियाँ परस्पर विवाद करने लग गयीं॥ ६॥

अथ ह प्राणा अहꣳश्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳ श्रेयानस्म्यहꣳ श्रेयानस्मीति ॥ ६ ॥

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥ ७ ॥

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथान्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

श्रेष्ठता के लिये प्रजापति का निर्णय

इस प्रकार विवाद करते हुए उन प्राणों ने अपने पिता प्रजापति के पास जाकर कहा हे भगवन्! हममें कौन श्रेष्ठ है? प्रजापति ने उन्हें उत्तर दिया। तुममें से जिसके उत्क्रमण करने पर यह शरीर अत्यन्त पापिष्ठ (प्राणहीन एवं निकृष्ट) सा दिखायी दे, वही तुममें श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

वाणी की परीक्षा

उस वाणी ने उत्क्रमण किया और उसने एक वर्ष तक प्रवास करने के बाद फिर लौट कर उस प्राणों से कहा—मेरे बिना तुम लोग कैसे जीवित रह सके? अन्य इन्द्रियों ने उत्तर दिया जैसे गूँगे संसार में वाणी से बिना बोले प्राण से प्राणन करते हुए जीवित रहते हैं। वैसे ही (हम जीवित रहे)। ऐसा सुनकर अपनी अश्रेष्ठता जानकर वाणी शरीर में पुनः प्रवेश कर गयी ॥ ८ ॥

नेत्र की परीक्षा

फिर नेत्र ने उत्क्रमण किया, उसने भी एक वर्ष प्रवास करने के बाद लौट कर शेष प्राणों से पूछा, मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके? जैसे अंधे लोग नेत्र से रूप देखे बिना ही प्राण से प्राणन करते हुए, वाणी से बोलते हुए, कान से सुनते और मन से चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही (हम भी जीवित रहे)। इस प्रकार अपनी अश्रेष्ठता जानकर नेत्र ने फिर शरीर में प्रवेश किया ॥ ९ ॥

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकततें मज्जीवितुमिति यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम्॥ १०॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकततें मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः॥ ११॥

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सुहयः पड्वीशशंकून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तꣳहाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति॥ १२॥

श्रोत्र की परीक्षा

पुनः श्रोत्र ने उत्क्रमण किया। उसने भी एक वर्ष तक प्रवास करने के बाद लौट कर अन्य प्राणों से पूछा, मेरे बिना तुम लोग कैसे जीवित रहे? जैसे बहरे कान से सुने बिना प्राण से प्राणन करते हुए, वाणी से बोलते, नेत्र से देखते और मन से चिन्तन करते हुए संसार में जीवित रहते हैं, वैसे ही (हम भी जीवित रहे)। इस प्रकार अपनी अश्रेष्ठता जानकर श्रोत्रने पुनः इस शरीर में प्रवेश किया ॥ १०॥

मन की परीक्षा

तदनन्तर मन ने उत्क्रमण किया, उसने भी एक वर्ष तक प्रवास करने के बाद अन्य प्राणों से कहा—मेरे बिना तुम लोग कैसे जीवित रहे? जैसे अविकसित मन वाले बालकलोग प्राण से प्राणन करते हुए, वाणी से बोलते हुए, नेत्र से देखते और कान से सुनते हुए, जीवित रहते हैं, वैसे ही (हम भी जीवित रहे)। इस प्रकार अपनी अश्रेष्ठता जानकर मन ने फिर से शरीर में प्रवेश किया॥ ११॥

परीक्षा में प्राण की विजय

उसके बाद मुख्य प्राण ने उत्क्रमण करना चाहा। जिस प्रकार लोक में अच्छा घोड़ा (परीक्षा के लिये मनुष्य द्वारा चाबुक से मारे जाने पर) अपने पैर बाँधने की कीलों को उखाड़ डालता है, उसी प्रकार मुख्य प्राण ने वागादि अन्य प्राणों को उखाड़ डाला। तब उन सभी वागादि प्राणों ने मुख्य प्राण के सामने जाकर कहा—भगवन्! आप हमारे स्वामी हो। हम सब में आप ही श्रेष्ठ हैं। अतः आप उत्क्रमण न करें॥ १२॥

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति॥ १३॥

अथ हैनꣳश्रोत्रमुवाच यदहꣳसंपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति॥ १४॥

न वै वाचो न चक्षूꣳषि न श्रोत्राणि न मनाꣳसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति॥ १५॥ इति प्रथमः खण्डः ॥ (१)॥

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किंचिदिदमा श्वभ्य आशकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति॥ १॥

इन्द्रियों ने प्राण की स्तुति की

तत्पश्चात् वाणी ने प्राण से कहा मैं जो वसिष्ठत्व गुण वाली हूँ वह तुम्हीं वसिष्ठत्व गुण से युक्त हो। पुनः नेत्र ने प्राण से कहा—जो मैं प्रतिष्ठावाला हूँ, वह तुम्हीं प्रतिष्ठा वाले हो॥ १३॥ फिर प्राण से श्रोत्र ने कहा—मैं जो संपद् हूँ वह तुम्हीं संपद् हो। पुनः प्राण से मनने कहा—मैं जो आयतनत्व विशिष्ट हूँ वह तुम्हीं आयतनत्व विशिष्ट हो॥ १४॥ (लोक में इन समस्त इन्द्रियों को शास्त्रज्ञ पुरुष) न तो वाक् कहते हैं, न चक्षु, न श्रोत्र और न मन ही कहते हैं। किन्तु "प्राण" ऐसा ही कहते हैं, क्योंकि ये समस्त वागादि इन्द्रिय समुदाय प्राण ही हैं ॥ १५॥

॥ इति प्रथमः खण्डः॥

अथ द्वितीयः खण्डः

प्राण के अन्न का वर्णन

उस मुख्य प्राण ने कहा—भला मेरा क्या अन्न होगा? तब वागादि इन्द्रियों ने कहा, कुत्तों और पक्षियों से लेकर सभी प्राणियों का यह जो कुछ भी प्रसिद्ध अन्न है। (वह सभी तेरा अन्न है) वह यह सब प्राण का अन्न है, प्राण का "अन्न" यह प्रत्यक्ष नाम है (क्योंकि शरीर और इन्द्रियों में सारी चेष्टाएँ प्राण से ही होती हैं)। इस प्रकार प्राण विज्ञान वाले के लिये कुछ भी अभक्ष्य नहीं रहता (क्योंकि वह विद्वान् प्राण स्वरूप हो जाता है)॥ १॥

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति॥ २॥

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ३॥

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्याꣳरात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्॥ ४॥

प्राण का वस्त्र

तब फिर प्राण ने कहा—मेरा वस्त्र क्या होगा? इस प्रकार वागादि ने कहा "जल"। अत एव भोजन करने वाले विद्वान् पुरुष भोजन से पूर्व और पश्चात् भी मुख्य प्राण का (वस्त्र स्थानीय) जल से आच्छादन करते हैं। इसी से वह प्राण वस्त्र प्राप्त करने वाला और अनग्न होता है॥ २॥

प्राण विज्ञान की स्तुति

उस इस प्राण विज्ञान को सत्यकाम जाबाल ने गोश्रुति नामक वैयाघ्रपात को बतलाकर कहा, यदि प्राण वेत्ता पुरुष इस दर्शन को शुष्क स्थाणु से कहे, तो उसमें भी शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आयेंगे॥ ३॥

मन्थ कर्म

इसके बाद यदि वह महत्त्व को प्राप्त करना चाहे, तो उसे अमावास्या तिथि को दीक्षित पुरुष के समान नियमादि का आश्रय लेकर पूर्णिमा की रात्रि को सर्वौषध के भाग को लेकर दधि और मधु के सहित (कंसाकार गूलर के पात्र में डालकर) उस मन्थ का मंथन करे "ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा" ऐसा करते हुए आवसथ्याग्नि में आहुति देकर स्रुवा में लगे हुए शेष घृत को मन्थ पर गिरा देना चाहिये॥ ४॥

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेदायतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्॥ ५॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदꣳ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदꣳ सर्वमसानीति॥ ६॥

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति वयं देवस्य भोजनमित्याचामति श्रेष्ठꣳ सर्वधातममित्याचामति तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति निर्णिज्य कꣳ सं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहः स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात्॥ ७॥

(इसी प्रकार) ''वसिष्ठाय स्वाहा'' इस मन्त्र से उसी अग्नि में घृताहुति देकर अवशेष घृत को मन्थ पर डाले। ''प्रतिष्ठायै स्वाहा'' इस मन्त्र से अग्नि में घृताहुति देकर अवशेष घृत की धारा मन्थ पर डाले ''संपदे स्वाहा'' इस मन्त्र से अग्नि में घृताहुति देकर अवशेष घृत का स्राव मन्थ पर डाले। एवं ''आयतनाय स्वाहा'' इस मन्त्र से उसी अग्नि में घृत की आहुति देकर अवशेष घृत का स्राव मन्थ पर डाले॥ ५॥ फिर अग्नि से कुछ दूर हट कर मन्थ को अंजलि में रखकर ''अमो नामासि अमा हि ते'' इत्यादि मन्त्र का जाप करे अर्थात् हे मन्थ! तू अम नाम वाला है, क्योंकि सम्पूर्ण भूत भौतिक जगत् तेरे (प्राण के) साथ स्थित हैं। यह तू ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, कान्तिमान् और सबका अधिष्ठान है। अतः वह तू मुझे ज्येष्ठत्व, श्रेष्ठत्व, राज्य और आधिपत्य प्राप्त कराओ। मैं भी आपके समान ही सम्पूर्ण जगत् स्वरूप हो जाऊँ॥ ६॥ इसके बाद वह इस (आगे कही जाने वाली) ऋचा से पादशः (मन्थ का एक-एक ग्रास) भक्षण करता है। ''तत्सवितुर्वृणीमहे'' (सम्पूर्ण विश्व के जनयिता आदित्य देव के उस मन्थ रूप भोजन की हम प्रार्थना करते हैं।) ऐसा कहकर भक्षण करता है, ''वयं देवस्य भोजनम्'' (हम उस देव का भोजन बनें) ऐसा कहकर भक्षण करता है। ''श्रेष्ठं सर्वधातमम्'' सम्पूर्ण अन्नों की अपेक्षा प्रशस्यतम, समस्त जगत् के अतिशय विधाता ऐसा कहकर भोजन करता है। तथा—''तुरं भगस्य धीमहि'' (हम शीघ्र ही सविता देव के स्वरूप का चिन्तन करते हैं) ऐसा कहकर कटोरे या चमचे को धोकर सारे मन्थ लेप को पी जाता है। तदनन्तर वह अग्नि के पीछे मृगचर्म या केवल पवित्र भूमि पर वाणी पर संयम करके (स्त्री आदि अनिष्ट स्वप्न के दर्शन से) विकृत न होता हुआ सो जाता है। उस समय यदि वह स्वप्न में स्त्री को देखे, तो यह समझे कि मेरा यह कर्म सफल हो गया॥ ७॥

तदेष श्लोकः। यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियꣳ स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने इति॥ ८॥ इति द्वितीयः खण्डः॥ (२)॥

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाꣳ समितिमेयाय तꣳ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति॥ १॥

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति न भगव इति, वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३इति न भगव इति, वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति न भगव इति॥ २॥

इस विषय में यह मन्त्र है। जिस समय सकाम कर्मों में स्वप्न में स्त्री को देखे, तो ऐसे स्वप्न के दर्शन होने पर कर्म की सफलता समझे। द्विर्वचन कर्म समाप्ति के लिये है॥ ८॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः॥

अथ तृतीयः खण्डः

पाञ्चालों की परिषद् में श्वेतकेतु

अरुण का पौत्र श्वेतकेतु पंचाल देश वासियों की सभा में आया। उस आये हुये से जीवल के पुत्र प्रवाहण ने कहा—हे कुमार! क्या पिता ने तुझे शिक्षा दी है? ऐसा पूछने पर उसने कहा, हाँ भगवन् (मैं पिता से शिक्षित हूँ)॥ १॥

श्वेतकेतु के प्रति प्रवाहण के प्रश्न

प्रवाहण—क्या तू जानता है कि इस लोक से ऊपर प्रजा कहाँ जाती है?

श्वेतकेतु ने कहा—भगवन् (मैं उसे जानता) नहीं।

प्रवाहण ने पूछा—क्या तू जानता है, वे प्रजा फिर इस लोक में कैसे लौटतीं हैं?

श्वेतकेतु—भगवन्! मैं उसे नहीं जानता।

प्रवाहण—क्या तू जानता है, देवयान और पितृयाण इन दोनों मार्गों का विलगाव क़हाँ से होता है?

श्वेतकेतु—भगवन्! इसे भी मैं नहीं जानता॥ २॥

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत ३ इति न भगव इति वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति नैव भगव इति॥ ३॥

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात्कथंऽसोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति स हायस्तः पितुरर्धमेयाय तऽहोवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाशिषमिति॥ ४॥

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकंचनाशकं विवक्तुमिति स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकंचन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति॥ ५॥

प्रवाहण—क्या तू जानता है वह पितृलोक क्यों नहीं भर जाता?

श्वेतकेतु—भगवन्! मैं उसे नहीं जानता।

प्रवाहण—क्या तू जानता है कि पाँच संख्या वाली आहुति के होम कर दिये जाने पर सोम घृतादि जल प्रधान रस पुरुष संज्ञा को कैसे प्राप्त होते हैं?

श्वेतकेतु—नहीं भगवन्! मैं इसे भी नहीं जानता॥ ३॥ फिर भला तू "मुझे शिक्षा दी गयी है" ऐसा अपने विषय में कैसे कहा? जो पुरुष मेरे इन प्रश्नों को जानता नहीं, वह विद्वत् समाज में अपने को शिक्षित कैसे कह सकता है। इसके बाद राजा से त्रस्त होकर वह श्वेतकेतु अपने पिता के स्थान पर आया और उससे कहा—श्रीमान् ने मुझे शिक्षा दिये बिना ही (समावर्तन संस्कार के समय) कह दिया था कि मैंने तुझे शिक्षा दे दी है॥ ४॥ उस क्षत्रिय बन्धुने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे थे, उनमें से एक का भी विवेचन मैं नहीं कर सका। उसके पिता ने कहा-तुमने आते ही उस समय मुझे ये जैसे प्रश्न सुनाये। उनमें से मैं एक को भी नहीं जानता, क्योंकि यदि मैं इन प्रश्नों को जानता होता तो (समावर्तन संस्कार के समय अपने प्रिय पुत्र) तुम्हें क्यों नहीं बतलाता?॥ ५॥

पिता पुत्र का प्रवाहण के पास जाना

तब वह गौतम गोत्रोत्पन्न मुनि जैवलि के पास आया। अपने यहाँ आये हुए उस अभ्यागत की पूजा राजा ने की। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही सभा में राजा के पहुँचने पर वह गौतम उसके पास गया। राजा ने उस गौतम से कहा हे भगवन् गौतम! मनुष्य सम्बन्धी ग्रामादि धन का वरदान यथेच्छ माँग लेवें। गौतम ने कहा हे राजन्! यह मनुष्य सम्बन्धी धन तुम्हारे ही पास रहे, तुमने मेरे पुत्र के प्रति जो पाँच प्रश्न रूप बात कही थी वही बात मुझसे कहो। तब वह राजा धर्म संकट में पड़ गया॥ ६॥

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय तस्मै ह प्राप्तायार्हांचकार स ह प्रातः सभागे उदेयाय तꣳहोवाच मानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति स होवाच तवैव राजन्मानुषं वित्तं यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति स ह कृच्छ्री बभूव॥ ६॥

तꣳह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार तꣳहोवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच॥ ७॥ इति तृतीयः खण्डः ॥ (३)॥

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः॥ १॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति॥ २॥ इति चतुर्थः खण्डः॥ (४)॥

राजा ने उस गौतम को "चिरकाल तक यहाँ रहें" ऐसी आज्ञा दी और उस गौतम से कहा हे गौतम! जिस प्रकार तूने मुझसे कहा है (इससे यही जान पड़ता है कि) पूर्वकाल में तुझसे पहले यह पंचाग्निविद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गयी थी। इसी से पूर्वकाल में सम्पूर्ण लोक में इस विद्या का शिष्यों के प्रति अनुशासन क्षत्रियों का ही होता रहा है—अर्थात् इतने समय तक यह विद्या क्षत्रियों की परम्परा में ही आती रही है। ऐसा कहकर राजा ने गौतम से कहा॥ ७॥

॥ इति तृतीयः खण्डः॥

अथ चतुर्थः खण्डः

लोक रूपा अग्नि विज्ञान

हे गौतम! वह प्रसिद्ध द्युलोक ही अग्नि है। उस अग्नि का आदित्य ही समिधा है, (क्योंकि उससे संदीप्त होने पर ही यह लोक देदीप्यमान् होता है) आदित्य के किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, चन्द्रमा अंगार है (क्योंकि दिन के शान्त होने पर चन्द्र प्रकट होता है) तथा नक्षत्रगण चिनगारियाँ हैं, (क्योंकि अग्नि से विस्फुलिङ्ग के समान चन्द्रमा के इधर उधर बिखरे हुये से दीखते हैं)॥ १॥ उस इस द्युलोक रूप अग्नि में देवगण श्रद्धा (सूक्ष्म जल श्रद्धा पद लक्ष्य) का हवन करते हैं, उस आहुति से सोम राजा की उत्पत्ति होती है॥ २॥

॥ इति चतुर्थः खण्डः॥

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः॥ १॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳराजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षꣳसंभवति॥ २॥ इति पञ्चमः खण्डः॥ (५)॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः॥ १॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नꣳसंभवति॥ २॥ इति षष्ठः खण्डः॥ (६)॥

अथ पंचमः खण्डः

पर्जन्य रूपा अग्नि विद्या

हे गौतम! (वृष्टि के अभिमानी देवता विशेषरूप) पर्जन्य ही अग्नि है, उसका वायु ही समिधा है, (क्योंकि पर्जन्यरूप अग्नि वायु से प्रदीप्त होता है)। बादल धूम है, बिजली ज्वाला हे, वज्र अंगार है तथा गर्जन विस्फुलिङ्ग है (क्योंकि विस्फुलिङ्ग और शब्द में चारों ओर फैलनारूप समानता है)॥ १॥ उस इस अग्नि में देवगण राजा सोम का हवन करते हैं, उस आहुति से वृष्टि होती है (श्रद्धानामक आप द्वितीय पर्याय में सोम रूप से परिणत हो पर्जन्य अग्नि को प्राप्त करके वृष्टि रूप में बदल जाते हैं)॥ २॥

॥ इति पञ्चमः खण्डः॥

अथ षष्ठः खण्डः

पृथिवी रूपा अग्नि विद्या

हे गौतम! पृथिवी ही अग्नि है, उस अग्नि का आदित्य ही समिधा है, (क्योंकि संवत्सर काल से युक्त होकर पृथिवी धान्यादि की निष्पत्ति में समर्थ होती है)। आकाश धूम है, तमोरूपा रात्रि ज्वाला है, दिशाएँ अंगार हैं एवं क्षुद्र होने के कारण अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग हैं॥ १॥ उस इस पृथिवीरूप अग्नि में देवगण वृष्टि का हवन करते हैं, उस आहुति से यवादिरूप अन्न होता है॥ २॥

॥ इति षष्ठः खण्डः॥

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति ॥ २ ॥ इति सप्तमः खण्डः ॥ (७)॥

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ॥ २ ॥ इत्यष्टमः खण्डः ॥ (८)॥

अथ सप्तमः खण्डः

पुरुष रूपा अग्नि विद्या

हे गौतम! पुरुष ही अग्नि है, उसकी वाणी ही समिधा है, (क्योंकि वाणी से ही पुरुष सुशोभित होता है)। प्राण धूम है, लाल होने के कारण जिह्वा ज्वाला है। प्रकाश का आश्रय होने से नेत्र अंगार है और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग है ॥ १ ॥ उस इस अग्नि में देवगण अन्न का हवन करते हैं, उस अन्नरूप आहुति से वीर्य उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

॥ इति सप्तमः खण्डः ॥

अथाष्टमः खण्डः

स्त्री रूपा अग्नि विद्या

हे गौतम! स्त्री ही अग्नि है, उसका उपस्थ ही समिधा है (क्योंकि पुत्रादि उत्पन्न करने के लिये वह प्रदीप्त होता है) पुरुष जो उपमन्त्रणा करता है वह धूम है, लाल होने के कारण योनि ज्वाला है तथा जो भीतर की ओर करता है वह अग्नि से सम्बन्धित होने के कारण अंगार है और उससे जो क्षुद्र सुख होता है वह विस्फुलिङ्ग है ॥ १ ॥ उस इस अग्नि में देवगण वीर्य का हवन करते हैं, उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है, (इस प्रकार श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न और वीर्यरूप आहुतियों के होम से क्रमशः आप ही गर्भरूप में परिणत होता है) ॥ २ ॥

॥ इत्यष्टमः खण्डः ॥

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते॥ १॥

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति॥ २॥ इति नवमः खण्डः॥ (९)॥

तद्य इत्थं विदुः। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्‌ङेति मासाꣳस्तान्॥ १॥

मासेभ्यः संवत्सरꣳसंवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति॥ २॥

अथ नवमः खण्डः

पंचम आहुति में पुरुष संज्ञा को प्राप्त हुए "आप" की गति

इस प्रकार पाँचवी आहुति में आप पुरुष शब्द वाची हो जाते हैं। वह जरायुः से वेष्टित हुआ गर्भ दश या नौ मास तक अथवा जब तक (कम या अधिक समय में सर्वाङ्ग पूर्ण नहीं हो जाते तब तक माता की) कुक्षि में ही शयन करने के अनन्तर पुनः उत्पन्न होता है॥ १॥ इस प्रकार उत्पन्न हुआ वह पूर्ण आयु जीवित रहता है, फिर मरने पर पुत्रादि कर्मवश परलोक प्रस्थान किये हुए उस जीवात्मा को अग्नि के लिये ले जाते हैं, जहाँ से वह आया था और जिस अग्नि से क्रमशः उत्पन्न हुआ था॥ २॥

॥ इति नवमः खण्डः॥

अथ दशमः खण्डः

प्रथम प्रश्न का उत्तर

उक्त अधिकारी गृहस्थों में जो इस प्रकार (उक्त पंचाग्नि विद्या को) जानते हैं और ये जो कि अरण्य में श्रद्धा एवं तप-इन दोनों की उपासना करते हैं, (वे मरने के बाद) अर्चिराभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं। पुनः अर्चिराभिमानी देवताओं से दिन के अभिमानी देवताओं को, दिन के अभिमानी देवताओं से शुक्ल पक्षाभिमानी देवताओं को, शुक्लपक्षाभिमानी देवताओं से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तरायण की ओर जाता है, उन छः महीनों को प्राप्त होते हैं॥ १॥ उन छः महीनों से सम्वत्सर को , सम्वत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को एवं चन्द्रमा से विद्युत् को प्राप्त होते हैं। उस विद्युत् लोक में एक अमानव पुरुष है, वही उन अधिकारियों को हिरण्यगर्भ लोक में ले जाता है। बस यही देवयान मार्ग है ॥ २॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासाꣳस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति॥ ३॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति॥ ४॥

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति ॥ ५॥

द्वितीय प्रश्न का उत्तर

अब जो यह गृहस्थ लोग (अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मरूप) इष्ट (वापीकूप तड़ागादि निर्माणरूप) पूर्त और (वेदी से बाहर अधिकारी व्यक्तियों को यथा शक्ति धन देनारूप) दत्त—उनकी उपासना करते हैं, वे धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। धूमाभिमानी देवता से रात्रि के अभिमानी देव को, रात्रि के अभिमानी देवों से कृष्ण पक्षाभिमानी देव को तथा कृष्णपक्षाभिमानी देव से जिन छः महीनों में सूर्य दक्षिणायन से जाता है, उन छः महीनों को प्राप्त होते हैं एवं ये—लोग संवत्सर को प्राप्त नहीं करते॥ ३॥ दक्षिणायन के छः महीनों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को और आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। यह चन्द्रमा ही ब्राह्मणों का राजा सोम है, वह देवताओं का अन्न है। उस चन्द्रमारूप अन्न का इन्द्रादि देवता भक्षण करते हैं॥ ४॥

तृतीय प्रश्न का उत्तर

उस चन्द्रलोक में वहाँ के उपभोग के निमित्त कर्मों का नाश होने तक रहकर फिर वे लोग उसी मार्ग से लौटते हैं, जिस मार्ग से वे पहले गये थे। उस समय वे सर्वप्रथम आकाश को प्राप्त होते हैं, आकाश से वायु को, वायु होकर वे धूम होते हैं और धूम होकर पुनः बादल बनते हैं॥ ५॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिंचति तद्भूय एव भवति॥ ६॥

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा॥ ७॥

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न, तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳस्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते, तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः॥ ८॥

अभ्र होकर वह (वर्षा करने में समर्थ) मेघ होता है, मेघ होकर ऊँचे स्थानों में बरसता है। उसके बाद वे जीव इस लोक में धान, जौ, औषधि, वनस्पति, तिल और उड़द इत्यादि होकर उत्पन्न होते है। तत्पश्चात् यह निष्क्रमण निश्चय ही उसके लिये अत्यन्त कष्टप्रद होता है। जो-जो जीव उस अन्न को खाता है और जो वीर्य सेचन करता है तद्रूप ही वह हो जाता है। (यदि ऊर्ध्व रेता, बालक, नपुंसक या वृद्ध पुरुष ने उस अन्न को खाया हो, तो वह उनके उदर में ही नष्ट हो जाता है। कदाचित् वीर्य सेचन करने वालों के द्वारा खाये जाने पर वह अपने कर्मों की वृत्ति का लाभ कर पाता है। अतएव अन्नरूप में आ जाने के बाद वहाँ से निकलना उसका कठिन माना गया है)॥ ६॥

संस्कार युक्त जीवों की कर्मानुसार गति

उन संस्कार युक्त जीवों में से जो अच्छे आचरण वाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनि को प्राप्त होते हैं, अर्थात् वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि या वैश्ययोनि को प्राप्त करते हैं और जो अशुभ आचरण वाले होते हैं वे कुत्ते की योनि, सूकरयोनि या चाण्डाल योनिरूप अशुभ शरीर को प्राप्त करते हैं॥ ७॥

चतुर्थ प्रश्न का उत्तर

वे पापात्मा धूम या अर्चिरादि मार्गों में से किसी भी मार्ग से (नहीं जाते) वे ये बेचारे जीव क्षुद्र और पुनः पुनः आने जाने वाले प्राणी होते हैं। जन्मो और मरो यही तृतीय स्थान उनके लिये होता है। बस! यही कारण है जिससे कि स्वर्गादि परलोक भरता नहीं। अतः (जन्मना मरनारूप संसार गति से विवेक शील व्यक्ति को) घृणा करनी चाहिये। इस विषय में यह मन्त्र है॥ ८॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति॥ ९ ॥

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न स ह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद॥ १० ॥ इति दशमः खण्डः॥ (१०)॥

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमाꣳसां चक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति॥ १ ॥

ते ह संपादयाञ्चक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीम-मात्मानं वैश्वानरमध्येति तꣳहन्ताभ्यागच्छामेति तꣳहाभ्याजग्मुः॥ २ ॥

ब्राह्मण का सोना चुराने वाला, ब्राह्मण होकर मदिरा पीने वाला, गुरुपत्नी से सहवास करने वाला और ब्राह्मण की हत्या करने वाला, ये चारों पतित होते हैं तथा पाँचवाँ उनके साथ संसर्ग करने वाला भी (पतित होता है)॥ ९ ॥

पंचाग्नि विद्या की महिमा

जो कोई इस प्रकार पञ्चाग्नियों को जानता है, वह उन पतितों के साथ संसर्ग करता हुआ भी पाप से लिपायमान नहीं होता है। इसीलिये वह शुद्ध, पवित्र और पुण्यलोक का भागी बन जाता है जो इस प्रकार जानता है॥ १० ॥

॥ इति दशमः खण्डः॥

अथैकादशः खण्डः

आत्म मीमांसा का प्रस्ताव

उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष का पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवि का पौत्र इन्द्रद्युम्न, शार्कराक्ष्य का पुत्र जन, एवं आश्वतराश्व का पुत्र बुडिल ये पाँचों बड़े कुटुम्ब वाले महागृहस्थ तथा महाश्रोत्रिय एकत्रित होकर आपस में विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है? और ब्रह्म क्या है?॥ १ ॥

औपमन्यवादि का उद्दालक के पास जाना

वे सभी पूज्य (उक्त तत्त्व का निश्चय न होने से) इस निष्कर्ष पर पहुँचे, कि यह अरुण का पुत्र आरुणि उद्दालक इस समय वैश्वानर आत्मा को जानता है। अतः हम सब उनके पास चलें, इस प्रकार निश्चय कर वे उस आरुणि के पास आये॥ २ ॥

स ह संपादयांचकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति॥ ३॥

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तꣳहन्ताभ्यागच्छामेति तꣳहाभ्याजग्मुः॥ ४॥

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयांचकार स ह प्रातः संजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति॥ ५॥

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तꣳहैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरꣳसंप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति॥ ६॥

आये हुये ऋषियों के सहित उद्दालक अश्वपति के पास गया

उद्दालक ने निश्चय किया कि ये महागृहस्थ और परमश्रोत्रिय मुझसे (वैश्वानर के विषय में) पूछेंगे पर मैं इन्हें अच्छी प्रकार से बतला न सकूँगा। अतः अच्छा होगा कि मैं इन्हें दूसरा उपदेशक बतलादूँ॥ ३॥ उद्दालक ने ऋषियों से कहा। हे भगवन्! इस समय केकय का पुत्र अश्वपति इस वैश्वानर आत्मा को ठीक-ठीक जानता है, आइये हम सब उसी के पास चलें। ऐसा कहकर वे सभी उस अश्वपति के पास आये॥ ४॥

अश्वपति द्वारा अभ्यागतों का स्वागत

अपने पास आये हुए उन ऋषियों का राजा ने (पुरोहित और सेवकों से) पृथक्-पृथक् सत्कार कराया। दूसरे दिन प्रातः काल उठते ही (उनके पास जाकर विनयपूर्वक) उसने कहा। मेरे राज्य में कोई चोर नहीं, धनवान् कोई कृपण नहीं, न मद्यपान करने वाला न अनाहिताग्नि, न अविद्वान्, और न परस्त्री लम्पट ही है, फिर कोई दुराचारिणी स्त्री कैसे हो सकती है। हे पूज्यगण! मैं भी यज्ञ करने वाला हूँ (उसके लिये मैंने धन का संकल्प कर लिया है, तदनुसार) मैं एक ऋत्विक् को जितना धन दूँगा, उतना ही धन आपमें से प्रत्येक को भी दूँगा। अतः आप लोग यहीं ठहरिये (और मेरा यज्ञ देखिये)॥ ५॥ उन ऋषियों ने कहा, जिस प्रयोजन से कोई पुरुष किसी के पास जावे तो उसे अपना प्रयोजन बतला देना चाहिये। इस समय आप इस वैश्वानर आत्मा को भली प्रकार जानते हैं। अतः उसी का वर्णन आप हमसे करें॥ ६॥

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवैतदुवाच॥ ७॥ इत्येकादशः खण्डः॥ (११)॥

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति, दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते॥ १॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति॥ २॥ इति द्वादशः खण्डः॥ (१२)॥

अश्वपति के प्रति मुनियों की विधिपूर्वक उपसत्ति

अश्वपति ने उन मुनियों से कहा कि मैं आप लोगों को इसका उत्तर प्रातः काल दूँगा। (राजा के अभिप्राय को जानकर) दूसरे दिन पूर्वाह्ण में वे मुनिगण हाथों में समिधायें लेकर राजा के पास गये। राजा ने उनका उपनयन न करके ही उस वैश्वानर विद्या को उपदेश कर दिया॥ ७॥

॥ इत्येकादेशः खण्डः॥

अथ द्वादशः खण्डः

अश्वपति तथा औपमन्यव का संवाद

(राजा ने कहा) हे औपमन्यव! तुम किस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हो? हे पूज्य राजन्! मैं द्युलोक को ही वैश्वानर मानकर उपासना करता हूँ, ऐसा औपमन्यव ने उत्तर दिया। (राजा ने कहा) तुम जिस आत्मा की उपासना करते हो निश्चय ही यह सुतेजा नाम से प्रसिद्ध वैश्वानर आत्मा है, (क्योंकि आत्मा का यह अवयव है) इसीलिये तुम्हारे कुल में "सुत" (एकाहादिरूप ज्योतिष्टोमादि अहर्गण में निकाला हुआ सोमरूप लता द्रव्य) "प्रसुत" (अहीनादि कर्म में प्रकर्ष से निकाला हुआ सोमरस तथा सत्र में प्रकर्ष से निकाला हुआ सोमरस रूप) "आसुत" दिखायी देते हैं॥ १॥ तुम दीप्ताग्नि होकर अन्न भक्षण करते हो तथा पुत्र पौत्रादिरूप प्रिय का दर्शन करते हो। जो इस वैश्वानर आत्मा की इस प्रकार से उपासना करता है, वह अन्य भी कोई व्यक्ति अन्न का भक्षण करता है, प्रिय वस्तु का दर्शन करता है और उसके कुल में (सुत, प्रसुत एवं आसुत इत्यादि कर्मित्वरूप) ब्रह्मतेज होता है। फिर भी यह वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही है (सम्पूर्ण वैश्वानर नहीं है) ऐसा राजा ने कहा। साथ ही यह भी कहा—यदि तुम मेरे पास नहीं आये होते, तो निश्चय ही तेरा मस्तक गिर जाता॥ २॥

॥ इति द्वादशः खण्डः॥

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते॥ १॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति॥ २॥
इति त्रयोदशः खण्डः॥ (१३)॥

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति॥ १॥

अथ त्रयोदशः खण्डः

अश्वपति और सत्ययज्ञ का संवाद

फिर अश्वपति ने पौलुषि सत्ययज्ञ से कहा हे प्राचीनयोग्य! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो? उसने कहा हे पूज्य राजन्! मैं आदित्य की ही वैश्वानर दृष्टि से उपासना करता हूँ। (राजा ने कहा) यह निश्चय ही विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है, (क्योंकि यह वैश्वानर का अवयव है) जिस आत्मा की तुम उपासना करते हो, इस उपासना के कारण से ही तेरे कुल में बहुतसा (ऐहिक और पारलौकिक) विश्वरूप साधन दीखता है॥ १॥ दो खच्चरियों से जुता हुआ रथ और दासियों से युक्त हार प्राप्त है। तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रिय वस्तु को देखते हो। जो कोई अन्य व्यक्ति भी इस वैश्वानर आत्मा की इस प्रकार उपासना करता है, वह अन्न भक्षण करता है, प्रिय वस्तु को देखता है और उसके कुल में ब्रह्मतेज होता है। फिर भी यह वैश्वानर आत्मा का नेत्र ही है (सम्पूर्ण वैश्वानर नहीं है) ऐसा कहकर राजा ने फिर कहा, यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो अन्धे हो जाते॥ २॥

॥ इति त्रयोदशः खण्डः॥

अथ चतुर्दशः खण्डः

अश्वपति तथा इन्द्रद्युम्न का संवाद

उसके बाद राजा ने भाल्लवेय इन्द्रद्युम्न से कहा हे वैयाघ्रपद्य! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो? उसने कहा हे पूज्य राजन्! मैं वैश्वानर दृष्टि से वायु की उपासना करता हूँ, (राजा ने कहा) जिस आत्मा की तुम उपासना करते हो वह निश्चय ही (आवहः अद्वहः आदि अनेकों भेद वाला) पृथक् वर्त्मा वैश्वानर आत्मा है। इसी के प्रभाव से तेरे पास पृथक्-पृथक् उपहार आते हैं और तेरे पीछे पृथक्-पृथक् रथ की पंक्तियाँ चलती हैं॥ १॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति॥ २॥ इति चतुर्दशः खण्डः॥ (१४)॥

अथ होवाच जनं शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च॥ १॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच संदेहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति॥ २॥ इति पञ्चदशः खण्डः॥ (१५)॥

तुम अन्न भक्षण करते हो, प्रिय वस्तु को देखते हो। जो कोई अन्य व्यक्ति भी इस वैश्वानर आत्मा की इस प्रकार से उपासना करता है, वह भी अन्न भक्षण करता है, प्रिय वस्तु को देखता है और उसके कुल में ब्रह्मतेज होता है। किन्तु यह वैश्वानर आत्मा का प्राण ही है (सम्पूर्ण वैश्वानर नहीं है) ऐसा राजा ने कहा और यह भी कहा, यदि तुम मेरे पास नहीं आये होते, तो तेरा प्राण निकल जाता ॥ २॥

॥ इति चतुर्दशः खण्डः॥

अथ पञ्चदशः खण्डः

अश्वपति और जन का संवाद

फिर अश्वपति ने जन से कहा—हे शार्कराक्ष्य! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो? जन ने कहा हे पूज्य राजन्! मैं (वैश्वानर दृष्टि) से आकाश की ही उपासना करता हूँ। (राजा ने कहा) यह निश्चय ही बहुल नामक वैश्वानर आत्मा है, जिसकी तुम उपासना करते हो। इसी उपासना के बल से तुम प्रजा और स्वर्णादि धन से परिपूर्ण हो॥ १॥ तुम अन्न भक्षण करते हो, प्रिय वस्तु को देखते हो। इस प्रकार अन्य जो कोई भी व्यक्ति इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, वह भी अन्न भक्षण करता है, प्रिय वस्तु को देखता है और उसके कुल में ब्रह्मतेज से युक्त होता है, पर याद रखो यह वैश्वानर आत्मा का यह आकाश केवल मध्यभाग है, सम्पूर्ण वैश्वानररूप नहीं है। ऐसा राजा ने कहा, साथ यह भी कहा, कि यदि तू मेरे पास नहीं आता, तो तेरे देह का मध्यभाग नष्ट हो जाता॥ २॥

॥ इति पञ्चदशः खण्डः॥

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वꣳ रयिमान्पुष्टिमानसि॥ १॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच बस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति॥ २॥ इति षोडशः खण्डः॥ (१६)॥

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च॥ १॥

अथ षोडशः खण्डः

अश्वपति और बुडिल का संवाद

उसके बाद राजा ने आश्वतराश्व के पुत्र बुडिल से कहा हे वैयाघ्रपद्य! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो? बुडिल ने कहा—हे पूज्य राजन्! मैं तो वैश्वानर दृष्टि से जल की ही उपासना करता हूँ (राजा ने कहा) जिसकी तुम उपासना करते हो, वह निश्चय ही धन नामक वैश्वानर आत्मा है (क्योंकि जल से अन्न होता है और अन्न से धन)। इसीलिए तुम धनवान्, शरीर से हृष्ट-पुष्ट हो॥ १॥ तुम अन्न खाते हो और प्रिय वस्तु को देखते हो। जो कोई पुरुष इस वैश्वानर आत्मा की इस प्रकार उपासना करता है, वह अन्न खाता है, प्रिय वस्तु को देखता है और कुल में ब्रह्म तेजस्वी होता है। किन्तु यह वैश्वानर आत्मा का मूत्र संज्ञक स्थान है, सम्पूर्ण वैश्वानररूप नहीं है, ऐसा राजा ने कहा और यह भी कहा, यदि तू मेरे पास नहीं आया होता, तो तेरा बस्ति स्थान फट जाता॥ २॥

॥ इति षोडशः खण्डः॥

अथ सप्तदशः खण्डः

अश्वपति और उद्दालक का संवाद

अश्वपति ने उद्दालक आरुणि से कहा हे गौतम! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो? उद्दालक ने कहा हे पूज्य राजन्! मैं वैश्वानर दृष्टि से पृथिवी की ही उपासना करता हूँ। (राजा ने कहा) कि जिसकी तुम उपासना करते हो, यह निश्चित ही उस वैश्वानर आत्मा के चरण हैं, सम्पूर्ण वैश्वानररूप नहीं है। इसी की उपासना से तुम प्रजा और पशुओं से युक्त हो॥ १॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति॥ २॥ इति सप्तदशः खण्डः ॥ (१७)॥

तान्होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वाꣳसोऽन्नमत्थ, यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति॥ १॥

तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रिय वस्तु को देखते हो। जो कोई अन्य व्यक्ति भी इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, वह अन्न खाता है, प्रिय वस्तु को देखता है, उसके कुल में ब्रह्मतेजस्वी होता है। पर याद रखो यह आत्मा के चरण ही हैं, सम्पूर्ण वैश्वानररूप नहीं है। ऐसा राजा ने कहा, साथ यह भी कहा यदि तू मेरे पास नहीं आता, तो तेरे पाद शिथिल हो जाते॥ २॥

॥ इति सप्तदशः खण्डः॥

अथाष्टादशः खण्डः

समस्त वैश्वानर उपासना का फल

व्यस्त उपासना करने वाले उन ऋषियों से राजा अश्वपति ने कहा—ये सभी तुम लोग इस वैश्वानर आत्मा को पृथक्-पृथक्-सा जान कर अन्न भक्षण करते हो। जो कोई 'यही मैं हूँ' इस प्रकार अभिमान करता हुआ इस अभिमान के विषय (द्युलोक से लेकर पृथिवी पर्यन्त) प्रदेशमात्र वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है वह (वैश्वानर-वेत्ता सर्वात्मा होकर अन्न भक्षण करता है, अज्ञानियों के समान देहमात्र में अभिमान करके अन्न नहीं खाता किन्तु) समस्त लोकों में, सभी प्राणियों में और शरीरादि सम्पूर्ण आत्माओं में अन्न भक्षण करता है॥ १॥

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥ २ ॥ इत्यष्टादशः खण्डः ॥ (१८) ॥

तद्यद्भक्तं प्रथमागच्छेत्तद्धोमीयꣳ स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किंच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥ इत्येकोनविंशः खण्डः ॥ (१९) ॥

समस्त वैश्वानर का वर्णन

उस इस प्रकृत वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही द्युलोक है, चक्षु सूर्य है, प्राण पृथक् वर्त्मारूप वायु है, शरीर का मध्यभाग आकाश है, बस्ति ही जल है और पृथिवी दोनों पाद हैं, वक्षःस्थल वेदी है, लोम कुशाएँ हैं, (क्योंकि वेदी में बिछे हुए दर्भ के समान वक्षःस्थल पर बिछे हुए से दीखते हैं) हृदय गार्हपत्याग्नि है। हृदय से उत्पन्न हुआ मन अन्वाहार्यपचन अग्नि है और मुख आहवनीयाग्नि है (क्योंकि इसी में अन्न का हवन किया जाता है) ॥ २ ॥

॥ इत्यष्टादशः खण्डः ॥

अथैकोनविंशः खण्डः

भोजन में अग्निहोत्रत्व के लिए प्रथम प्राणाहुति का वर्णन

(पूर्वोक्त सिद्धान्त के कारण वैश्वानर उपासक का यह कर्तव्य है) कि भोजन के समय जो अन्न पहले आवे उसका हवन करे। वह भोक्ता जो पहली आहुति देवे तो उसे "प्राणाय स्वाहा" ऐसा कहकर मुख में अन्न डाले, उससे प्राण तृप्त होता है ॥ १ ॥ प्राण के तृप्त होने पर नेत्र इन्द्रिय तृप्त होती है, नेत्र इन्द्रिय के तृप्त होने पर आदित्य तृप्त होता है। सूर्य के तृप्त होने पर द्युलोक तृप्त होता है तथा द्युलोक के तृप्त होने पर जिस किसी के ऊपर द्युलोक और आदित्य (स्वामी भाव से) अधिष्ठित है, वह भी तृप्त होता है और उसे तृप्त होने पर स्वयं भोक्ता, प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

॥ इत्येकोनविंशः खण्डः ॥

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद्व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥ १ ॥

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किंच दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥ इति विंशः खण्डः ॥ (२०) ॥

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥ १ ॥

अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किंच पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥ इत्येकविंशः खण्डः ॥ (२१) ॥

अथ विंशः खण्डः

द्वितीय प्राणाहुति

उसके बाद जो दूसरी आहुति दे तो उसे ''व्यानाय स्वाहा'' इस मन्त्र को बोल कर मुख में डाले, इस प्रकार व्यान तृप्त होता है ॥ १ ॥ व्यान के तृप्त होने पर श्रोत्र तृप्त होता है, श्रोत्र के तृप्त होने पर चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमा के तृप्त होने पर दिशाएँ तृप्त होती हैं और दिशाओं के तृप्त होने पर जिस किसी के ऊपर चन्द्रमा एवं दिशाएँ (स्वामी भाव से) अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है। उसकी तृप्ति के पीछे वह भोक्ता, प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज एवं ब्रह्मतेज से तृप्त हो जाता है ॥ २ ॥

॥ इति विंशः खण्डः ॥

अथैकविंशः खण्डः

तृतीय आहुति का वर्णन

पुनः जिस तीसरी आहुति को दे उसे ''अपानाय स्वाहा'' इस मन्त्र के द्वारा मुख में डाले, इस प्रकार अपान तृप्त हो जाता है ॥ १ ॥ अपान के तृप्त होते ही वाणी की तृप्ति से अग्नि तृप्त होती है, अग्नि के तृप्त होने पर पृथिवी तृप्त होती है और पृथिवी के तृप्त होने पर जिस किसी के ऊपर पृथिवी तथा अग्नि (स्वामी भाव से) प्रतिष्ठित हैं वह तृप्त होता है एवं उसकी तृप्ति के पीछे भोक्ता, प्रजा, पशु, अन्नाद्य तेज और ब्रह्मतेज से तृप्त हो जाता है ॥ २ ॥

॥ इत्येकविंशः खण्डः ॥

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात्समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ॥ १ ॥

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किंच विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥ इति द्वाविंशः खण्डः ॥ (२२) ॥

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥ १ ॥

उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किंच वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥ इति त्रयोविंशः खण्डः ॥ (२३) ॥

अथ द्वाविंशः खण्डः

चतुर्थ आहुति का वर्णन

फिर जिस चतुर्थ आहुति को दे, तो उसे "समानाय स्वाहा" इस मन्त्र से मुख में डाले, इससे समान तृप्त होता है ॥ १ ॥ समान तृप्त होने पर मन तृप्त होता है, मन के तृप्त होने पर पर्जन्य तृप्त होता है, पर्जन्य के तृप्त होने पर जिस किसी के ऊपर विद्युत् और पर्जन्य अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है। इस प्रकार उसकी तृप्ति के पीछे भोक्ता, प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेज से तृप्त होता है ॥ २ ॥

॥ इति द्वाविंशः खण्डः ॥

अथ त्रयोविंशः खण्डः

पंचम् आहुति का वर्णन

पुनः जिस पंचम आहुति को दे, उसे "उदानाय स्वाहा" इस मन्त्र से मुख में डाले, इस प्रकार उदान तृप्त होता है ॥ १ ॥ उदान के तृप्त होने पर त्वगिन्द्रिय तृप्त होती है, त्वचा के तृप्त होने पर वायु तृप्त होता है, वायु के तृप्त होने पर आकाश तृप्त होता है तथा आकाश के तृप्त होने पर जिस किसी के ऊपर वायु और आकाश (स्वामी भाव से) अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है और इसकी तृप्ति के पीछे स्वयं भोक्ता, प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेज से तृप्त होता है ॥ २ ॥

॥ इति त्रयोविंशः खण्डः ॥

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्तत्स्यात्॥ १॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति॥ २॥

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति॥ ३॥

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतꣳस्यादिति तदेष श्लोकः॥ ४॥

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते। एवꣳसर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति॥ ५॥ इति चतुर्विंशः खण्डः॥ (२४)॥ इति पञ्चमः प्रपाठकः॥ ५॥

अथ चतुर्विंशः खण्डः

अविद्वानों का अग्निहोत्र

वह जो कोई इस वैश्वानरविद्या को न जानता हुआ लोक प्रसिद्ध अग्निहोत्र करता है—उसका वह अग्निहोत्र ऐसा ही है, जैसे आहुति योग्य अंगारों को हटा कर भस्म में आहुति डाले (इस प्रकार वैश्वानर उपासक के अग्निहोत्र की प्रशंसा की गयी है)॥ १॥

विद्वानों का अग्निहोत्र

किन्तु जो इस प्रकार इस वैश्वानर को जानकर अग्निहोत्र करता है, उसका सम्पूर्ण लोक, सम्पूर्ण भूत और पूर्वोक्त सम्पूर्ण आत्माओं में हवन हो जाता है॥ २॥ इस विषय में यह दृष्टान्त है—जैसे सींक का अग्रभाग अग्नि में डालते ही जल कर राख हो जाता है, वैसे ही जो इस प्रकार जानता हुआ अग्निहोत्र करता है, उसके सम्पूर्ण पाप जलकर भस्म हो जाते हैं॥ ३॥ वह इस प्रकार जानकर यदि चाण्डाल को उच्छिष्ट भी दे तो भी उस उपासक का वह अन्न वैश्वानर आत्मा में ही हवन किया हुआ माना जाता है, इस विषय में यह श्लोक भी है॥ ४॥ जैसे इस लोक में क्षुधा से पीड़ित बालक सभी प्रकार से माता की उपासना करते हैं (कि माता हमें कब अन्न देगी) ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी इस प्रकार जानने वाले के अग्निहोत्ररूप भोजन की उपासना करते हैं। अग्निहोत्र की उपासना करते हैं॥ ५॥

॥ इति पंचमाध्यायः, चतुर्विंशः खण्डः॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

ॐ श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तꣳ ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं, न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति॥ १॥

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विꣳशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय तꣳ ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः॥ २॥

येनाश्रुतꣳ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति॥ ३॥

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥ ४॥

अथ षष्ठाध्याये प्रथमः खण्डः

आरुणि का श्वेतकेतु के प्रति उपदेश

शास्त्र में यह प्रसिद्ध है कि अरुण का पौत्र श्वेतकेतु था। उससे उसके पिता ने कहा, हे श्वेतकेतु! तू (हमारे कुल के अनुरूप गुरु के पास जाकर) ब्रह्मचर्य पूर्वक वास करो, क्योंकि हे सोम्य! यह उचित नहीं है, हमारे कुल में उत्पन्न हुआ कोई भी पुरुष अध्ययन न करके ब्रह्मबन्धु के समान हो जावे॥ १॥ पिता के कहने पर वह श्वेतकेतु बारह वर्ष की अवस्था में उपनयन कराके चौबीस वर्ष की अवस्था तक सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर और उनका अर्थ जानकर अपने को बड़ा बुद्धिमान् और व्याख्याता मानता हुआ विनीत स्वभाव होकर घर लौटा। पिता ने उससे कहा हे सोम्य! तुम जो बुद्धिमान् पंडित और उद्दण्ड दीखते हो, वह क्या तूने उस आदेश को पूछा है॥ २॥ जिस आदेश के द्वारा न सुना हुआ पदार्थ भी सुना हुआ हो जाता है, न मनन किया हुआ पदार्थ भी मनन हो जाता है और अनिश्चित पदार्थ भी निश्चित हो जाता है। (इस बात को सुनकर श्वेतकेतु ने कहा) भगवन्! वह आदेश कैसा होता है॥ ३॥ हे सोम्य! लोक में जिस प्रकार मृतिका के एक पिण्ड द्वारा सम्पूर्ण मृतिका के कार्य समूह का ज्ञान हो जाता है, कि विकार केवल वाणी के आधार नाममात्र ही है, वस्तुतः सत्य तो केवल मृतिका ही है॥ ४॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातः स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्॥ ५॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातः स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवः सोम्य स आदेशो भवतीति॥ ६॥

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाःस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ७॥
इति प्रथमः खण्डः॥ (१)॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत॥ १॥

कुतस्तु खलु सोम्यैवः स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्॥ २॥

हे सोम्य! जैसे एक सुवर्णपिण्ड के द्वारा सम्पूर्ण सुवर्णमय पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणी पर आधारित नाममात्र ही है, सत्य तो केवल सुवर्ण ही है॥ ५॥ हे सोम्य! जैसे एक नख कृन्तन के ज्ञान से सम्पूर्ण लौह विकार समूह जानलिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणी पर आधारित है, केवल नाममात्र है, सत्य तो केवल लोहा ही है, हे सोम्य! ऐसा ही वह आदेश भी है (जिसे मैंने कहा है)॥ ६॥ निश्चय ही वे मेरे पूज्य गुरुदेव आपकी पूछी हुई इस बात को नहीं जानते थे यदि वे जानते होते तो, मुझ गुणवान् भक्त और अनुगत शिष्य को क्यों नहीं बतलाते। अब आप ही मुझे उस वस्तु को बतलावें! तब पिता ने कहा, अच्छा सोम्य! तुझे उस तत्त्व को बतलाता हूँ॥ ७॥

॥ इति प्रथमः खण्डः॥

अथ द्वितीयः खण्डः

पक्षान्तर का खण्डन पूर्वक जगत् की सद्रूपता का वर्णन

हे सोम्य! उत्पत्ति से पूर्व यह दीखने वाला नामरूपात्मक जगत् (सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद शून्य) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। इस सम्बन्ध में कुछ लोगों ने ऐसा भी कहा है, कि आरम्भ में यह जगत् एकमात्र अद्वितीय असद्रूप ही था। उसी असत् से सत् की उत्पत्ति हुई॥ १॥

पर हे सोम्य! भला ऐसा कैसे हो सकता है, असत् से सत् की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है? अतः हे सोम्य! आरम्भ में यह नाम-रूपात्मक जगत् एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। (ऐसा पिता ने अपने पुत्र से कहा)॥ २॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते॥ ३॥

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते॥ ४॥ इति द्वितीयः खण्डः॥ (२)॥

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति॥ १॥

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति॥ २॥

उस सत्य ने ईक्षण किया "मैं बहुत हो जाऊँ", "नाना प्रकार से उत्पन्न होऊँ" इस प्रकार ईक्षण पूर्वक उस तेज ने जल की सृष्टि की, इसीलिये तो आज भी जहाँ कहीं पुरुष शोक सन्ताप करता है, तो उसे पसीना आ जाता है। उस समय वह उस तेज से ही जल की उत्पत्ति होती है॥ ३॥

पुनः उस जल के रूप में स्थित सत् ने ईक्षण किया कि "हम बहुत हो जायें" अनेक रूप से उत्पन्न हो जावें। इस प्रकार ईक्षण पूर्वक उस जल ने अन्न की सृष्टि की। इसी से आज भी जहाँ कहीं वर्षा होती है—वहाँ ही बहुत-सा अन्न उत्पन्न होता है। वह अन्नाद्य जल से ही उत्पन्न होता है॥ ४॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः॥

अथ तृतीयः खण्डः

सृष्टि का क्रम वर्णन

जब इन (स्थावर-जंगम) प्रसिद्ध प्राणियों के तीन ही बीज होते हैं। आण्डज, जीवज और उद्भिज्ज। (इससे अधिक नहीं होते, स्वेदज और उष्मज का यथा संभव आण्डज और उद्भिज्ज में अन्तर्भाव मानलेने पर ही तीन बीज कहे गये हैं)॥ १॥ उस इस (सत् नाम वाली तेज, अप् और अन्न की योनिरूपा) देवता ने ईक्षण किया। मैं इस जीवात्मरूप से इन तीनों देवताओं में अनुप्रविष्ट हो नाम और रूपों की अभिव्यक्ति करूँ॥ २॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्॥ ३॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा न खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति॥ ४॥ इति तृतीयः खण्डः॥ (३)॥

यदग्ने रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्॥ १॥

यदादित्यस्य रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्॥ २॥

और इन तीनों देवताओं में से एक-एक देवता को त्रिवृत्-त्रिवृत् करूँ, (त्रिवृत् करण में एक-एक की प्रधानता और दो-दो की गौणता रहती है। यह त्रिवृत्करण पंचीकरण का उपलक्षण है) ऐसा विचार कर देवता ने इस जीवात्मरूप से ही उन तीन देवताओं में सूर्य प्रतिबिम्ब के समान अनुप्रवेश कर नामरूपों का व्याकरण किया॥ ३॥ इस देवता ने उन देवताओं में एक-एक को गुण प्रधानभाव से त्रिवृत्-त्रिवृत् किया। हे सोम्य! जिस प्रकार ये तीनों देवता (इन पिण्डों से बाहर भी) एक-एक करके त्रिवृत् हैं, उसे मेरे द्वारा अच्छी प्रकार से समझले॥ ४॥

॥ इति तृतीयः खण्डः॥

अथ चतुर्थः खण्डः

एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की उत्पत्ति

(लोक में त्रिवृत्) अग्नि का जो लालरूप है, वह अत्रिवृत् कृत तेज का ही रूप है। वैसे ही जो शुक्लरूप है, वह जल का है तथा जो कृष्ण रूप है वह पृथिवी का है। इस प्रकार अग्नि से अग्नित्व निवृत्त हो गया, क्योंकि (अग्नि बुद्धि और अग्नि शब्दमात्र ही) विकार वस्तु वाणी से कहने के लिए नाममात्र हैं। वस्तुतः उक्त तीनरूप ही हैं, इतना ही सत्य है॥ १॥ आदित्य का जो रक्त रूप है, वह अत्रिवृत् तेज का रूप है, जो शुक्लरूप है वह जल का है, जो कृष्णरूप है, वह पृथिवी का है। इस प्रकार आदित्य से आदित्यत्व निकल गया, क्योंकि वह विकार वाणी से कहने के लिए नाममात्र है। वस्तुतस्तु उक्त तीन रूप ही है, इतना ही सत्य है॥ २॥

यच्चन्द्रमसो रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्॥ ३॥

यद्विद्युतो रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्॥ ४॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वाꣳस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदांचक्रुः॥ ५॥

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपाꣳ रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदांचक्रुः॥ ६॥

यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानाꣳ समास इति तद्विदांचक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्त्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति॥ ७॥ इति चतुर्थः खण्डः॥ (४)॥

त्रिवृत् भूत के कार्य चन्द्रमा में जो रोहित रूप है, वह अत्रिवृत् कृत तेज का रूप है। जो शुक्लरूप है, वह जल का एवं जो कृष्णरूप है वह पृथिवी का है। इस प्रकार चन्द्रमा से चन्द्रत्व चला गया, क्योंकि चन्द्रमारूप विकार तो वाणी पर आधारित नाममात्र है। वास्तव में उक्त तीन ही हैं। इतना ही सत्य है॥ ३॥

विद्युत् का जो लाल रूप है, वह तेज का रूप है। जो शुक्लरूप है वह जल का रूप है। जो कृष्णरूप है वह अन्न का रूप है। इस प्रकार विद्युत् से विद्युत्त्व निकल गया इसका विद्युत्त्वरूप केवल वाणी का विकार है। वास्तव में इसके यही तीन रूप हैं। यही सत्य है॥ ४॥ पूर्व महाशाल एवं महाश्रोत्रिय विद्वानों ने ऐसा ही कहा है। हमारे में से कोई भी अश्रुत, अमत तथा अविज्ञात उदाहरण नहीं देगा, ऐसा इन रोहितादिरूप उदाहरणों से जाना॥ ५॥ जो रोहित जैसा हुआ वही तेज का रूप है, ऐसा जाना। जो शुक्ल जैसा हुआ वही जल का रूप है, ऐसा जाना। जो कृष्ण जैसा हुआ वही अन्न का रूप है, ऐसा जाना॥ ६॥ जो न जाना गया जैसा है वह इन्हीं देवताओं का समुदाय है, ऐसा उन्होंने जाना। हे सोम्य! जैसे ये तीनों देवता त्रिवृत्-त्रिवृत् रूप हैं, वे पुरुष को प्राप्त कर एक-एक अलग-अलग होते हैं, इसे मुझसे जानो॥ ७॥

॥ इति चतुर्थः खण्डः॥

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मा॰ऽसं योऽणिष्ठस्तन्मनः॥ १॥

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः॥ २॥

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक्॥ ३॥

अन्नमयꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ४॥ इति पञ्चमः खण्डः॥ (५)॥

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति॥ १॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति॥ २॥

अथ पञ्चमः खण्ड

आध्यात्मिक त्रिवृत्करण

खाया हुआ अन्न तीन भागों में विभक्त होता है। उसकी जो स्थूल धातु है, वह पुरीष है। जो मध्यम है, वह माँस है। जो सूक्ष्म है, वह मन है॥ १॥ पीया हुआ जल तीन भागों में विभाजित होता है। उसकी जो स्थूल धातु है, वह मूत्र है। जो मध्यम है, वह लोहित है। जो सूक्ष्म है, वह प्राण है॥ २॥ उपभुक्त तेज भी तीन भागों में विभक्त होता है। उसकी जो स्थूल धातु है, वह अस्थि है। जो मध्यम है, वह अस्थ्यन्तर्गत स्नेह मज्जा है। जो सूक्ष्म है, वह वाणी है॥ ३॥ इस प्रकार, हे सोम्य! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाणी तेजमय है। यह सुनकर, हे भगवन्! आप फिर से मुझे बतलाइये, ऐसा सोम्य ने कहा। इस बात को सुनकर आरुणि ने कहा—अच्छा, समझाता हूँ॥ ४॥

॥ इति पञ्चमः खण्डः॥

अथ षष्ठः खण्डः

अन्नादि का सूक्ष्मभाग ही मन आदि वर्णन

हे सोम्य! मथे जाते हुये दधि का जो सूक्ष्म भाग है, वह ऊपर इकट्ठा होकर नवनीत रूप से आ जाता है, वह घृत होता है॥ १॥ उसी प्रकार हे सोम्य! भक्षण किये हुये अन्न का जो सूक्ष्म भाग होता है, वह सम्यक् प्रकार से ऊपर आ जाता है वही मन होता है॥ २॥

अपाꣳ सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति॥ ३॥

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति॥ ४॥

अन्नमयꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ५॥ इति षष्ठः खण्डः ॥ (६)॥

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माऽशीः काममपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति॥ १॥

स ह पञ्चदशाहानि नाऽऽशाथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य यजूꣳषि सामानीति स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति॥ २॥

हे सोम्य! पीये हुए का जो सूक्ष्म भाग होता है वह एकत्रित होकर ऊपर आ जाता है, वह प्राण होता है॥ ३॥ हे सोम्य! खाये हुए तेज का जो सूक्ष्म भाग होता है, वह एकत्रित हो ऊपर आ जाता है और वह वाणी हो जाती है॥ ४॥ इसलिये हे सोम्य! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाणी तेजोमयी है (ऐसा आरुणि ने कहा तब श्वेतकेतु कहता है) हे भगवन्! मुझे (मन का अन्नमयत्व) फिर से समझाइये। इस बात को सुनकर आरुणि ने कहा—अच्छा। समझाता हूँ॥ ५॥

॥ इति षष्ठः खण्डः॥

अथ सप्तमः खण्डः

षोडश कला विशिष्ट पुरुष का वर्णन

हे सोम्य! सोलह कलायें जिस पुरुष की हैं, वह सोलह कला वाला पुरुष माना जाता है, (इसे प्रत्यक्ष से अनुभव करने के लिये) तू पन्द्रह दिन तक भोजन न कर, केवल यथेच्छ जलपान कर। प्राण जल का विकार है। इसलिये जल पीते रहने से जल के कार्य प्राण का नाश नहीं होगा॥ १॥ ऐसा सुनकर उसने मन की अन्नमयता को जानने के लिये भोजन नहीं किया। उसके बाद वह अपने पिता के पास आया और कहा—पिताजी क्या कहूँ? इस पर पिता ने कहा हे सोम्य! ऋग्, यजुः और साम के मन्त्रों का पाठ करो। तब श्वेतकेतु ने कहा, मुझे उन ऋगादि मन्त्रों का स्फुरण नहीं होता॥ २॥

तꣳ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवꣳ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशानाथं मे विज्ञास्यसीति ॥ ३ ॥

स हाशाथ हैनमुपससाद तꣳ ह यत्किञ्च पप्रच्छ सर्वꣳह प्रतिपेदे ॥ ४ ॥

तꣳ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥ ५ ॥

एवꣳ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाभूत्साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ६ ॥ इति सप्तमः खण्डः ॥ (७)॥

श्वेतकेतु से आरुणि ने कहा। हे सोम्य! लोक में जिस प्रकार बहुत से ईंधन के द्वारा बढ़ाये हुये परिमाण वाले अग्नि का एक जुगनु के बराबर अंगारा यदि शेष रह जाय तो वह उस अंगारे से अधिक दाह नहीं कर सकता। हे सोम्य! उसी प्रकार तेरी सोलह कलाओं में से (पन्द्रह दिन के उपवास से) केवल एक कला शेष रह गयी है। इसीलिये उसके द्वारा इस समय तू वेदों का अनुभव नहीं कर सकता। अतः अब तू भोजन कर, पश्चात् तू मेरी बात ठीक-ठीक समझ जायगा ॥ ३ ॥ पिता के आदेशानुसार श्वेतकेतु ने भोजन किया और फिर आरुणि के पास आया तब आरुणि ने जो कुछ भी पूछा, उन सभी ऋगादि मन्त्रों और उनके अर्थ को जान लिया ॥ ४ ॥ श्वेतकेतु से आरुणि ने कहा, हे सोम्य! जैसे बहुत से ईंधन के द्वारा बढ़ाये हुये अग्नि का एक खद्योतमात्र अंगारा रह जाय और उसे तिनके आदि के द्वारा सम्पन्न करके प्रज्वलित किया जाय तो वह प्रदीप्त हुआ अंगारा पहले की अपेक्षा अधिक दाह कर सकता है ॥ ५ ॥ हे सोम्य! तेरी सोलह कलाओं में से एक कला शेष रह गयी थी। वही जब अन्न के द्वारा बढ़ा दी गयी, तो अब उसी से तू वेदों का और उसके अर्थ का अनुभव कर रहा है, क्योंकि हे सोम्य! मन अन्न का विकार, प्राण जल का विकार है और वाणी तेज का विकार है। इस प्रकार पिता से कहे गये इस मन आदि के अन्नमयत्वादि को श्वेतकेतु विशेषरूप से समझ गया ॥ ६ ॥

॥ इति सप्तमः खण्डः ॥

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनꣳ स्वपितीत्याचक्षते स्वꣳ ह्यपीतो भवति॥ १॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳ हि सोम्य मन इति॥ २॥

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति॥ ३॥

(त्रिवृत्‌विषयक अवान्तर प्रकरण को समाप्त कर पुनः उसी सद्विषय को कहते हैं)

अथाष्टमः खण्डः

सुषुप्ति कालीन जीव की स्थिति का वर्णन

प्रसिद्ध उद्दालक नामा आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा, हे सोम्य! तू मुझसे सुषुप्ति या स्वप्न के स्वरूप को स्पष्टरूप से समझले। जिस समय यह पुरुष "सोता है" ऐसा कहा जाता है। हे सोम्य! उस समय यह सत्‌ के साथ सम्पन्न हो जाता है और यह अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए तो उसे "स्वपिति" ऐसा कहते हैं, क्योंकि उस समय जीव अपने को ही प्राप्त हो जाता है॥ १॥ जिस प्रकार व्याध के हाथ में पकड़ी हुई डोरी से बंधा हुआ पक्षी दिशा विदिशा में उड़कर भी अन्यत्र विश्राम स्थान न.प्राप्त करके बंधन स्थान का ही आश्रय लेता है। इसी प्रकार हे सोम्य! निश्चय ही यह मन भी दिशा विदिशाओं में जाकर और आत्मा से भिन्न कहीं भी विश्राम स्थान न मिलने से प्राण द्वारा उपलक्षित परदेवता का ही आश्रय लेता है, क्योंकि हे सोम्य! मन प्राणरूप बंधन वाला ही है॥ २॥ हे सोम्य! तू मुझसे भूख और प्यास को स्पष्ट रूप से समझ। जिस समय यह पुरुष "खाना चाहता है" ऐसे नाम वाला होता है, उस समय उसके खाये हुये अन्न को जल ही ले जाता है। जैसे लोक में (गौ ले जाने वाले को) गोनाय, (घोड़े ले जाने वाले को) अश्वनाय तथा (पुरुषों को ले जाने वाले राजा या सेनापति को) पुरुषनाय कहते हैं। उसी प्रकार (पुरुष द्वारा खाये हुये अन्नादि को ले जाने के कारण) जल को अशनाय नाम से पुकारते हैं। हे सोम्य! उस जल से ही तू इस शरीररूप अंकुर को उत्पन्न हुआ समझो, क्योंकि सर्वथा कारण के अभाव में यह शरीररूप कार्य हो नहीं सकता॥ ३॥

तस्य क्व मूलꣲस्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ ४ ॥

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितꣲ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ५ ॥

तस्य क्व मूलꣲ स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् ॥ ६ ॥

इस शरीर का मूलकारण अन्न को छोड़कर और कहाँ हो सकता है? अर्थात् अन्न ही इसका मूल कारण है। हे सोम्य! ऐसे ही अन्नरूप कार्य से इसके मूलरूप को खोजो। और हे सोम्य! जलरूप अंकुर के द्वारा जल के मूल कारण तेज को खोजो। ऐसे ही तेजरूप कार्य के द्वारा सद्रूप मूल का अन्वेषण करो, हे सोम्य! इस प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजा सन्मूलक है और सत् ही इसका आश्रय है एवं अन्त में सत्य ही इसकी प्रतिष्ठा (लय स्थान) है॥ ४॥ (अब जलरूप अंकुर से सद्रूप मूल का ज्ञान कराने के लिये आरुणि कहता है) जिस समय यह पुरुष 'पिपासति' (पीना चाहता है) ऐसे नाम वाला हो जाता है, तो उसके पीये हुये जल को तेज ही ले जाता है। अतः जैसे गोनाय, अश्वनाय और पुरुषनाय कहे जाते हैं वैसे ही उस तेज को 'उदन्या' (उदक को ले जाने के कारण) ऐसे नाम से पुकारते हैं। हे सोम्य! उस जलरूप मूल से यह शरीररूप अंकुर उत्पन्न हुआ है, ऐसा तू जान, क्योंकि यह शरीर मूल के बिना हो नहीं सकता॥ ५॥ हे सोम्य! उस भौतिक शरीर का जल के सिवा और कहाँ मूल हो सकता है? हे प्रिय दर्शन! जलरूप अंकुर से तू तेजरूप मूल का अन्वेषण कर और हे प्यारे! तेजोरूप अंकुर से सद्रूप मूल का अनुसन्धान कर, हे सोम्य! यह सभी प्रजा सन्मूलक है, सद्रूप आयतन वाला है और सत् ही इसका विलय स्थान भी है। हे प्रिय दर्शन! जैसे पृथिवी जल और तेजोरूप ये तीन देवता सच्चिदानन्द पुरुष को प्राप्त कर उनमें से प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हो जाती है, उसे मैंने पहले ही कह दिया। हे प्यारे! मरते समय इस पुरुष की वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परमात्मा में लीन हो जाता है॥ ६॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ७॥ इत्यष्टमः खण्डः॥ (८)॥

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाꣳ रसान्समवहारमेकताꣳरसं गमयन्ति॥ १॥

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति॥ २॥

त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति॥ ३॥

वह यह जो जगत् के मूल कारण में अणुता बतलायी गयी है, एतद्रूप ही सम्पूर्ण जगत् है। वह सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। इस पर श्वेतकेतु ने कहा—भगवन्! मुझे फिर से समझावें। इस पर आरुणि ने कहा—हे सोम्य! अच्छी बात, ऐसा कहा अर्थात् इसके अभिप्राय को फिर से समझाता हूँ॥ ७॥

॥ इत्यष्टमः खण्डः॥

अथ नवमः खण्डः

मधुमक्खियों के दृष्टान्त से सौषुप्त पुरुष का ज्ञान

हे प्रिय दर्शन! लोक में जैसे मधुमक्खियाँ तत्परता से मधु को तैयार करती हैं, उस समय वे नाना दिशाओं में स्थित वृक्षों के रस लाकर उन रसों को मधुरूप से एकता प्राप्त करा देती हैं॥ १॥ (मधुरूप से एकता को प्राप्त हुए) वे रस उस मधु में इस प्रकार का विवेक नहीं कर सकते कि मैं उस वृक्ष का रस हूँ या मैं इस वृक्ष का रस हूँ। ठीक ऐसे ही ये सम्पूर्ण प्रजा सुषुप्ति काल में सत् को प्राप्त कर भी यह नहीं जानती, कि हम सत् को प्राप्त हो रहे हैं॥ २॥ वे इस लोक में व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, सूकर, कीट, पतंग, डाँसे या मच्छर जो भी सुषुप्ति से पूर्व विद्यमान होते हैं, पुनः वे ही हो जाते हैं। अर्थात् सहस्र कोटि युगों का अन्तर पड़ जाने पर भी अज्ञानी जीवों को पूर्व भावित वासना उद्बुद्ध होकर अभिनिवेश करा देती है॥ ३॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४॥ इति नवमः खण्डः॥ (९)॥

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति॥ १॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति॥ २॥

वह यह जो अणुरूप पदार्थ है, एतद्रूप ही यह सब कुछ है, वही सत्य है, वही आत्मा है, किं बहुना हे श्वेतकेतो! तू भी वही है। आरुणि के उपदेश सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—भगवान्! मुझे पुनः समझावें। तत्पश्चात् आरुणि ने कहा, हे सोम्य! अच्छी बात॥ ४॥

॥ इति नवमः खण्डः॥

अथ दशमः खण्डः

नदी के दृष्टान्त से ब्रह्म आत्मा की एकता का वर्णन

हे प्रिय दर्शन! ये पूर्व की ओर बहने वाली (गंगा यमुनादि) नदियाँ पूर्वदिशा की ही ओर बहती हैं (सिन्धु आदि) पश्चिम वाहिनी होकर पश्चिम दिशा की ओर बहती हैं। वे जल निधि समुद्र से (मेघों द्वारा आकृष्ट होकर वृष्टि रूप से बरस कर गंगादिरूप में बहती हुईं) पुनः समुद्र में मिल जाती हैं और वह समुद्र ही हो जाता है। जैसे समुद्र के साथ एकता को प्राप्त हुईं वे सब यह नहीं जानतीं कि यह मैं गंगा हूँ या यह मैं यमुना हूँ यह मैं हूँ, यही मैं हूँ॥ १॥ हे सोम्य! ठीक इसी प्रकार ये सम्पूर्ण प्रजायें उस सत् से आने पर यह नहीं जानतीं कि हम सत् से निकल कर आयी हैं, (सुषुप्ति से पूर्व जो प्राणी जिस शरीर में थे सुषुप्ति से उठने पर भी पुनः) इस लोक में वे व्याघ्र, सिंह, कीट, पतंग, डाँसे या मच्छर जो भी होते हैं, वे ही फिर हो जाते हैं॥ २॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥ इति दशमः खण्डः ॥ (१०)॥

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्त्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्त्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्त्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥

अस्य यदेकाꣳ शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच ॥ २ ॥

वह जो यह अत्यन्त सूक्ष्मरूप है एतद्रूप ही सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु! वही तू है। (इस पर श्वेतकेतु ने कहा) भगवान्! मुझे फिर से समझाइये? (आरुणि ने कहा) हे सोम्य! अच्छी बात फिर समझाता हूँ॥ ३ ॥

॥ इति दशमः खण्डः ॥

अथैकादशः खण्डः

वृक्ष के दृष्टान्त से सत्य आत्मा का उपदेश

हे सोम्य! सामने स्थित अनेक शाखादि से युक्त इस महान् वृक्ष के मूल में यदि कोई आघात करे तो वह (एक ही आघात से सूख नहीं जाता किन्तु) जीवित रहते हुए ही केवल रसस्राव करने लग जाता है। यदि मध्य में कुठाराघात किया जाय तो भी यह वृक्ष जीवित रहते हुए केवल रसस्राव ही करेगा और यदि कोई उसके अग्रभाग में आघात करे तो भी यह जीवित रहते हुए ही रसस्राव करता रहेगा, क्योंकि यह वृक्ष जीवात्मा से ओत-प्रोत है और केवल जलपान करता हुआ (तथा अपनी जड़ों से पृथिवी के रसों को ग्रहण करता हुआ) सानन्द स्थित रहता है॥ १ ॥ यदि इस वृक्ष की रोग ग्रस्त किसी एक शाखा को जीव छोड़ देता है, तो वह शाखा सूख जाती है। यदि दूसरी को छोड़ देता है, तो वह सूख जाती है और यदि तीसरी को छोड़ देता है तो वह भी सूख जाती है। ऐसे ही यदि सम्पूर्ण वृक्ष को जीव छोड़ देता है, तो सम्पूर्ण वृक्ष सूख जाता है (इन युक्तियों से वृक्षादि में सजीवता सिद्ध होती है)॥ २ ॥

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥ इत्येकादशः खण्डः॥ (११)॥

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किंचन भगव इति॥ १॥

तꣳ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति॥ २॥

हे सोम्य! ठीक इसी प्रकार तू जाने ले कि जीव से रहित हुआ यह शरीर ही मरता है जीव नहीं मरता है। ऐसा आरुणि ने कहा यह जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतनतत्त्व है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु! वही तू है। (इस पर श्वेतकेतु ने कहा) हे भगवान्! (किसी अन्य दृष्टान्त द्वारा) मुझे फिर भी इस तत्त्व को समझाइये। तब आरुणि ने कहा हे सोम्य! अच्छी बात ॥ ३॥

॥ इत्येकादशः खण्डः॥

अथ द्वादशः खण्डः

वटवृक्ष के दृष्टान्त से सत्यात्मा का उपदेश

इस महान् वटवृक्ष से बरगाद का एक फल ले आओ, (इसे सुनकर श्वेतकेतु ने ऐसा ही किया और बोला) भगवन्! मैं यह फल ले आया हूँ (पिता ने कहा) इसे फोड़ो। (श्वेतकेतु बोला) हे भगवन्! फोड़ दिया हूँ। आरुणि ने कहा—इसमें क्या देखते हो। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन्! इसमें ये अणुपरिमाण के समान दाने हैं। आरुणि ने कहा—अच्छा बेटा! इन दानों में से एक को फोड़ो। तब श्वेतकेतु ने उसे फोड़ दिया (और उसने कहा) इसे फोड़ दिया भगवन्! आरुणि ने कहा इसमें क्या देखते हो? श्वेतकेतु बोला कुछ नहीं भगवन्!॥ १॥ श्वेतकेतु से पिता ने कहा हे प्रिय दर्शन! इस वटवृक्ष की जिस सूक्ष्मता को तुम नहीं देखते हो, हे सोम्य! उस अणिमा का ही कार्यभूत इतना बड़ा यह वटवृक्ष खड़ा है। हे प्यारे! (हमारे इस कथन में) तुम श्रद्धा करो।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥ इति द्वादशः खण्डः॥ (१२)॥

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार तꣳ होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽबाधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद॥ १॥

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति लवणमित्यभिप्राश्यैनदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्संवर्तते तꣳ होवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति॥ २॥

वह जो यह अत्यन्त सूक्ष्मतत्त्व है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु! वही तू है। (इसपर श्वेतकेतु ने कहा) भगवान्! दृष्टान्त द्वारा फिर से मुझे इस तत्त्व को समझाइये? तब आरुणि ने कहा हे सोम्य! अच्छी बात॥ ३॥

॥ इति द्वादशः खण्डः॥

अथ त्रयोदशः खण्डः

लवण दृष्टान्त से सत्य आत्मा का आदेश

इस नमक की डली को जल में डालकर कल प्रातः काल मेरे पास आना। इस प्रकार पिता के कहने पर सत्य के जिज्ञासु श्वेतकेतु ने वैसा ही किया (दूसरे दिन सबेरे ही) आरुणि ने श्वेतकेतु से कहा—हे वत्स! रात्रि में जो तुमने लवण को पानी में डाला था उसे ले आओ! इस प्रकार पिता के कहने से उसने जल में नमक को टटोला पर ढूँढने पर भी जल में विद्यमान भी लवण को वह प्राप्त न कर सका॥ १॥ जैसे वह नमक उसी जल में विलीन हो गया है, (इसलिये तू उसे जान नहीं सकता) फिर भी तू इस जल को ऊपर से आचमन कर (उसके वैसा करने पर पिता ने पूछा) कैसा है? (श्वेतकेतु ने कहा) नमकीन है। बीच में से आचमन कर, अब कैसा मालूम पड़ता है? नमकीन है। नीचे से आचमन कर। अब कैसा है? नमकीन है। आरुणि ने कहा यदि ऐसा है तो इस जल को फेंक कर (आचमन करने के बाद) मेरे पास आओ। उसने वैसा ही किया और कहा इस जल में लवणखण्ड सदा ही विद्यमान था, (क्योंकि रात्रि में मैंने उसमें लवण डाला था) तब श्वेतकेतु से आरुणि ने कहा। हे प्रिय दर्शन! ऐसा ही वह सत्य भी निश्चय करके यहाँ पर ही विद्यमान है। यद्यपि तू उसे नहीं देखता है फिर भी वह यहाँ विद्यमान है ही (जिसे तुमने रसनेन्द्रिय से उपलब्ध कियां वैसे ही सर्वत्र विद्यमान सत्य की उपलब्धि उपायान्तर से हो सकती है।)॥ २॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥ इति त्रयोदशः खण्डः॥ (१३)॥

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः॥ १॥

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति॥ २॥

वह जो यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु! वही तू है। तब श्वेतकेतु ने कहा—हे भगवन्! मुझे फिर से अन्य दृष्टान्त द्वारा उस तत्त्व को समझावें। अच्छा सोम्य! ऐसा आरुणि ने कहा॥ ३॥

॥ इति त्रयोदशः खण्डः॥

अथ चतुर्दशः खण्डः

विवेकी पुरुष के दृष्टान्त से सत्य का उपदेश

हे सोम्य! जैसे लोक में कोई चोर किसी पुरुष की आँख में पट्टी बाँधकर उसे गान्धार देश से लाकर अत्यन्त जनशून्य स्थान में छोड़ देवे तो जैसे उस जगह दिग्भ्रान्त हुआ वह पुरुष पूर्व, उत्तर, दक्षिण या पश्चिम, की ओर मुख करके चिल्लावे कि मुझे गान्धार देश से आँखें बाँधकर चोरों ने लाया है और आँखें बँधे हुए ही छोड़ दिया है॥ १॥ उस पुरुष के बन्धन को खोलकर जिस प्रकार कोई कृपालु पुरुष कहे कि इस दिशा में गांधार देश है। अतः इस दिशा की ओर तू जा, तो वह मेधावी विवेकशील एक गाँव से दूसरे गाँव को पूछता हुआ गांधार देश में ही पहुँच जाता है। वैसे ही इस लोक में आचारवान् पुरुष ही सत्य को जानता है। उस तत्त्ववेत्ता के लिए विदेह कैवल्य प्राप्त करने में उतनी देर है जब तक कि वह (प्रारब्ध कर्म को भोगकर वर्तमान देह बन्धन से) मुक्त नहीं हो जाता। उसके बाद तो वह सत्य ब्रह्म को प्राप्त कर लेता ही है॥ २॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥ इति चतुर्दशः खण्डः ॥ (१४)॥

पुरुषꣳ सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति तस्य यावन्न वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति ॥ १ ॥

अथ यदास्य वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥ इति पञ्चदशः खण्डः ॥ (१५)॥

वह जो यह अणिमा है; एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु! वही तू है। तब श्वेतकेतु ने कहा भगवान्! मुझे फिर से उस सत्यतत्त्व को समझाइये? अच्छा सोम्य! ऐसा आरुणि ने कहा ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्दशः खण्डः ॥

अथ पंचदशः खण्डः

मरणासन्न पुरुष के दृष्टान्त से सत्य का उपदेश

हे सोम्य! ज्वरादि से अत्यन्त संतप्त हुए मरणासन्न पुरुष को परिवारवाले चारों ओर से घेर कर पूछा करते हैं—क्या तू मुझे (पिता, पुत्र या भाई को) पहचानता है। क्या तू मुझे पहचानता है। उस मुमूर्षु की वाणी जब तक मन में लीन नहीं हो जाती और मन प्राण में, प्राण तेज में, तथा तेज परदेवता में लीन नहीं हो जाता, तब तक वह पहचानता रहता है ॥ १ ॥ फिर जिस समय उस मरणासन्न पुरुष की वाणी (आदि इन्द्रियाँ) मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परदेवता में लीन हो जाता है। उसके बाद वह किसी को पहचानता नहीं ॥ २ ॥ वह जो यह अणुतत्त्व है, एतद्रूप ही यह सम्पूर्ण जगत् है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु! वही तू है। इस पर श्वेतकेतु ने कहा, भगवान्! मुझे उस तत्त्व को फिर से समझाइये?, अच्छा सोम्य! ऐसा पिता ने कहा ॥ ३ ॥

॥ इति पञ्चदशः खण्डः ॥

पुरुषꣳ सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते॥ १ ॥

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते॥ २ ॥

स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति॥ ३ ॥ इति षोडशः खण्डः ॥ (१६)॥ इति षष्ठः प्रपाठकः॥ ६ ॥

अथ षोडशः खण्डः

चोर के द्वारा तप्त परशु को ग्रहण कराकर सत्य का उपदेश

हे सोम्य! चोरी के सन्देह से किसी पुरुष को हाथ बाँधकर (राजपुरुष) लाते हैं (और उससे कहते हैं) इस व्यक्ति का धन चुराया है, चोरी की है (न्यायाधीश के पूछने पर भी जब वह चोर अन्ततंक अपने अपराध को छिपाना ही चाहता है तब न्यायाधीश कहता है) इसके लिये फरशे को तपाओ, यदि वह उसका चुराने वाला है, तो अपने को मिथ्यावादित्व सिद्ध करता है। वह मिथ्याभिनिवेश वाला पुरुष अपने चौर्य को छिपाता हुआ तपे हुये परशु को पकड़ता है, मोह वश ऐसा करने पर वह तप्त परशु से जल जाता है और राजपुरुषों द्वारा मारा जाता है॥ १ ॥ और यदि वह चोरी का करने वाला नहीं होता, तो उस परीक्षा में वह अपने को सत्य प्रमाणित करता है। सत्याग्रही वह सत् पुरुष सत्य से अपने को आवृत करके उस तप्त परशु को पकड़ लेता है, वह उससे जलता नहीं (तत्पश्चात् मिथ्याभियोग लगाने वाले पुरुष के द्वारा) वह तत्काल ही छोड़ दिया जाता है॥ २ ॥ सत्याग्रही वह पुरुष जैसे उस परीक्षा में जलता नहीं (वैसे ही तत्त्वज्ञानी प्रारब्धक्षय के अनन्तर विदेहकैवल्य को प्राप्त कर लेता है और फिर लौटता नहीं, किन्तु नामरूप अनृत विकार में अभिनिवेश करने वाला अविद्वान् मरकर पुनर्जन्म ग्रहण करता है।) यह सब एतद्रूप ही है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु! वही तू है। इस प्रकार पिता से नौबार उपदेश सुनकर उस श्वेतकेतु ने ब्रह्म और आत्मा की एकता को जान गया। उसे जान लिया॥ ३ ॥

॥ इति षष्ठाध्यायः, षोडशः खण्डः॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

ॐ। अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳ होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच॥ १॥

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि॥ २॥

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तꣳ होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा

अथ सप्तमाध्याये प्रथमः खण्डः

सनत्कुमार के पास जाकर नारद का उपदेश ग्रहण

हे भगवन्! मुझे उपदेश करें? ऐसा कहते हुए नारद जी (शिष्य भाव से ब्रह्मनिष्ठ योगीश्वर) सनत्कुमार के पास गये। नियमानुसार आये हुए नारद से सनत्कुमार ने कहा—तुम जो कुछ जानते हो उसे बतलाते हुए मेरे पास आओ, फिर मैं तुम्हें तुम्हारे ज्ञान से आगे उपदेश करूँगा। ऐसा सुनकर नारद ने कहा ॥ १ ॥ हे भगवन्! मैं ऋग्वेद पढ़ा हूँ, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा आथर्वणवेद भी जानता हूँ। (इनके अतिरिक्त) इतिहास पुराणरूप पंचमवेद, वेदों का वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, महाकलानिधि शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, शिक्षाकल्प, छन्द और चितिरूप ब्रह्मविद्या, भूतशास्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिषविद्या, गारुड़विद्या, नृत्य, संगीतादि विद्या, हे भगवन्! यह सब मैं जानता हूँ॥ २ ॥ हे भगवन्! आत्मा को मैं नहीं जानता। मैंने आप पूज्य जनों के जैसे महापुरुषों से सुना है। आत्मज्ञानी शोक को पारकर जाता है और हे भगवन्! मैं तो शोक करता हूँ। ऐसे शोकग्रस्त मुझे शोक से पारकर देवें, अर्थात् मुझे अभय प्राप्त करा देवें। ऐसा सुनकर सनत्कुमार ने नारद से कहा—अभी तक यह जो कुछ तुम जानते हो वह नाममात्र ही है॥ ३ ॥

नामैवैतत् ॥ ३ ॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ॥ ४ ॥

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ५ ॥ इति प्रथमः खण्डः ॥ (१) ॥

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदः सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यः राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां

क्योंकि ऋग्वेद नाम है, यजुर्वेद, सामवेद, चौथा आथर्वण वेद, पाँचवाँ वेद इतिहास पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष, गारुड़, संगीतादि कला और शिल्पशास्त्र—ये सब भी नाम ही हैं। (अतः प्रतिमा में विष्णु बुद्धि के समान) तुम नाम को ब्रह्म बुद्धि से उपासना करो ॥ ४ ॥ वह जो नाम ब्रह्म है, ऐसी उपासना करता है, जहाँ तक नाम की गति है, वहाँ तक नाम के विषय में उस उपासक की यथेष्ट गति हो जाती है। जो 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार नाम की उपासना करता है। (नारद ने कहा) भगवन्! क्या नाम से बढ़ कर भी कोई वस्तु है? (सनत्कुमार ने कहा) नाम से भी बढ़कर वस्तु है। (तब नारद ने कहा) भगवन्! मुझे उसका ही उपदेश करें? ॥ ५ ॥

॥ इति प्रथमः खण्डः ॥

अथ द्वितीयः खण्डः

नाम की अपेक्षा वाणी की श्रेष्ठता

निश्चय ही नाम से बढ़कर वाक् है (कण्ठादि आठ स्थानों में स्थित वर्णाभिव्यञ्जक इन्द्रिय को वाणी कहते हैं और वर्ण को नाम कहते हैं) वाणी ही

नक्षत्रविद्याः सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाःश्च मनुष्याःश्च पशूःश्च वयाःसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति॥ १ ॥

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ २ ॥ इति द्वितीयः खण्डः॥ (२)॥

ऋग्वेदरूप नाम को बतलाती है। यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ आथर्वणवेद, इतिहास पुराण पंचमवेद, वेदों का वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातशास्त्र, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविद्या, भूतविद्या, धनुर्विद्या, ज्योतिष, गारुड़, संगीत शास्त्र, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, हिंसक जन्तु, कीट, पतंग, पिपीलकापर्यन्त प्राणी, धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य, साधु और असाधु, मनोज्ञ और अमनोज्ञ, जो कुछ भी है (सभी वाणी के विषय हैं) यदि वाणी न होती, तो (अध्ययन पूर्वक अर्थज्ञान के अभाव होने से किसी भी व्यक्ति को) न धर्म का, न अधर्म का ही ज्ञान होता तथा न सत्य का, न असत्य का, न साधु का, न असाधु का, न मनोज्ञ का और न अमनोज्ञ का ही ज्ञान हो पाता। शब्द उच्चारण द्वारा वाणी ही इन सबको विज्ञापन करती है। अतः नाम से श्रेष्ठ इस वाणी की 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार से उपासना करो॥ १ ॥ 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार वह जो कोई वाणी की उपासना करता है, उस उपासक की वहाँ तक स्वेच्छा से गति होती है, जहाँ तक वाणी की गति है। जो पुरुष 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार से वाणी की उपासना करता है। (नारद ने कहा) भगवन्! क्या वाणी से भी बढ़कर कोई वस्तु है? (सनत्कुमार ने कहा) हाँ, वाणी से भी बढ़कर वस्तु है। (नारद ने कहा) भगवन्! तब तो उसे ही मुझे बतलायें॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः॥

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाऽक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति॥ १॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ २॥ इति तृतीयः खण्डः ॥ (३)॥

अथ तृतीयः खण्डः

वाणी से मन की श्रेष्ठता का वर्णन

मन ही वाणी से श्रेष्ठ है, (क्योंकि मनन व्यापार विशिष्ट मन ही वाणी को बोलने में प्रेरित करता है) जैसे दो आँवले, दो बेर, या दो बहेड़े, मुट्ठी में आ जाते हैं, वैसे ही वाणी और नाम का मन में अन्तर्भाव हो जाता है। जब यह पुरुष मन से विचार करता है कि "मैं मन्त्र का उच्चारण करूँ" तभी वह मन्त्र पाठ करता है, जब सोचता है "मैं कर्म करूँ" तभी वह कर्म करता है, जब विचार करता है "मैं पुत्र और पशुओं की इच्छा करूँ" तभी उनकी इच्छा करता है और जब विचारता है कि "मैं इस लोक और परलोक की कामना करूँ" तभी उनकी इच्छा करता है। अतः मन ही आत्मा है, मन ही लोक है, मन ही ब्रह्म है। मन की उपासना करो॥ १॥ "यह ब्रह्म है" इस प्रकार जो वह मन की उपासना करता है, उसकी वहाँ तक स्वच्छन्द गति होती है, जहाँ तक मन जाता है। "यह ब्रह्म है" इस प्रकार मन की जो उपासना करता है (नारद ने कहा) भगवन्! क्या मन से भी श्रेष्ठ कोई वस्तु है? (सनत्कुमार ने कहा) हाँ, मन से भी बढ़कर वस्तु है। (नारद ने कहा) भगवन्! तब तो मुझे उसी को बतलावें॥ २॥

॥ इति तृतीयः खण्डः॥

संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाच-मीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तामापश्च तेजश्च तेषाꣳसंक्लृप्त्यै वर्षꣳसंकल्पते वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नꣳ संकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते प्राणानाꣳसंक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते मन्त्राणाꣳ संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणाꣳ संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वꣳ संकल्पते स एष संकल्पः संकल्पमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

अथ चतुर्थः खण्डः

मन की अपेक्षा संकल्प की श्रेष्ठता का वर्णन

संकल्प ही मन से श्रेष्ठ है (कर्तव्याकर्तव्य विषयों का विभाग पूर्वक समर्थन को संकल्प कहते हैं)। इस प्रकार पुरुष जब संकल्प करता है, तभी वह चिकीर्षा बुद्धि रूप मनन करता है और पुनः वाणी को वक्तव्य विषयों की ओर प्रेरित करता है। उसे वह नाम के प्रति प्रवृत्त करता है। नाम में सब मन्त्र एकरूप हो जाते हैं और मन्त्रों में सब कर्म एक रूप हो जाते हैं॥ १ ॥ वे ये मन आदि संकल्पैकायन हैं, अर्थात् इनका प्रलय स्थान एकमात्र संकल्प ही है। ये उत्पत्ति के समय संकल्पमय हैं और स्थिति के समय संकल्प में ही प्रतिष्ठित हैं। द्युलोक और पृथिवी ने मानो संकल्प किया, (क्योंकि ये निश्चल दिखायी देते हैं) वायु और आकाश ने संकल्प किया है, जल और तेज ने संकल्प किया है। उनके संकल्प के लिये वर्षा समर्थ होती है, अर्थात् द्युलोकादि के समर्थ होने से वर्षा होती है। वर्षा के संकल्प के लिये अन्न समर्थ होता है (क्योंकि वर्षा से अन्न होता है)। अन्न के संकल्प के लिये प्राण समर्थ होता है (क्योंकि प्राण अन्न के आश्रित है) प्राणों के संकल्प के लिये मन्त्र समर्थ होते हैं (क्योंकि बलवान् ही मन्त्र को पढ़ सकता है)। मन्त्रों के संकल्प के लिये कर्म समर्थ होते हैं (क्योंकि फल सहित कर्मों का बोध मन्त्रों से ही होता है)। कर्मों के संकल्प के लिए लोक समर्थ होता है। (क्योंकि कर्मों से ही लोक की प्राप्ति होती है) और लोकों के संकल्प के लिए सम्पूर्ण जगत् समर्थ होता है। वह यह सम्पूर्ण जगत् संकल्प मूलक ही है। अतः तुम संकल्प की उपासना करो॥ २ ॥

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ ३ ॥ इति चतुर्थः खण्डः॥ (४)॥

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि॥ १ ॥

"यह ब्रह्म है" इस प्रकार वह जो कोई संकल्प की उपासना करता है। विधाता द्वारा रचे हुए नित्य लोकों को स्वयं नित्य होकर, प्रतिष्ठित लोकों को स्वयं प्रतिष्ठित होकर और स्वयं व्यथित न होता हुआ शत्रु आदि के भय से रहित लोकों को सभी प्रकार से प्राप्त कर लेता है। जहाँ तक संकल्प की गति है, वहाँ तक उसकी स्वच्छन्द गति हो जाती है। "यह ब्रह्म है" जो इस प्रकार संकल्प की उपासना करता है। (नारद ने कहा) भगवन्! क्या संकल्प से भी श्रेष्ठ कोई वस्तु है? (सनत्कुमार ने कहा) हाँ, संकल्प से भी बढ़कर वस्तु है (नारद ने कहा) भगवन्! मुझे उसी तत्त्व को बतलावें॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थः खण्डः॥

अथ पंचमः खण्डः

संकल्प की अपेक्षा चित्त की श्रेष्ठता

चित्त ही संकल्प से श्रेष्ठ है। जब पुरुष चेतनायुक्त होता है, तभी वह (भूत एवं भविष्यत् विषयों के प्रयोजन में समर्थ) संकल्प करता है, फिर मनन करता है, उसके बाद वाणी को बोलने के लिए प्रेरित करता है, वाणी को नाम में लगाता है, क्योंकि नाम में मन्त्र एकरूप होते हैं और मन्त्रों में कर्म विद्यमान होते हैं ॥ १ ॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान्भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तꣳह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति ॥ २॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्ध्यति यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ ३॥ इति पञ्चमः खण्डः॥(५)॥

वे ये (संकल्प से लेकर कर्म फल पर्यन्त सभी) एकमात्र चित्तरूप लयस्थान वाले, चित्त से उत्पन्न होने वाले तथा चित्त में ही स्थित रहने वाले हैं। इसीलिये यद्यपि कोई पुरुष बहुत से शास्त्रादि का ज्ञान रखता हो, फिर भी यदि वह अचित्त रहता है, तो लोग कहने लग जाते हैं कि "यह तो कुछ भी नहीं जानता (मूर्ख है) यदि यह कुछ जानता या विद्वान् होता तो ऐसा मूर्ख न होता" और यदि कोई अल्पज्ञ होने पर भी चिन्तन शील हो, तो उससे ही ये सभी लोग श्रवण करना चाहते हैं (क्योंकि चिन्तन सामर्थ्य से दूसरे के हृदय में अपने अभिप्राय को वह पुरुष उतार देता है)। अतः चित्त ही उनका एकमात्र आधार है चित्त ही आत्मा है और चित्त ही प्रतिष्ठा है, इसलिये तू चित्त की उपासना कर॥ २॥ "यह ब्रह्म है" इस प्रकार वह जो कोई चित्त की उपासना करता है, वह चित्त से युक्त हो बुद्धि युक्त गुणों से उपचित ध्रुव लोक को वह चित्तोपासक स्वयं ध्रुव होकर, प्रतिष्ठित लोकों को स्वयं प्रतिष्ठित होकर और अव्यथित लोकों को स्वयं अव्यथित हुआ सभी प्रकार से प्राप्त कर लेता है। उस उपासक की वहाँ तक स्वच्छन्द गति हो जाती है, जहाँ तक चित्त की गति है। "यह ब्रह्म है" इस प्रकार जो चित्त की उपासना करता है। (नारद ने कहा) भगवन्! क्या चित्त से भी बढ़कर कोई वस्तु है? (सनत्कुमार ने कहा) हाँ, चित्त से भी बढ़कर वस्तु लोक में है, (नारद ने कहा) भगवन्! तब तो मुझे उसी का उपदेश करें॥ ३॥

॥ इति पञ्चमः खण्डः॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाꣳशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादाꣳशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति॥ १॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ २॥ इति षष्ठः खण्डः॥ (६)॥

अथ षष्ठः खण्डः

चित्त की अपेक्षा ध्यान का महत्त्व

चित्त से बढ़कर ध्यान है, ध्यान ही चित्त से श्रेष्ठ है (ध्यान को एकाग्रता भी कहते हैं)। पृथिवी मानो ध्यान करती है, अन्तरिक्ष मानो ध्यान करता है, द्युलोक मानो ध्यान करता है, (क्योंकि ये सब अचल दीखते हैं) जल मानो ध्यान करते हैं, पर्वत मानो ध्यान करते हैं। देव तुल्य मनुष्य भी मानो ध्यान करते हैं। अतः जो भी कोई मनुष्यों में महत्त्व प्राप्त करते हैं, वे मानों ध्यान का ही अंशतः लाभ प्राप्त करते हैं। पर जो क्षुद्र विचार वाले हैं, वे कलह परायण, निन्दक, दूसरों के दोषों को सामने ही कह देने वाले तथा समर्थ होते हैं। वे पुरुष भी ध्यान के ही लाभ को अंशतः प्राप्त करते हैं, अतः तुम ध्यान की ही उपासना करो। ॥ १॥ "यह ब्रह्म है" इस प्रकार जो चित्त की उपासना करता है उसकी वहाँ तक स्वच्छन्द गति हो जाती है, जहाँ तक ध्यान की गति मानी गई है। "यह ब्रह्म है" इस प्रकार ध्यान की जो उपासना करता है। (नारद ने कहा) भगवन्! क्या चित्त से भी बढ़कर कोई वस्तु है? (सनत्कुमार ने कहा) हाँ ध्यान से भी बढ़कर लोक में वस्तु है (नारद ने कहा) भगवन्! क्या ध्यान से भी उत्कृष्ट वस्तु है? (सनत्कुमार ने कहा) हाँ ध्यान से भी बढ़कर लोक में वस्तु है (नारद ने कहा) तब तो भगवन्! मुझे उसी का उपदेश करें॥ २॥

॥ इति षष्ठः खण्डः॥

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतिञ्छ्वापदान्याकीटपतंगपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥ इति सप्तमः खण्डः ॥ (७) ॥

अथ सप्तमः खण्डः

ध्यान से विज्ञान की श्रेष्ठता

शास्त्र विषयक विज्ञान ही ध्यान से श्रेष्ठ है। विज्ञान से ही पुरुष (यह ऋग्वेद है, इस प्रकार प्रमाणरूप से) ऋग्वेद को जानता है तथा विज्ञान से ही यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ आथर्वणवेद, वेदों में पंचम वेद इतिहासपुराण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीति, निरुक्त, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष, गारुड़विद्या, शिल्पविद्या, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद तथा कीट, पतंग, पिपीलिकापर्यन्त, सम्पूर्ण जीव, धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य, साधु और असाधु, हृदयज्ञ और अहृदयज्ञ, अन्न, रस, एवं इस लोक और परलोक को जानता है। अतः तू विज्ञान की उपासना कर॥ १ ॥ "यह ब्रह्म है" इस प्रकार वह जो कोई विज्ञान की उपासना करता है उसे विज्ञानवान् एवं ज्ञानवान् लोकों की प्राप्ति होती है। उसकी वहाँ तक स्वच्छन्द गति हो जाती है, जहाँ तक विज्ञान की गति है, जो विज्ञान की "यह विज्ञान है" इस प्रकार उपासना करता है। (नारद ने कहा) भगवन्! क्या विज्ञान से भी कुछ श्रेष्ठ है? (सनत्कुमार ने कहा) हाँ विज्ञान से भी श्रेष्ठ अवश्य है। (नारद ने कहा) तब तो भगवन् मुझे उसी को बतलावें॥ २ ॥

॥ इति सप्तमः खण्डः ॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति॥ १॥

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ २॥ इत्यष्टमः खण्डः॥ (८)॥

अथाष्टमः खण्डः

विज्ञान से बल की महत्ता

बल ही विज्ञान से श्रेष्ट है, क्योंकि सौ विज्ञानवानों को भी एक बलवान् कँपा देता है। जब यह पुरुष बलवान् होता है—तभी उठने वाला भी होता है, उठने वाला होने पर ही गुरुजनों की परिचर्या करने वाला होता है और परिचर्या करने वाला होने पर ही उनका अन्तरंग होता है और उपसदन करने वाला ही दर्शन करने वाला होता है। तत्पश्चात् श्रवण करने वाला होता है, मनन करने वाला होता है, बोध वाला होता है, कर्ता होता है और विज्ञाता होता है। बल से ही पृथिवी ठहरी हुई है, बल से ही अन्तरिक्ष, बल से ही द्युलोक, बल से ही पर्वत, बल से ही देवता और मनुष्य, बल से ही पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद और कीट, पतंग एवं पिपीलिका पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणी स्थित हैं। बल से ही लोक स्थित हैं। अतएव तुम बल की उपासना करो॥ १॥ "यह ब्रह्म है" इस प्रकार वह जो कोई बल की उपासना करता है, उसकी वहाँ तक स्वच्छन्द गति हो जाती है, जहाँ तक बल की गति है। जो व्यक्ति (यह बल है) इस प्रकार बल की उपासना करता है। (नारद ने कहा) भगवन्! क्या बल से भी कोई वस्तु उत्कृष्ट है? (सनत्कुमार ने कहा) हाँ; बल से भी कोई वस्तु श्रेष्ठ जरूर है। तब (नारद ने कहा) भगवन् मुझे उसका ही उपदेश करें॥ २॥

॥ इत्यष्टमः खण्डः॥

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाता भवत्यथान्नस्याये द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति॥ १॥

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ २॥ इति नवमः खण्डः॥ (९)॥

अथ नवमः खण्डः
बल से अन्न श्रेष्ठ है

(बल का कारण) अन्न ही बल से श्रेष्ठ है। अतएव यदि कोई दश दिन भोजन न करे और जीवित रह भी जाय तो भी वह अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्ता तथा अविज्ञाता निश्चय हो जाता है, (क्योंकि भोजन के अभाव में देखने, सुनने, मनन करने, जानने आदि व्यापार में वह असमर्थ हो जाता है) पुनः अन्न मिलने पर वह पुरुष देखता है, सुनता है, मनन करता है, बोद्धा होता है, कर्ता और विज्ञाता होता है। इसलिये तू अन्न की उपासना कर। "यह ब्रह्म है" इस प्रकार वह जो कोई पुरुष अन्न की उपासना करता है, उसे प्रभूत अन्नवाले तथा प्रभूत जलवाले लोकों की प्राप्ति होती है। जहाँतक अन्न की गति है, वहाँ तक उस उपासक की स्वच्छन्द गति होती है। "यह ब्रह्म है" इस प्रकार जो इसकी उपासना करता है। (नारद ने कहा) भगवन्! क्या अन्न से भी बढ़कर कोई वस्तु है? (सनत्कुमार ने कहा) हाँ, अन्न से भी बढ़कर लोक में वस्तु अवश्य है। (नारद ने कहा) भगवन्! तब तो मुझे उसी का उपदेश करें॥ २॥

॥ इति नवमः खण्डः॥

आपो वावान्नाद्भूयस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति ॥ १ ॥

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाꣳस्तृप्तिमान्भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥ इति दशमः खण्डः ॥ (१०)॥

अथ दशमः खण्डः

अन्न की अपेक्षा जल की श्रेष्ठता

(अन्न का कारण होने से) जल ही अन्न की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसीलिये जब अच्छी वृष्टि नहीं होती, तो प्राण दुःखी हो जाते हैं कि (इस वर्ष) अन्न थोड़ा हो गया और जब वृष्टि अच्छी होती है तब अन्न खूब होगा, ऐसा समझ कर प्राण प्रसन्न होता है (क्योंकि यह जो मूर्तिमती पृथिवी है) वह मूर्तिमान जल ही तो है, तथा जो अन्तरिक्ष, जो द्युलोक, जो पर्वत, जो देवता एवं मनुष्य और जो पशु और पक्षी, जो तृण, वनस्पति, श्वापद और कीट, पतंग, पिपीलका पर्यन्त प्राणी हैं वे भी मूर्तिमान् जल ही हैं। अतएव तू जल की ही उपासना कर॥ १ ॥ ''यह ब्रह्म है'' इस प्रकार वह जो कोई जल की उपासना करता है वह उपासक सम्पूर्ण काम्य वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है और तृप्त होता है। उसकी वहाँ तक स्वच्छन्द गति हो जाती है जहाँ तक जल की गति है। (नारद ने कहा) भगवन्! क्या जल से भी श्रेष्ठ वस्तु है? (सनत्कुमार ने कहा) जल से भी श्रेष्ठ वस्तु अवश्य है। (नारद ने कहा) भगवन्! तब मुझे उसी का उपदेश करें॥ २॥

॥ इति दशमः खण्डः॥

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तेज उपास्स्वेति॥ १॥

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ २॥ इत्येकादशः खण्डः॥ (११)॥

अथैकादशः खण्डः

जल की अपेक्षा तेज की श्रेष्ठता

(जल का कारण होने से) जल की अपेक्षा तेज ही श्रेष्ठ है। क्योंकि यह तेज जब वायु को निश्चल करके आकाश को सभी ओर से संतप्त करता है, तब लोग कहते हैं, जगत् सामान्यरूप से संतप्त हो रहा है, बड़ा ताप है। अतः वर्षा होगी। इस प्रकार तेज ही पहले अपने को उद्भूत हुआ दिखला कर फिर जल की सृष्टि करता है। यह तेज ऊर्ध्वगामिनी और तिर्यग्गामिनी बिजलियों के सहित गड़गड़ाहट का शब्द फैला देता है। अतएव लोग कहते हैं बिजली चमकती है, बादल गरजता है, वर्षा अवश्य होगी। इस प्रकार वह जो कोई पुरुष तेज की उपासना करता है, वह निश्चय ही तेजस्वी होकर तेजः सम्पन्न प्रकाशवान् और बाह्य एवं आभ्यन्तर तम से रहित लोकों को प्राप्त करता है। उस उपासक की वहाँ तक गति हो जाती है, जहाँ तक तेज की गति है। "यह ब्रह्म है" इस प्रकार जो तेज की उपासना करता है। (नारद ने कहा) भगवन्! क्या तेज से भी बढ़कर कोई चीज है? (सनत्कुमार ने कहा) हाँ, तेज से बढ़कर कोई वस्तु है ही। (नारद ने कहा) तब तो भगवन्! मुझे उसी तत्त्व का उपदेश करें॥ २॥

॥ इत्येकादशः खण्डः॥

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति॥ १ ॥

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाशवतोऽसंबाधानुरुगायवतोऽभिसिध्यति यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ २ ॥ इति द्वादशः खण्डः॥ (१२)॥

अथ द्वादशः खण्डः

तेज की अपेक्षा आकाश की श्रेष्ठता

(वायु सहित तेज का कारण होने से) आकाश ही तेज से श्रेष्ठ है। आकाश में ही सूर्य-चन्द्र ये दोनों तथा बिजली, नक्षत्र और अग्नि स्थित हैं, आकाश में ही एक व्यक्ति दूसरे को पुकारते हैं, आकाश से ही सुनते हैं, आकाश के द्वारा ही प्रतिश्रवण करते हैं, आकाश में ही दूसरे के साथ रमण करते हैं, आकाश में ही रमण नहीं करते, आवरण शून्य आकाश में ही सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं और आकाश की ओर ही (सब जीव तथा अंकुरादि) बढ़ते हैं। अतः तुम आकाश की उपासना करो॥ १ ॥ "यह ब्रह्म है" इस प्रकार वह जो कोई व्यक्ति आकाश की उपासना करता है, वह विस्तार युक्त, प्रकाशवान्, पीड़ादि दुःख रहित और विस्तार वाले लोगों को प्राप्त करता है। उसकी वहाँ तक स्वच्छन्द गति होती है, जहाँ तक आकाश की गति है, "यह ब्रह्म है" इस प्रकार जो आकाश की उपासना करता है। (नारद ने कहा) हे भगवन्! क्या आकाश से बढ़कर भी कोई वस्तु है? (सनत्कुमार ने कहा) हाँ, आकाश से भी बढ़कर कोई वस्तु है। (नारद ने कहा) भगवन्! तब तो मुझे उसी का उपदेश करें॥ २ ॥

॥ इति द्वादशः खण्डः॥

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्नस्मरन्तो नैव ते कञ्चन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन् यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति॥ १ ॥

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ २ ॥ इति त्रयोदशः खण्डः॥ (१३)॥

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मंत्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति॥ १ ॥

अथ त्रयोदशः खण्डः

आकाश की अपेक्षा स्मरण की श्रेष्ठता

(अन्तःकरण का धर्मरूप) स्मरण ही आकाश से श्रेष्ठ है। अतएव यद्यपि एक स्थान में बहुत से लोग (परस्पर भाषण करते हुये) बैठे हों तथापि स्मरण न करने पर वे न कुछ श्रोतव्य बात सुन सकते हैं, न मन्तव्य बात का मनन कर सकते हैं और न ज्ञातव्य वस्तु को जान ही सकते हैं। पर जिस समय स्मरण करते हैं उस समय श्रोतव्य को सुनते हैं, तभी मन्तव्य को मनन भी करते हैं और उसी समय विज्ञातव्य को जान सकते हैं। (ऐसे ही मेरे पुत्र हैं, ये मेरे पशु हैं,) इस प्रकार स्मरण करने से ही पुरुष पुत्रों को जानता है और स्मरण से पशुओं को पहचानता है। इसलिये तू स्मरण की उपासना कर॥ १ ॥ "यह ब्रह्म है" इस प्रकार वह जो कोई पुरुष स्मरण की उपासना करता है, उसकी वहाँ तक स्वच्छन्द गति हो जाती है, जहाँ तक स्मरण की गति है। "यह ब्रह्म है" इस प्रकार जो कोई स्मरण की उपासना करता है। (नारद ने कहा)—भगवन्! क्या स्मरण से भी कोई वस्तु श्रेष्ठ है? सनत्कुमार ने कहा-हाँ स्मरण से भी श्रेष्ठ वस्तु अवश्य है। (नारद ने कहा) भगवन्! तब तो मुझे उसी का उपदेश करें॥ २॥

॥ इति त्रयोदशः खण्डः॥

अथ चतुर्दशः खण्डः

स्मरण से आशा की श्रेष्ठता

(अप्राप्तवस्तु की इच्छारूप) आशा ही स्मरण से श्रेष्ठ है। आशा से प्रदीप्त हुआ स्मरण करके ही ऋगादि मन्त्रों का पाठ करता है, फलाशा से ही कर्म करता है, एवं पुत्र और पशुओं को चाहता है तथा (आशा से समृद्ध हुआ ही वह पुरुष) इस लोक और परलोक की कामना करता है। अतः तू आशा की उपासना कर॥ १॥

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयाऽस्य सर्वे कामाः समृद्ध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ २॥ इति चतुर्दशः खण्डः॥ (१४)॥

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वꣳसमर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः॥ १॥

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किंचिद् भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति॥ २॥

"यह ब्रह्म है" इस प्रकार जो वह पुरुष आशा की उपासना करता है, उस उपासक की सब कामनाएँ आशा से समुन्नत हो जाती हैं। उसकी सब प्रार्थनाएँ सफल होती हैं। उस उपासक की वहाँ तक स्वच्छन्द गति होती है जहाँ तक आशा की गति है। "यह ब्रह्म है" इस प्रकार जो आशा की उपासना करता है। (नारद ने कहा) क्या आशा से भी कोई वस्तु श्रेष्ठ है? (सनत्कुमार से कहा) हाँ, आशा से भी बढ़कर कोई वस्तु है ही। (नारद ने कहा) तब तो भगवन्! मुझे उसी का उपदेश करें॥ २॥

॥ इति चतुर्दशः खण्डः॥

अथ पञ्चदशः खण्डः

आशा की अपेक्षा प्राण की श्रेष्ठता

आशा की अपेक्षा निःसन्देह प्राण श्रेष्ठ है। जैसे रथ के चक्के की नाभि में अरे लगे होते हैं, वैसे ही इस प्राण में सारा जगत् ओत-प्रोत हो रहा है। प्राण ही (अपनी शक्ति) प्राण के द्वारा गमन करता है, प्राण-प्राण को देता है और प्राण के लिये ही देता है। प्राण ही पिता है, प्राण ही माता है, प्राण भ्राता है, प्राण बहिन है, प्राण आचार्य है और प्राण ही ब्राह्मण है॥ १॥ यदि कोई पुरुष अपने पिता, माता, भ्राता, बहिन, आचार्य या ब्राह्मण के प्रति (त्वंकारादि उनके अनुरूप कोई) अनुचित बात कहता है, (उसके समीपवर्ती विचारशील लोग) उससे कहते हैं—तुझे धिक्कार है। निश्चय ही तू पिता का हत्यारा है, तू तो माता का हत्यारा है, तू तो भाई को मारने वाला है, तू तो बहिन की हत्या करने वाला है, तू तो आचार्य का घातक है तथा निश्चय ही तू ब्रह्मघाती है॥ २॥

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणान् शूलेन समासं व्यतिसंदहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहाऽसीति न मातृहाऽसीति न भ्रातृहाऽसीति न स्वसृहाऽसीति नाचार्यहाऽसीति न ब्राह्मणहाऽसीति॥ ३॥

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत॥ ४॥ इति पञ्चदशः खण्डः॥ (१५)॥

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥ इति षोडशः खण्डः॥ (१६)॥

किन्तु प्राण के निकल जाने पर उन्हीं पिता आदि को यदि वह शूल से एकत्रित और छिन्न-भिन्न करके जला देवें तो भी तू पितृहत्यारा है, तू मातृघाती है, तू भ्रातृहा है, तू बहिन को मारने वाला है, तू आचार्य का घातक अथवा तू ब्रह्मघाती है ऐसा कोई भी उससे कुछ नहीं कहते हैं॥ ३॥ (चराचर सम्पूर्ण जगत्) ये सब प्राण ही हैं, वह जो इस प्रकार चिन्तन करता हुआ और इस प्रकार जानता हुआ अतिवादी हो जाता है। उससे यदि कोई कहे कि तू तो अतिवादी है, तो उस उपासक को यही कहना चाहिये कि हाँ—मैं अतिवादी हूँ, उसे छिपाना नहीं चाहिये॥ ४॥

॥ इति पञ्चदशः खण्डः॥

अथ षोडशः खण्डः

सत्य ही ज्ञातव्य है

(सनत्कुमार ने कहा) परमार्थ सत्य आत्मा के विज्ञान से जो अतिवदन करता है वही वास्तव में अतिवादी होता है (नारद ने कहा) भगवन्! (आपका शरणापन्न हुआ) मैं तो परमार्थ सत्य वस्तु के विज्ञान से ही अतिवदन करता हूँ (सनत्कुमार ने कहा) तब तो सत्य की ही विशेष रूप से जिज्ञासा तुझे करनी चाहिये। (नारद ने कहा) भगवन्! मैं विशेष रूप से आपके द्वारा सत्य को ही जानना चाहता हूँ॥ १॥

॥ इति षोडशः खण्डः॥

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥ इति सप्तदशः खण्डः॥ (१७)॥

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति मतिं भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥ इत्यष्टादशः खण्डः॥ (१८)॥

अथ सप्तदशः खण्डः

विज्ञान ही ज्ञातव्य है

निश्चय ही जब पुरुष परमार्थ सत्य को विशेष रूप से जान लेता है तभी वह (मिथ्या विकार जात के भीतर विद्यमान) सत्य को कहता है। बिना जाने सत्य नहीं बोलता, किन्तु विशेष रूप से जानता हुआ ही सत्य का वर्णन करता है। अतः (सत्य की अपेक्षा भी श्रेष्ठ) विज्ञान की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये (नारद ने कहा) भगवन्! आपके द्वारा विज्ञान को मैं विशेष रूप से जानना चाहता हूँ, इस प्रकार सत्य से लेकर अग्रिम बाइसवें मन्त्र के "करोति" पर्यन्त उत्तरोत्तर पदार्थों का कारण समझना चाहिये॥ १॥

॥ इति सप्तदशः खण्डः॥

अथाष्टादशः खण्डः

मति ही जानने योग्य है

(सनत्कुमार ने कहा) जब पुरुष मनन करता है तभी वह विशेष रूप से जानता है। मनन किये बिना कोई भी किसी वस्तु को विशेष रूप से नहीं जानता किन्तु मनन करके ही जानता है। अतः मनन की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करो, (नारद ने कहा) भगवन्! मैं मति को ही विशेष रूप से जानना चाहता हूँ॥ १॥

॥ इत्यष्टादशः खण्डः॥

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥ इत्येकोनविंशः खण्डः॥ (१९)॥

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥ इति विंशः खण्डः॥ (२०)॥

अथैकोनविंशः खण्डः

श्रद्धा ही जानने योग्य है

(सनत्कुमार ने कहा) जब मनुष्य आस्तिक्य बुद्धिरूप श्रद्धा करता है, तभी वह मनन करता है। श्रद्धा किये बिना कोई भी किसी वस्तु का मनन नहीं करता किन्तु श्रद्धालु ही मनन करता है। अतः तुझे श्रद्धा को ही विशेष रूप से जानना चाहिये। (नारद ने कहा) भगवन्! तब तो मैं श्रद्धा को ही विशेष रूप से जानना चाहता हूँ॥ १॥

॥ इत्येकोनविंश खण्डः॥

अथ विंशः खण्डः

निष्ठा ही ज्ञातव्य है

(सनत्कुमार ने कहा) जब पुरुष में भी गुरु शुश्रूषादिरूप निष्ठा होती है तभी वह श्रद्धा करता है। निष्ठा के बिना कोई भी पुरुष किसी के प्रति श्रद्धा नहीं करता, किन्तु निष्ठावान् ही श्रद्धा करता है। अतः तू निष्ठा की ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करो। (नारद ने कहा) भगवन्! तब तो मैं आपके द्वारा निष्ठा को ही विशेष रूप से जानना चाहता हूँ॥ १॥

॥ इतिविंशः खण्डः॥

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति कृतिं भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥ इत्येकविंशः खण्डः॥(२१)॥

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सुखं भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥ इति द्वाविंशः खण्डः॥(२२)॥

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥ इति त्रयोविंशः खण्डः॥(२३)॥

अथैकविंशः खण्डः

कृति ही ज्ञातव्य है

(सनत्कुमार ने कहा) जिस समय पुरुष (इन्द्रिय संयम और चित्त की एकाग्रतारूप) कृति करता है, उस समय वह निष्ठा भी करने लग जाता है। बिना कुछ क़िये कहीं पर किसी की निष्ठा नहीं होती। कुछ करने पर ही मनुष्य निष्ठावान् होता है। अतः कृति की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करो (नारद ने कहा) भगवन्! मैं आपके द्वारा कृति को ही विशेष रूप से जानना चाहता हूँ॥ १॥

॥ इत्येकविंशः खण्डः॥

अथ द्वाविंशः खण्डः

सुख ही ज्ञातव्य है

(सनत्कुमार ने कहा) जिस समय मनुष्य को सुख मिलता है, उसी समय वह कुछ करता है। सुख मिले बिना कोई भी कुछ करता नहीं, किन्तु सुख मिलने पर ही करता है। अतः तुझे सुख की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये (नारद ने कहा) भगवन्! तब तो मैं सुख को ही विशेष रूप से जानना चाहिता हूँ॥ १॥

॥ इति द्वाविंशः खण्डः॥

अथ त्रयोविंशः खण्डः

भूमा ही ज्ञातव्य है

(सनत्कुमार ने कहा) निश्चय ही जो भूमा (महान्) है वही सुख रूप है। एवं अल्प में सुख नहीं है भूमा ही सुखरूप है। अतः तुझे भूमा की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये (नारद ने कहा) भगवन्! तब तो मैं आपके द्वारा भूमा को ही विशेष रूप से जानना चाहता हूँ॥ १॥

॥ इति त्रयोविंशः खण्डः॥

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यꣳ स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥ १ ॥

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥ इति चतुर्विंशः खण्डः ॥ (२४) ॥

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति ॥ १ ॥

अथ चतुर्विंशः खण्डः

भूमा के स्वरूप का वर्णन

(सनत्कुमार ने कहा) जिस समय भूमा तत्त्व में द्रष्टा किसी भी अन्य दृश्य को देखता नहीं, अन्य किसी को सुनता नहीं और न अन्य किसी को जानता है वह भूमा है, किन्तु जहाँ पर द्रष्टा अपने से भिन्न वस्तु को देखता है, अन्य को सुनता है एवं अन्य को जानता है वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य है (नारद ने कहा) भगवन्! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है? (सनत्कुमार ने कहा) भूमा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है। परमार्थ सत्य यह है कि भूमा किसी के आश्रित नहीं है ॥ १ ॥ इस लोक में गौ, अश्वादि को महिमा कहते हैं, हाथी, सोना, दास, भार्या, क्षेत्र और घर इन्हें भी महिमा कहते हैं (जिनके आश्रित चैत्र है)। किन्तु मैं ऐसा (भूमा के विषय में) नहीं कहता क्योंकि अन्य पदार्थ ही अन्य में प्रतिष्ठित होता है, मैं तो ऐसा कहता हूँ, ऐसा सनत्कुमार ने कहा ॥ २ ॥

॥ इति चतुर्विंशः खण्डः ॥

अथ पंचविंशः खण्डः

भूमा की सर्वव्यापकता

वह भूमा ही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दाहिनी ओर है, वही बायाँ है, (विशेष क्या कहें) वही यह सब कुछ है (उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, जिस पर वह प्रतिष्ठित होवे)। अब उसी में अहंकाररूप से उपदेश किया जाता है—मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दाहिनी ओर हूँ, मैं ही बाँयीं ओर हूँ और मैं ही यह सब कुछ हूँ (इस प्रकार द्रष्टा के साथ भूमा का अभेद बतलाया गया है) ॥ १ ॥

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति॥ २॥ इति पञ्चविंशः खण्डः॥ (२५)॥

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदꣳ सर्वमिति॥ १॥

अब आगे शुद्धरूप से ही भूमा का उपदेश किया जाता है। आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दाहिनी ओर है, आत्मा ही बाँयीं ओर है (विशेष.क्या कहें) यह सब कुछ आत्मा ही है, वही यह इस प्रकार देखता हुआ, इस प्रकार मनन करता हुआ तथा इस प्रकार विशेष रूप से जानता हुआ आत्मरमणरूप आभ्यन्तर क्रीड़ा, देह भिन्न पदार्थों के साथ बाह्य आत्मक्रीड़ा, मित्रादि के साथ आत्ममिथुन और आत्मानन्द वाला होता रहता है। वह स्वराट् है, सम्पूर्ण लोकों में (प्राणादि पूर्व भूमिकाओं में) उसी की स्वेच्छा गति होती है। पर जो इस प्रकार से नहीं जानते, वे अन्य शासकों के अधीन होने से अन्यराट् होते हैं और वे नश्वर लोकों को प्राप्त करते हैं। उनकी उक्त सम्पूर्ण लोकों में स्वेच्छागति नहीं होती॥ २॥

॥ इति पञ्चविंशः खण्डः॥

अथ षड्विंशः खण्डः

इस प्रकार जानने वाले के लिये फल का वर्णन

निश्चय ही उस इस प्रकार देखने वाले, इस प्रकार मनन करने वाले, इस प्रकार जानने वाले, इस प्राकृत विद्वान् के लिये आत्मा से प्राण, आत्मस्वरूप से आशा, आत्मरूप से स्मृति, आत्मरूप से आकाश, आत्मरूप से जल, आत्मरूप से आविर्भाव तथा तिरोभाव, आत्मरूप से अन्न, आत्मरूप से बल, आत्मरूप से ध्यान, आत्मरूप से मन, आत्मरूप से वाणी, आत्मरूप से नाम, आत्मरूप से मन्त्र, आत्मरूप से कर्म और आत्मरूप से ही यह सब कुछ हो जाता है॥ १॥

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताᳬं सर्वᳬं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विᳬशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तᳬं स्कन्द इत्याचक्षते तᳬं स्कन्द इत्याचक्षते॥ २॥ इति षड्विंशः खण्डः॥ (२६)॥ इति सप्तमः प्रपाठकः॥ ७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

ॐ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्त-राकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति॥ १॥

इस सम्बन्ध में यह मन्त्र है। तत्त्ववेत्ता न मृत्यु को देखता है, न रोग को न दुःखत्व को ही देखता है किन्तु वह विद्वान् सब को, (आत्मरूप से ही) देखता है। इसीलिये वह सब को प्राप्त हो जाता है, वह एक हो जाता है, वही तीन, पाँच, सात, नौ रूप हो जाता है, फिर वही ग्यारह रूप भी कहा गया है, वही सौ, दश, एक, सहस्र और बीस भी हो जाता है। शब्दादि विषयोपलब्धि रूप आहार की शुद्धि होने पर मन की शुद्धि होती है, मन की शुद्धि होने पर निश्चल स्मृति होती है तथा स्मृति की शुद्धि हो जाने पर सम्पूर्ण ग्रन्थियों का विमोक हो जाता है। इस प्रकार नष्ट हो गये वासना वाले उस तत्त्ववेत्ता नारद को भगवान् सनत्कुमार ने अज्ञानरूप अन्धकार से पार कर दिया। इसलिये उन सनत्कुमारों को (तत्त्व ज्ञानी लोग) ''स्कन्द'' ऐसा कहते हैं। ''स्कन्द'' ऐसा कहते हैं॥ २॥

॥ इति सप्तमाध्यायः, षड्विंशः खण्डः॥

अथाष्टमाध्याये प्रथमः खण्डः

दहर कमल में ब्रह्म की उपासना

अब इस शरीररूप ब्रह्मपुर के भीतर जो यह कमल के आकार का छोटा सा स्थान है, इसमें जो सूक्ष्म आकाश है, उस आकाश नामक तत्त्व के भीतर जो वस्तु है, उसका अन्वेषण करना चाहिये तथा उसी की विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये (गुरु के द्वारा श्रवणादि उपायों से उक्त तत्त्व का साक्षात्कार कराने में श्रुति का तात्पर्य है)॥ १॥

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्त-राकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात्॥ २॥

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ॥ ३॥

तं चेद्ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳ समाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरा वाप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ४॥

इस प्रकार उस उपदेशक आचार्य से शिष्य कहे कि इस परिच्छिन्न ब्रह्मपुर में जो सूक्ष्म कमलाकार गृह है, उसके अन्तर्वर्ती जो आकाश है उस अल्पतर आकाश में क्या वस्तु है जिसकी जिज्ञासा करनी चाहिये? (इस प्रकार शंका करने वाले शिष्यों से) वह आचार्य इस प्रकार कहे॥ २॥ जितना बड़ा यह भौतिक आकाश है, उतना ही परिमाण का हृदयान्तर्गत आकाश भी है। इस बुद्धि उपाधि से विशिष्ट ब्रह्माकाश के भीतर ही द्युलोक और पृथिवी ये दोनों भली प्रकार से स्थित हैं, ऐसे ही अग्नि और वायु ये दोनों भी सूर्य और चन्द्रमा ये दोनों तथा बिजली और नक्षत्र ये दोनों भी सम्यक् रूप से स्थित हैं। किंबहुना इस आत्मा का इस लोक में आत्मीयरूप से जो कुछ पदार्थ है और जो कुछ आत्मीयरूप से नहीं है (नष्ट हो गया या भविष्य में होगा नहीं) वह सब कुछ सम्यक् प्रकार से इसी हृदयाकाश में स्थित है॥ ३॥ यदि इस प्रकार कहने वाले उस आचार्य से शिष्यगण कहें—कि यदि इस ब्रह्मपुर उपलक्षित अन्तराकाश में ये सब सम्यक् प्रकार से स्थित हैं एवं सम्पूर्ण भूत और समस्त कामनाएँ भी समाहित हैं, तो जिस समय यह ब्रह्मपुर जीर्ण-शीर्ण अवस्था को प्राप्त होता है या नष्ट हो जाता है, उस समय (घट के नाश होने पर घट में स्थित दुग्ध नष्ट होने के समान इस ब्रह्मपुर में) क्या शेष रह जाता है?॥ ४॥

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्संकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषांसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति॥ ६ ॥ इति प्रथमः खण्डः ॥ (१)॥

(शिष्य के उक्त शून्यत्व की शंका की निवृत्ति के लिए)आचार्य को कहना चाहिये कि इस देह की जरावस्था से (यह अन्तराकाश संज्ञक ब्रह्म) जीर्ण नहीं होता, शस्त्रादि के प्रहार से इस देह के वध कर देने पर भी उसका नाश नहीं होता। यह ब्रह्म रूप ब्रह्मपुर सत्य है, इसमें सभी कामनाएँ समाहित हैं। यह आत्मा धर्माधर्म से शून्य, जरावस्था से रहित, मृत्यु हीन, शोक रहित, क्षुधा से रहित, पिपासा शून्य, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है (संसारियों की तरह असत्य कामना और असत्य संकल्प वाला नहीं)। जैसे इस लोक में प्रजा स्वामी की आज्ञा का अनुवर्तन करती है सो वह जिस-जिस सन्निहित वस्तु को चाहती है और जिस-जिस देश या भूमि खण्ड को चाहती है, उसी-उसी को प्राप्त कर जीवन धारण करती है॥ ५॥

कर्मफल की अनित्यता

जैसे इस लोक में सेवादि कर्म से प्राप्त किया हुआ लोक क्षीण हो जाता है, वैसे ही अग्निहोत्रादि पुण्यकर्म से प्राप्त हुआ परलोक में पदार्थ काल पाकर नष्ट हो जाता है। जो लोग इस कर्माधिकारी मनुष्यलोक में आत्मा को और इस (सत्यसंकल्प से प्राप्त होने वाले अन्तःकरण में स्थित) सत्य कामनाओं को न जानकर परलोक गामी होते हैं, सम्पूर्ण लोकों में उन अनात्मवेत्ताओं की यथेच्छ गति नहीं होती और जो इस लोक में आत्मा को तथा सत्यकामनाओं को जानकर परलोक गामी होते हैं, उनकी सभी लोकों में यथेच्छ गति होती है॥ ६ ॥

॥ इति प्रथमः खण्डः॥

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते॥ १॥

अथ यदि मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन संपन्नो महीयते॥ २॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन संपन्नो महीयते॥ ३॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन संपन्नो महीयते॥ ४॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन संपन्नो महीयते॥ ५॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते॥ ६॥

अथ द्वितीयः खण्डः

दहर ब्रह्म की उपासना का फल

(मरने के बाद) यदि वह पितृलोक को चाहता है, तो उसके संकल्प से ही पितृगण वहाँ पर उपस्थित हो जाते हैं, वह उपासक उस पितृलोक से सम्पन्न हो महनीय हो जाता है अर्थात् अपनी महिमा का अनुभव करता है॥ १॥ और यदि वह मातृलोक की कामना वाला होता है तो उसके संकल्प से माताएँ वहाँ उपस्थित हो जाती हैं। उस मातृलोक से सम्पन्न हो वह पुरुष महिमान्वित होता है॥ २॥ भ्रातृलोक की कामना करता है, तो उसके संकल्प से भ्रातृगण उपस्थित हो जाते हैं। वह उस भ्रातृलोक से सम्पन्न हो महिमान्वित होता है॥ ३॥ और यदि वह भगिनीलोक की कामना करता है, तो उसके संकल्प से ही बहिनें वहाँ उपस्थित हो जाती हैं, उस स्वसृलोक से सम्पन्न हो वह महिमान्वित होता है ॥ ४॥ एवं यदि वह मित्रों के लोक की कामना वाला होता है तो उसके संकल्प से ही मित्र सब उस लोक में उपस्थित हो जाते हैं। उस मित्रों के लोक से समृद्ध हो वह महिमान्वित होता है॥ ५॥ और यदि वह गन्धमाल्यलोक की कामना वाला होता है तो उस के संकल्प से ही गन्धमाल्य वहाँ पर उपस्थित हो जाते हैं। उस गन्धमाल्य लोक से युक्त हो वह पुरुष महिमा को प्राप्त होता है॥ ६॥

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन संपन्नो महीयते॥ ७॥

अथ यदि गीतवादितलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादिते समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादितलोकेन संपन्नो महीयते॥ ८॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते॥ ९॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते॥ १०॥ इति द्वितीयः खण्डः॥ (२)॥

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाꣳ सत्यानाꣳ सतामनृत-मपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते॥ १॥

और यदि वह अन्नपान सम्बन्धी लोक को चाहता है, तो उसके संकल्प से ही अन्नपान उसके पास उपस्थित हो जाते हैं। उस अन्नपान लोक से संपन्न हो वह महिमान्वित होता है॥ ७॥ और यदि वह गीतवाद्य सम्बन्धी लोक को चाहता है, तो उसके संकल्प से ही गीतवाद्य वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उस गीतवाद्य से सम्पन्न हो वह पुरुष महिमान्वित होता है॥ ८॥ एवं यदि वह स्त्रीलोक की कामना वाला होता है तो उसके संकल्प मात्र से स्त्रियाँ वहाँ उपस्थित हो जाती हैं। उस स्त्रीलोक से युक्त हो वह पुरुष महिमा को प्राप्त होता है॥ ९॥ वह जिस-जिस प्रदेश की कामना वाला होता है और जिस-जिस भोग को चाहता है, वह सब उसके संकल्प से ही वहाँ पर उपस्थित हो जाते हैं। उससे संपन्न हो वह पुरुष महिमा को प्राप्त हो जाता है॥ १०॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः॥

अथ तृतीयः खण्डः

असत् से ढके हुए सत् की और नामाक्षर की उपासना

ये आत्मस्थ विद्यमान् भोग, वे ये सत्यकाम (स्त्री, अन्न, भोजन और बाह्य विषयों की कामनारूप) मिथ्या आच्छादन वाले हैं। सत्य होने पर भी उनका मिथ्यारूप अपिधान आच्छादन करने वाला है, क्योंकि इस जीव का जो-जो (पुत्र, भ्रातृ, इष्ट मित्रादि सम्बन्धी) यहाँ से मरकर जाता है, वह यह उसे पुनः देखने को भी यहाँ पर नहीं मिलता है॥ १॥

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः॥ २॥

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति॥ ३॥

अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति॥ ४॥

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति॥ ५॥ इति तृतीयः खण्डः॥ (३)॥

और इस लोक में अपने जिन जीवित या जिन मरे हुये पुत्रादि को एवं जिन अन्य पदार्थों को चाहता हुआ भी यह प्राप्त नहीं कर पाता। उन सबको यह पुरुष इस हृदयाकाश में स्थित ब्रह्म में जाकर प्राप्त कर लेता है, क्योंकि यहाँ पर हृदयाकाश में इसके ये सत्यकाम मिथ्यारूप आच्छादन से आच्छादित रहते हैं। इस सम्बन्ध में यह दृष्टान्त है—जैसे पृथिवी में गड़े हुये सोने के खजाने को उस स्थान से अनभिज्ञ पुरुष ऊपर-ऊपर घूमते हुये भी उसे जानते नहीं। ऐसे ही यह सम्पूर्ण प्रजा प्रतिदिन ब्रह्मलोक को जाते हुये भी उसे नहीं जान पाते, क्योंकि यह ब्रह्मलोक पूर्वोक्त अनृत अविद्यादि आच्छादन के द्वारा हर ली गयी है॥ २॥ निश्चय ही वह यह आत्मा हृदय में है 'हृदि अयम्' (हृदय में यह आत्मा है) यही इसकी व्युत्पत्ति है, इसी से यह 'हृदय' ऐसा कहा गया है। इस प्रकार जानने वाला पुरुष स्वर्गलोक को प्राप्त होता है अर्थात् देहपात होने पर भी विद्या का फल सुनिश्चित है॥ ३॥ यह जो (सुषुप्ति अवस्थारूप) संप्रसाद है, यही (इस संप्रसाद से उपलक्षित आत्मा) इस शरीर से आत्मबुद्धि का परित्याग कर परम ज्योति को प्राप्त हो निजरूप से अभिसम्पन्न हो जाता है। यह आत्मा है, यही अमृत एवं अभय है और यही ब्रह्म है। ऐसा गुरु ने कहा, उस ही इस ब्रह्म का 'सत्य' ऐसा नाम है॥ ४॥ वे ये 'स' 'ती' तथा 'यम्' अर्थात् सकार, तकार और यम् ऐसे तीन अक्षर हैं (यहाँ पर तकार उत्तरवर्ती ईकार उच्चारण मात्रा के लिये है, क्योंकि पहले ह्रस्व इकार से ही सम्बोधित किया गया है) उनमें जो सकार है वह अमृत है, जो तकार है, वह मर्त्य है और जो यम् है, उससे वह पुरुष दोनों का नियमन करता है, क्योंकि इसी से वह पुरुष उन दोनों का नियमन करता है। इसीलिये 'यम्' इस प्रकार जानने वाला पुरुष प्रतिदिन स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेता है॥ ५॥

॥ इति तृतीयः खण्डः॥

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय नैतꣳ सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतꣳ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः॥ १ ॥

तस्माद्वा एतꣳ सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा एतꣳ सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः॥ २ ॥

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति॥ ३ ॥ इति चतुर्थः खण्डः॥ (४)॥

अथ चतुर्थः खण्डः

सेतु स्वरूप आत्मोपासना का फल

(उक्त लक्षण वाला संप्रसाद स्वरूप) जो आत्मा है, वह इन लोकों को विशेष रूप से सेतु के सदृश धारण करने वाला है, जिससे कि इनका परस्पर संघर्ष न हो जाय। इस सेतुरूप आत्मा को दिन-रात प्राप्त नहीं करते (क्योंकि यह काल से परिच्छिन्न नहीं है) इसे न जरा, न मृत्यु न शोक और न पुण्य तथा पाप ही प्राप्त होते हैं। प्रत्युत सम्पूर्ण पाप इससे निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि यह ब्रह्मलोक स्वरूप है तथा पाप शून्य है॥ १ ॥ इसलिये सेतुरूप इस आत्मा को पारकर जाने पर (अज्ञानावस्था में पुरुष) अंधा होने पर भी ज्ञानोत्तर काल में अन्धा नहीं होता वैसे ही विद्ध होने पर भी अविद्ध हो जाता है। उपतापी होने पर भी रोगादि उपताप से रहित हो जाता है। इसलिये इस सेतु को प्राप्त कर तमोरूपा रात्रि भी दिन हो जाती है, क्योंकि यह ब्रह्मलोक स्वभाव से सदा प्रकाश स्वरूप है॥ २ ॥ ऐसा होने के कारण जो इस पूर्वोक्त ब्रह्मलोक को अष्ट मैथुन त्यागरूप ब्रह्मचर्य के द्वारा शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश के अनन्तर जानते हैं ऐसे उपासक को ही यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। तत्पश्चात् उनकी सम्पूर्ण लोकों में स्वेच्छागति हो जाती है॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थः खण्डः॥

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते॥ १॥

अथ यत्सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते॥ २॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके, तृतीयस्यामितो दिवि तदैरं मदीयः सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितः हिरणमयम् ॥ ३॥

अथ पंचमः खण्डः

यज्ञादि में ब्रह्मचर्य दृष्टि

अब लोक में (परम पुरुषार्थ का साधन होने के कारण) जिसे यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि जो ज्ञानवान् हैं वे ब्रह्मचर्य से ही उस आत्मरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं और जिसे "इष्ट" ऐसा कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि ब्रह्मचर्यरूप साधन से ही पूजन या आत्मविषय एषण कर उस आत्मा को शास्त्र एवं आचार्य के उपदेशानुसार साक्षात् जान लेता है॥ १॥ तथा जिसे "सत्त्रायण" ऐसे कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि पूर्वोक्त (यज्ञ और इष्ट के समान) ब्रह्मचर्यरूप साधन से ही सत्स्वरूप परमात्मा द्वारा अपनी रक्षा कराता है (अतः सत्त्रायण नामवाला भी ब्रह्मचर्य ही है) और जिसे "मौन" ऐसा कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्यरूप साधन से ही साधक आत्मा को जान करके ध्यान करता है (अतः मौन नाम वाला भी ब्रह्मचर्य ही है)॥ २॥ जिसे "अनाशकायन" (अविनाशी) कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि जिस आत्मा को ब्रह्मचर्य से प्राप्त करता है। वह यह आत्मा नष्ट नहीं होता और जिसे "अरण्यान" ऐसा कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि इस ब्रह्मलोक में ब्रह्मचारी पुरुष 'अर' और 'ण्य' नाम वाले दो समुद्रों को प्राप्त करता है। यहाँ से तीसरे द्युलोक में ऐरंमदीय (हर्षोत्पादक) सरोवर है वहाँ पर सोम सवन नामवाला अश्वत्थ वृक्ष है, वहाँ हिरण्यगर्भ की अपराजित नामवाली पुरी है तथा ब्रह्मारूप प्रभु के द्वारा विशेष रूप से निर्मित स्वर्णमय मण्डप है॥ ३॥

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति॥ ४॥ इति पञ्चमः खण्डः॥ (५)॥

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः॥ १॥

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः॥ २॥

उस ब्रह्मलोक में ये 'अर' और 'ण्य' नामवाले दो समुद्र कहे गये हैं, जो ब्रह्मचर्य द्वारा 'अर' और 'ण्य' नामवाले उन दोनों समुद्रों को प्राप्त करते हैं उन्हीं को वह ब्रह्मलोक मिलता है। उनकी सम्पूर्ण लोकों में स्वेच्छा गति हो जाती है ॥ ४॥

॥ इति पञ्चमः खण्डः॥

अथ षष्ठः खण्डः

हृदयस्थ नाड़ी तथा आदित्य रश्मि की उपासना

इसके बाद (व्यष्टि समष्टि की अभिन्नता बतलाते हुये ब्रह्म उपासना कहते हैं) ये जो हृदय की नाड़ियाँ हैं, वे पिंगलवर्ण तथा सूक्ष्म रस की हैं। इसी प्रकार वे नाड़ियाँ शुक्ल, नील, पीत और लोहित रस से भी पूर्ण हैं, क्योंकि यह आदित्य पिंगलवर्ण वाला है, यह शुक्ल है, यह नील है, यह पीत है और यह लाल वर्ण है (आदित्य से सम्बद्ध होने के कारण ये नाड़ियाँ भी वैसे ही वर्ण विशेष वाली हो जाती हैं)॥ १॥ उस विषय में यह दृष्टान्त समझना चाहिये, जैसे लोक में कोई विस्तीर्ण मार्ग इस समीपस्थ और उस दूरस्थ दोनों ग्रामों को जाता है। वैसे ही ये आदित्य किरणें इस पुरुष में और उस आदित्य मण्डल में दोनों ही लोक में जाती हैं। वे निरंतर इस आदित्य से ही निकलती हैं और इन शरीरस्थ नाड़ियों में व्याप्त हो जाती हैं। ऐसे ही जो इन नाड़ियों से निकलकर फैलती हैं, वे इस आदित्य मण्डल में प्रवेश करती हैं॥ २॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा संपन्नो भवति ॥ ३ ॥

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥ ४ ॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद्वा मीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५ ॥

तदेष श्लोकः। शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङ्न्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥ ६ ॥ इति षष्ठः खण्डः ॥ (६)॥

ऐसा होने से जिस समय यह जीव सर्वथा सोया हुआ संप्रसन्न (सम्यक् प्रकार से प्रसन्न) हो स्वप्न नहीं देखता, उस समय (सूर्य के तेज से पूर्ण हो) इन पूर्वोक्त नाड़ियों में प्रविष्ट हो जाता है, तब इस जीव को कोई पाप स्पर्श नहीं करता, क्योंकि उस समय यह जीव आदित्य तेज से व्याप्त हो जाता है॥ ३ ॥ और जिस समय यह जीव (रोगादि तथा जरादि के कारण) देह की दुर्बलता को प्राप्त होता है उस समय उसके चारों ओर बैठे हुये सगे सम्बन्धी कहते हैं क्या तुम मुझ अपने पुत्र को जानते हो? क्या तुम मुझ अपने पिता को पहचानते हो? वह मुमुर्षु जीव जब तक इस शरीर से निकलकर बाहर नहीं जाता तब तक उन्हें पहचानता रहता है॥ ४ ॥ फिर जब यह इस शरीर से निकल जाता है तब वह उन्हीं आदित्य रश्मियों से ऊपर की ओर जाता है। वह 'ओं' ऐसा स्मरण कर ऊर्ध्वलोक अथवा अधोलोक को जाता है। जितनी देर में यह मन जाता है, उतनी ही देर में वह उपासक आदित्य लोक में पहुँच जाता है। निःसन्देह आदित्य ही लोकद्वार है, यह ब्रह्मोपासकों के लिये ब्रह्मलोक प्राप्ति का प्रशस्त द्वार है और अज्ञानियों के लिये यह निरोध स्थान है॥ ५ ॥ इस विषय में यह मन्त्र है। माँस के पिण्डरूप हृदय से सम्बन्धित एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें से एक नाड़ी ऊपर की ओर जाने वाली है, जीव उसके द्वारा जाकर अमृतत्व को प्राप्त करता है और इधर-उधर जाने वाली अन्य नाड़ियाँ केवल उत्क्रमण का कारण मात्र हैं अर्थात् उनके द्वारा निकलने पर जीव फिर से जन्म धारण कर लेता है॥ ६ ॥

॥ इति षष्ठः खण्डः॥

य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच॥ १ ॥

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः॥ २ ॥

अथ सप्तमः खण्डः

आत्मतत्त्व की जिज्ञासा से इन्द्र और विरोचन का प्रजापति के पास जाना

जो आत्मा धर्माधर्मादिरूप पाप से रहित, बुढ़ापा से रहित, मृत्यु से रहित, शोक रहित, भूख, प्यास से रहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प है। उसकी (शास्त्र और आचार्य के उपदेशों से) खोजकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, वह विशेष रूप से जानने योग्य है। जो उस आत्मतत्त्व को शास्त्र एवं गुरु के उपदेश के द्वारा खोजकर विशेष रूप से जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोकों को और सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है, ऐसी घोषणा प्रजापति ने की॥ १ ॥ प्रजापति के इस वाक्य को देव और असुर दोनों ही ने कर्ण परम्परा से जाना। दोनों ही ने (अपनी-अपनी सभा में विद्यमान सदस्यों से) कहा—यदि आप लोगों की अनुमति हो तो हम उस आत्मा को जानना चाहते हैं, जिसे जान लेने पर जीव सम्पूर्ण लोकों और सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है। ऐसा निश्चय कर देवताओं का राजा इन्द्र और असुरों का राजा विरोचन (अपनी सम्पूर्ण भोग सामग्री आत्मीयजनों को सौंपकर शरीर मात्र से) ये दोनों मित्रता न हुए ही परस्पर प्रतिस्पर्धा (ईर्ष्या) करते हुये ही दोनों हाथों में समिधाओं का भार लेकर प्रजापति के पास गये ॥ २ ॥

तौ ह द्वात्रिꣳशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्तावववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्य स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नेति सर्वाꣳश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्तावववास्तमिति॥ ३॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत इति होवाच॥ ४॥ इति सप्तमः खण्डः॥ (७)॥

वहाँ जाकर उन दोनों ने ही बत्तीस वर्ष तक आचार्य शुश्रूषा एवं ब्रह्मचर्य पूर्वक वास किया (तत्पश्चात् उनके अभिप्राय को समझने वाले) प्रजापति ने उनसे कहा—तुम लोग किस चीज की इच्छा करते हुये यहाँ पर रह रहे हो। उन्होंने कहा—(किसी समय आपने घोषणा की थी) जो आत्मा पाप रहित, बुढ़ापा रहित, मृत्यु से हीन, शोक से रहित, क्षुधा से रहित, प्यास से रहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प है। उसका अन्वेषण करना चाहिये, उसकी विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये, क्योंकि जो उस आत्मतत्त्व की खोजकर उसे विशेष रूप से जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोकों तथा संपूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है। ऐसा आपके वाक्य को शिष्ट पुरुष परम्परा से बतलाते हैं। (यद्यपि यहाँ आने से पूर्व हम दोनों विद्वेष करते थे, किन्तु सम्प्रति उस परस्पर ईर्ष्या का त्याग कर ही हमने) उसी को जानने की इच्छा से यहाँ पर ब्रह्मचर्य पूर्वक वास किया है॥ ३॥ प्रजापति ने (विशुद्धान्तःकरण समझ कर) उनसे कहा—"यह जो पुरुष नेत्र में दीखता है यह आत्मा है, यह अमर है, यह अभय है, यह ब्रह्म है"। (प्रजापति के इस वाक्य से दोनों ही ने नेत्रस्थ छाया को ही आत्मा समझ कर कहा) हे भगवन्! यह जो पुरुष जल में सभी ओर से दिखाई पड़ता है और जो दर्पण में पुरुष दीखता है, उनमें से आत्मा कौन है? इस पर प्रजापति ने कहा—मैंने जिस नेत्रस्थ पुरुष-को बतलाया है वही इन सबमें प्रतीत होता है॥ ४॥

॥ इति सप्तमः खण्डः॥

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति॥ १ ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति॥ २॥

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥ ३ ॥

अथाष्टमः खण्डः

जलपूर्ण सकोरे में आत्मप्रतिबिम्ब का दर्शन

(प्रजापति ने कहा कि) जल से भरे हुये सकोरे में अपने को देख कर आत्मा के विषय में जो तुम लोग न समझ सको, वह मुझसे बतलाना। ऐसा सुनकर दोनों ही ने जल से भरे सकोरे में देखा, तत्पश्चात् प्रजापति ने कहा—तुम लोग क्या देखते हो? दोनों ही ने कहा हे भगवन्! हम अपने आपको नख से लेकर लोम पर्यन्त जैसे के तैसे प्रतिबिम्ब को देखते हैं॥ १॥ फिर दोनों से प्रजापति ने (छायात्मा में आत्मत्व निश्चय निवृत्ति के लिये) कहा—तुम दोनों अच्छी प्रकार से अलंकार से युक्त हो, सुन्दर वस्त्र धारण कर और लोम नखादि को कटवा कर परिष्कृत हो जल से पूर्ण सकोरे में देखो। तब उन्होंने भली प्रकार अलंकार से युक्त हो सुन्दर वस्त्र धारण कर, परिष्कृत होकर जलपूर्ण सकोरे में देखा (किसी प्रकार इनकी छाया में आत्मत्व निश्चय निवृत्त हो जावे इसी अभिप्राय से) प्रजापति ने पुनः उनसे पूछा—तुम लोग क्या देखते हो?॥ २॥ इन्द्र और विरोचन दोनों ने कहा—हे भगवन्! जैसे हम दोनों उत्तम अलंकार से युक्त सुन्दर वस्त्र धारण किये हुये और परिष्कृत हैं, हे भगवन्! (वैसे ही जलपूर्ण सकोरे के भीतर दीखने वाले) ये दोनों भी उत्तम अलंकार से युक्त, सुन्दर वस्त्र धारण किये हुये और परिष्कृत हैं। तब प्रजापति ने (अपने मन में अभिमत आत्मा का ही निश्चय कर पहले की तरह) कहा—यह आत्मा है, यह अमृत है, अभय है तथा यही ब्रह्म है। तत्पश्चात् वे दोनों शान्तचित्त हो चले गये, (दीर्घ काल ब्रह्मचर्य वास से, नेत्रस्थ पुरुष का उपदेश श्रुति से तथा उदशरावादि की युक्ति से ये दोनों संस्कार युक्त हो चुके हैं। अब मेरे उपदेश का बारम्बार मनन कर इन्हें स्वयं ही आत्मबोध हो जायगा, ऐसा समझकर प्रजापति ने अपने को कृतार्थ मानकर जाते हुये उन दोनों की उपेक्षा कर दी।)॥ ३॥

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वाऽसुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति॥ ४॥

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणाᳫं ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति सᳫंस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते॥ ५॥ इत्यष्टमः खण्डः॥ (८)॥

प्रजापति ने दूर गये उन दोनों को देखकर यह वाक्य इसलिये कहा—(जिसमें पूर्व उपदेश की भाँति यह निम्नाङ्कित वाक्य भी उनके कानो में पड़ जायगा) ये दोनों आत्मा को उपलब्ध न करके ही, उसे जाने बिना ही (विपरीत निश्चय वाले होकर) जा रहे हैं। देवता हों या असुर हों, जो भी कोई व्यक्ति ऐसे निश्चय वाले होंगे, वे निश्चय हारेंगे। वह विरोचन शान्त हृदय से असुरों के पास गया और उनसे देहात्म बुद्धिरूप यह आत्मविद्या सुनायी। अतः इस लोक में देहयुक्त आत्मा ही पूजनीय है और आत्मा ही सेवनीय है। इस देहरूप आत्मा की पूजा और परिचर्या करने वाला पुरुष इस लोक और परलोक दोनों लोकों को प्राप्त कर लेता है अर्थात् लोक परलोक में सम्पूर्ण भोग उसे प्राप्त हो जाते हैं॥ ४॥ (उन असुरों का सम्प्रदाय इस समय भी विद्यमान है। अतः) इस लोक में जो दान न देने वाला, श्रद्धा न करने वाला और यथा शक्ति यजन न करने वाला पुरुष होता है, उसे शिष्ट पुरुष कहते हैं कि अरे! यह तो आसुरी स्वभाव वाला है। इस प्रकार की आत्मविद्या असुरों की ही है, वे ही मृतक पुरुष के शव को गंध, पुष्पादि, भिक्षा, वस्त्र और अलंकार से सजाते हैं और इसके द्वारा हम परलोक प्राप्त करेंगे, ऐसा भी मानते हैं॥ ५॥

॥ इत्यष्टमः खण्डः॥

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति॥ १॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽधो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति॥ २॥

अथ नवमः खण्डः

प्रजापति के पास फिर से इन्द्र का आना

पर इन्द्र ने देवताओं के पास बिना पहुँचे ही इसमें भय का अनुभव किया। जैसे इस शरीर के भली प्रकार अलंकृत होने पर यह छायारूप आत्मा भी भली प्रकार अलंकृत हो जाता है। सुन्दर वस्त्र धारण करने पर छायात्मा सुन्दर वस्त्र धारी और (नख लोमादि को निवृत्त कर) परिष्कृत होने पर छायात्मा भी परिष्कृत हो जाती है। ठीक ऐसे ही इस शरीर के अन्धे होने पर छायात्मा अंधा हो जाता है, (चक्षुनासिकादि के बहनारूप) स्राम होने पर छायात्मा स्राम हो जाता है और हाथ पैर के कट जाने पर छायात्मा खण्डित हो जाता है तथा इस देह के नाश हो जाने पर यह छायात्मा भी नष्ट हो जाता है। इस देहात्म दर्शन में मैं कोई फल नहीं देखता॥ १॥ (इस प्रकार देहात्म दर्शन में दोष निश्चय कर) वह समित्पाणि होकर पुनः प्रजापति के पास आया। प्रजापति ने इन्द्र से कहा—हे इन्द्र! तू तो विरोचन के साथ शान्त हृदय होकर चला गया था, अब क्या चाहता हुआ पुनः आया है? इन्द्र ने कहा—हे भगवन्! जैसे इस शरीर के भली प्रकार अलंकार युक्त होने पर यह छायात्मा भली प्रकार अलंकृत होता है, सुन्दर वस्त्र धारण करने पर सुन्दर वस्त्रधारी हो जाता है और परिष्कृत होने पर परिष्कृत, स्राम होने पर स्राम और खण्डित होने पर खण्डित भी हो जाता है, एवं इस शरीर के नाश होने पर यह छायात्मा भी नष्ट हो जाता है। अतः मैं इसमें कोई फल नहीं देखता ॥ २॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच॥ ३॥ इति नवमः खण्डः॥ (९)॥

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यपीदꣳ शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति॥ १॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २॥

हे इन्द्र! तू ने ठीक ही समझा है यह बात ऐसी ही है, ऐसा प्रजापति ने कहा, मैं तुझ से इसकी पुनः व्याख्या करूँगा अब तुम बत्तीस वर्ष पुनः यहाँ पर निवास करो। इन्द्र ने पुनः वहाँ पर बत्तीस वर्ष निवास किया तब प्रजापति ने उस इन्द्र से कहा॥ ३॥

॥ इति नवमः खण्डः॥

अथ दशमः खण्डः

इन्द्र को स्वप्न पुरुष का उपदेश

"जो यह स्वप्न में (स्त्री आदि से) पूजित हुआ विचरता है यही आत्मा है" ऐसा प्रजापति ने कहा। यह अमर है, यह अभय है और यही ब्रह्म है, ऐसा सुनकर वह इन्द्र शान्त चित्त हो चला गया। पर देवताओं के पास बिना पहुँचे ही उसने इस आत्मा में यह भय देखा। यद्यपि यह शरीर अन्धा होता हैं तो भी वह (स्वप्न पुरुष) अन्धा नहीं होता, यदि यह स्राम होता है, तो भी वह स्राम नहीं होता। इस प्रकार शरीर के दोष से यह स्वप्न शरीर दूषित नहीं होता॥ १॥ इस देह के वध से यह स्वप्नदेह नष्ट नहीं होता और न इसके स्राम भाव से यह स्राम ही होता है फिर भी इसे मानो कोई मारता हो, कोई विद्रावित (ताड़ित) करता हो, मानो अपने किसी अप्रिय वस्तु को जानता हो और प्रिय के वियोग में खेद सा करता हो ऐसा प्रतीत होता है। अतः ऐसे आत्म दर्शन में मैं कोई फल नहीं देखता॥ २॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ ३ ॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाणीति स हाऽपराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच॥ ४॥ इति दशमः खण्डः॥ (१०)॥

अतः वह समित्पाणि होकर पुनः प्रजापति के पास आया। प्रजापति ने उससे कहा—हे इन्द्र! तू तो शान्त हृदय हो चला गया था अब किस चीज की इच्छा से आये हो। इन्द्र ने कहा—भगवन्! यद्यपि यह शरीर अन्धा होता है तथापि वह स्वप्न शरीर अन्धा नहीं होता है और यह स्राम होता है तो भी वह स्राम नहीं होता। इस प्रकार वह स्वप्नदेह इस देह के दोष से दूषित नहीं होता है ॥ ३ ॥ न इस देह के वध से उसका वध होता है और न इसकी स्रामता से वह स्राम होता है फिर भी मानो उसे कोई मारता हो कोई ताड़ित करता हो, इसीलिये वह मानो अपने अनिष्ट का अनुभव करता हो और रोता हो। ऐसे अनुभव के कारण इस स्वप्न देहात्म ज्ञान में मैं कोई फल नहीं देखता। तब प्रजापति ने कहा—हे इन्द्र! यह बात ऐसी ही है, मैं तुझ से इस आत्मतत्त्व को पुनः बतलाऊँगा। अतः तू बत्तीस वर्ष फिर ब्रह्मचर्य वास कर। इन्द्र ने वहाँ पर प्रजापति के सन्निधान में पुनः बत्तीस वर्ष (गुरुशुश्रूषा तथा ब्रह्मचर्य पूर्वक) वास किया तब उस इन्द्र से प्रजापति ने कहा॥ ४॥

॥ इति दशमः खण्डः॥

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श नाह खल्वयमेवꣳ संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि, विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति॥ १॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच नाह खल्वयं भगव एवꣳ संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि, विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति॥ २॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्च वर्षाणीति स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशतꣳ संपेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतꣳ ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच॥ ३॥ इत्येकादशः खण्डः॥ (११)॥

अथैकादशः खण्डः

इन्द्र के प्रति सुषुप्त पुरुष का उपदेश

जिस अवस्था में यह सोया हुआ पुरुष दर्शन वृत्ति से रहित और अत्यन्त आनन्दित होकर स्वप्न को नहीं जानता, वही आत्मा है यह अमृत है, यह अभय है और यही ब्रह्म है, ऐसा प्रजापति ने कहा। इसे सुनकर शान्त हृदय हो इन्द्र चला गया, पर देवताओं के पास पहुँचे बिना ही उसने यह भय देखा, यह सुषुप्ति अवस्था में पुरुष निश्चय ही अपने को नहीं जानता कि "यह मैं हूँ" और न यह इन अन्य भूतों को ही जानता है (जैसा कि यह जाग्रत् और स्वप्न में जानता था) अतः उस समय तो मानो यह विनाश को प्राप्त हो जाता है। अतएव इसमें भी मैं इष्ट फल को नहीं देखता हूँ॥ १॥ वह इन्द्र पुनः समित्पाणि होकर प्रजापति के पास आया, प्रजापति ने उससे कहा। हे इन्द्र! तू तो शान्त हृदय हो चला गया था, अब किस वस्तु को चाहता हुआ आया है। इन्द्र ने कहा—हे भगवन्! निश्चय ही मैं इस अवस्था में अपने को नहीं जानता, कि "मैं यही हूँ" और न यह इन अन्य भूतों को ही जानता हूँ, उस समय तो यह विनाश को प्राप्त हुआ-सा हो जाता है। अतः इसमें भी मैं इष्ट फल देखता नहीं॥ २॥ हे इन्द्र! यह बात ऐसी ही है ऐसा प्रजापति ने कहा—मैं इसकी व्याख्या पुनः तुम्हारे प्रति करूँगा। आत्मा इससे भिन्न नहीं है (किन्तु कुछ दोष अभी शेष रह गये हैं), उसकी निवृत्ति के लिये अभी पाँच वर्ष पुनः ब्रह्मचर्य वास करो। इन्द्र ने फिर से पाँच वर्ष वहाँ निवास किया, वे सब मिलाकर एक सौ एक वर्ष हो गये। इसी से लोक में शिष्ट जन ऐसा कहते हैं कि इन्द्र ने प्रजापति के पास ब्रह्मचर्य वास किया (तब कहीं जाकर देवराज इन्द्र को आत्मज्ञान हुआ) तदनन्तर इन्द्र से प्रजापति ने कहा॥ ३॥

॥ इत्येकादशः खण्डः॥

मघवन्मर्त्यं वा इदꣳ शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥ १॥

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन स्वेन रूपेणभिनिष्पद्यन्ते॥ २॥

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमःपुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳ स्मरन्निदꣳ शरीरꣳ स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः॥ ३॥

अथ द्वादशः खण्डः

मरणधर्मा देहादि का उपदेश

हे इन्द्र! यह शरीर निश्चय ही मरणशील है, क्योंकि यह मृत्यु से सर्वदा ही ग्रस्त है। यह तो इस प्रकार अमर अशरीरी आत्मा का उपलब्धि स्थान है, सशरीर आत्मा निश्चय ही प्रिय और अप्रिय से ग्रस्त रहता है। अतः सशरीर रहते हुए के इष्टानिष्ट का नाश सर्वथा हो नहीं सकता, इसके विपरीत अशरीर होने पर प्रिय और अप्रिय इसे स्पर्श नहीं करते (अतः आत्मा में अशरीरता स्वाभाविक है और सशरीरता प्रतीति औपाधिक है)॥ १॥ (हस्तपादादि अवयव के न रहने से) वायु अशरीर है, बादल, बिजली और मेघ ध्वनि ये सभी अशरीर हैं (फिर भी वर्षादि प्रयोजन के लिये) जिस प्रकार ये सब उस आकाश से समुत्थान कर सूर्य रूप परम ज्योति को प्राप्त हो अपने-अपने स्वरूप से अभिनिष्पन्न हो जाते हैं॥ २॥ ठीक उसी प्रकार यह जीव इस शरीर से समुत्थान कर परमज्योति को प्राप्त कर अपने अपने स्वरूप से स्थित हो जाता है, वह उत्तम पुरुष है, उस समय वह हँसता, क्रीड़ा करता, स्त्री, यान अथवा सम्बन्धियों के साथ रमण करता, अपने साथ उत्पन्न हुये इस शरीर को स्मरण न करता हुआ सभी ओर घूमता रहता है, जैसे घोड़ा या बैल गाड़ी में जुता रहता है, ठीक वैसे ही यह प्राण भी उस शरीर में जुता हुआ है॥ ३॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदꣳ शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्॥ ४॥

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते॥ ५॥

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच॥ ६॥ इति द्वादशः खण्डः॥ (१२)॥

जिस जाग्रदवस्था में चक्षु द्वारा उपलक्षित आकाश देहस्थ छिद्र से अनुगत हैं, वह चाक्षुष पुरुष है, रूप ग्रहण के लिये उसे नेत्र हैं। 'मैं इसे सूघूँ' ऐसा जो जानता है वह आत्मा है। गन्ध ग्रहण के लिये उसे नाक है। 'मैं यह शब्द बोलूँ' ऐसा जो समझता है वही आत्मा है, शब्द उच्चारण के लिये उसे वाणी है। 'मैं सुनूँ'—ऐसा जो जानता है वह आत्मा है, श्रवण करने के लिये उसे श्रोत्र है॥ ४॥ और जो यह जानता है कि बाह्य इन्द्रियों के बिना ही 'मैं मन से मनन करूँ' वह आत्मा है, मन तो उसका दिव्यनेत्र है, वही यह आत्मा इस दिव्यचक्षु से भोगों को देखता हुआ रमण करता है॥ ५॥ जो ये भोग (स्वर्ण निधि के समान बाह्य विषयों की आसक्तिरूप अनृत से) ब्रह्मलोक में आच्छादित हैं, उन्हें देखता हुआ रमण करता है। उस आत्मा की उपासना देवता करते हैं। इसी से उन देवों को सम्पूर्ण लोक और सम्पूर्ण भोग प्राप्त हैं। जो कोई उस आत्मा को शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश द्वारा जानकर साक्षात् अनुभव करता है, वह सम्पूर्ण लोक और समग्र भोगों को प्राप्त कर लेता है ऐसा प्रजापति ने कहा। द्विरुक्ति प्रकरण समाप्ति के लिये है॥ ६॥

॥ इति द्वादशः खण्डः॥

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभिसंभवामीति॥ १॥ इति त्रयोदशः खण्डः ॥ (१३)॥

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतꣳ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्वेतमदत्कमदत्कꣳ श्वेतं लिन्दु माऽभिगां लिन्दु माऽभिगाम्॥ १ ॥ इति चतुर्दशः खण्डः॥ (१४)॥

अथ त्रयोदशः खण्डः

'श्यामाच्छबलम्' इत्यादि मन्त्र का जप के लिये उपदेश

(अत्यन्त दुर्गम होने के कारण हृदय में स्थित) श्याम कारण ब्रह्म से मैं कार्य शबल ब्रह्म को प्राप्त होऊँ, तथा शबल से श्याम को प्राप्त होऊँ। जैसे घोड़ा शरीर को हिलाकर अपने रोयें को झाड़ कर शुद्ध हो जाता है, वैसे ही हार्द ब्रह्म के ज्ञान से मैं धर्माधर्मरूप पापों को झाड़ कर तथा राहु के मुख से छूटे हुए चन्द्र के समान (सम्पूर्ण अनर्थ के आश्रय भूत) शरीर को त्यागकर कृतार्थ हो नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूँ। ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूँ।

॥ इति त्रयोदशः खण्डः॥

अथ चतुर्दशः खण्डः

आकाश नामक ब्रह्म का उपदेश

आकाश नामक प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है। वे नाम रूप जिसके मध्य में वर्तमान हैं, वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वही आत्मा है। मैं प्रजापति के (प्रभु निर्मित नामक) सभागृह को प्राप्त होऊँ। मैं ब्राह्मणों के यश, क्षत्रियों के यश और वैश्यों के यश स्वरूप आत्मा को प्राप्त करना चाहता हूँ। वह मैं यशों का यश हूँ, मैं बिना दाँतों के भक्षण करने वाले रोहित वर्ण, अशुद्ध को प्राप्त न होऊँ, प्राप्त न होऊँ (क्योंकि स्त्री अपने सवेन करने वाले के तेज, बल, वीर्य, विज्ञान तथा धर्म का विनाश कर देती है)॥ १॥

॥ इति चतुर्दशः खण्डः॥

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्य-कुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिꣳसन्त्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते॥ १॥ इति पञ्चदशः खण्डः॥ (१५)॥

॥ इत्यष्टमः प्रपाठकः समाप्तः॥ ८॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषत्संपूर्णा॥ ९॥

अथ पंचदशः खण्डः

आत्मज्ञान का उपसंहार

उस इस आत्मज्ञान को ब्रह्म ने प्रजापति से कहा, प्रजापति ने मनु से कहा, मनु ने प्रजाओं से कहा। विधि विधान के अनुसार आचार्य के कर्त्तव्य कर्मों को समाप्त करके वेदाध्ययन कर आचार्य कुल से समावर्तन हो जाने पर स्त्री परिग्रह पूर्वक कुटुम्ब में स्थित हो पवित्र स्थान में स्वाध्याय करता हुआ, पुत्र एवं शिष्यों को धर्मात्मा बनाता हुआ, संपूर्ण इन्द्रियों को अपने अन्तःकरण में उपसंहार कर, शास्त्र की आज्ञा से विरुद्ध प्राणियों की हिंसा न करता हुआ, वह अधिकारी पुरुष निश्चय ही यावज्जीवन इस प्रकार बर्ताव करने वाला अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है और फिर लौटता नहीं (इस प्रकार अर्चिरादि मार्ग से कार्यब्रह्म लोक में गया हुआ उपासक ब्रह्मलोक की स्थिति पर्यन्त दिव्य भोगों को भोगता हुआ वहाँ रहता है और फिर वहाँ पर ही मुक्त हो जाता है)। अतएव उसकी भी पुनरावृत्ति नहीं होती है॥ १॥

॥ इत्यष्टमोऽध्याय:॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषत्समाप्ता॥

ॐ

बृहदारण्यकोपनिषद्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो माꣳसानि। ऊवध्यꣳ सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक्॥ १॥

अथ प्रथमाध्यायेऽश्वमेधप्रथमं ब्राह्मणम्

अश्वावयवों में कालादि दृष्टि का निरूपण

ॐ यज्ञ सम्बन्धी अश्व का शिरोभाग ब्रह्ममुहूर्त है (नेत्रों का अभिमानी देव) सूर्य उसका नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि उसका खुला हुआ मुख है (क्योंकि मुख की अधिष्ठातृ देव अग्नि ही है) और यज्ञीय अश्वका आत्मा संवत्सर है, (अश्वस्य मेध्यस्य, इसकी पुनरुक्ति सबके साथ सम्बन्ध बतलाने के लिये है) ऊँचाई में समानता होने के कारण द्युलोक उसका पृष्ठ है। छिद्र रूपता में समानता होने के कारण अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पैर रखने का स्थान है, चारों दिशाएँ पार्श्वभाग हैं, आग्नेय आदि अवान्तर दिशाएँ पार्श्वभाग की अस्थियाँ हैं, सम्वत्सर के अवयव होने से ऋतुएँ अङ्ग हैं, मास और अर्धमास संधियाँ हैं, दिन और रात्रि पाद हैं, शुक्लत्व में समानता होने के कारण नक्षत्र अस्थियाँ हैं, आकाश स्थित मेघ माँस है, सिकता उदरस्थ अर्धपक्व अन्न हैं, नदियाँ नाड़ी हैं, पर्वत जिगर और हृदयगत माँस खण्ड है, औषधि और वनस्पतियाँ लोम तथा केश हैं, मध्याह्न काल पर्यन्त ऊपर की ओर जाता हुआ सूर्य नाभि के ऊपर का भाग और मध्याह्नकाल से नीचे की ओर जाता हुआ सूर्य कमर से नीचे का भाग है, उसकी जमुहाई लेना बिजली चमकना है और जो शरीर का विधूनन है वह मेघ का गर्जन है, वह अश्व जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा है और वाणी ही उस अश्व की वाणी है॥ १॥

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः संबभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः॥ २॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥ (१)॥

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। अशनाययाऽशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं कः ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद॥ १॥

अश्वमेध सम्बन्धी महिमा नामक ग्रहादि में दिनादि दृष्टि

इस अश्व के सामने महिमा रूप से दिन प्रकट हुआ। उस ग्रह की योनि पूर्व समुद्र है, तत्पश्चात् महिमा रूप से रात्रि प्रकट हुई, उसकी योनि पश्चिम समुद्र है, ये दोनों ही इस अश्व के दोनों ओर महिमा संज्ञक ग्रह हुये, (जो कि इस अश्व के आगे पीछे स्वर्ण और रजत के पात्र विशेष रक्खे जाते हैं) इसने हय होकर देवताओं को वहन किया, वाजी होकर गन्धर्वों को, अर्वा होकर असुरों को और अश्व होकर मनुष्यों को वहन किया। समुद्र (परमात्मा ही) इसका बंधन है और परमात्मा ही उसकी उत्पत्ति का कारण है॥ २॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥

अथाग्निद्वितीयं ब्राह्मणम्

अश्वमेध उपयोगी अग्नि की उत्पत्ति

(इस संसार मण्डल में मन आदि की उत्पत्ति से) पहले यहाँ नामरूप में विभक्त कुछ भी नहीं था यह सब क्षुधारूप मृत्यु से आवृत था, क्योंकि क्षुधा ही मृत्यु है। उसने मन को इसलिये बनाया कि मैं मन से युक्त होऊँ। उसने अर्चन करते हुये आचरण किया। अतः उसके अर्चन करने से पूजा के अङ्गभूत रसात्मक जल उत्पन्न हुआ, पूजा करते हुये मुझे जल प्राप्त हुआ। अतः यही अर्क का अर्कत्व है। जो इस प्रकार अर्क के इस अर्कत्व को जानता है, निश्चय ही उसे सुख प्राप्त होता है (सुख की हेतुभूता पूजा करने से तथा जल का सम्बन्ध होने से अग्नि को ही गौण दृष्टि से ''अर्क'' कह दिया गया है, यही अश्वमेध याग में उपयोगी अग्नि के अर्कत्व में कारण बतलाया गया है)॥ १॥

आपो वा अर्कस्तद्यदपाꣳ शर आसीत्तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्त-स्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्तताग्निः॥ २॥

स त्रेधात्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीयं वायुं तृतीयꣳ स एष प्राणस्त्रेधा विहितः। तस्य प्राची दिक्शिरोऽसौ चासौ चेर्मौ। अथास्य प्रतीची दिक्पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान्॥ ३॥

जल से विराट् अग्नि की सृष्टि

जल ही अर्क है, (क्योंकि अर्क नामक अग्नि का वह हेतु है) उन जलों का जो (घृतपिण्ड के समान) स्थूलभाग था वह एकत्रित हो गया और वही पृथिवी हो गया, अर्थात् जल से ब्रह्माण्ड निष्पन्न हुआ। उसके उत्पन्न होने पर वह प्रजापति रूप मृत्यु थक गया, उस थके हुये प्रजापति के शरीर से उसका सार भूत तेजोरस अग्नि निकल आया॥ २॥

विराट् अग्नि के अवयवों में दिशा दृष्टि

उस प्रजापति ने अपने को तीन प्रकार से विभक्त किया, उसने (अग्नि और वायु की अपेक्षा) आदित्य को तीन संख्याओं का पूरक बनाया। ऐसे ही वायु को तीसरा बनाया (और अग्नि को भी तीसरा बनाया)। इस प्रकार यह प्राण (अग्नि, वायु और आदित्य इन) तीन भागों में विभक्त हो गया। उसकी पूर्वदिशा शिर है तथा ईशान्य और आग्नेयी विदिशाएँ भुजाएँ हैं। वैसे ही पश्चिमदिशा इसकी पुच्छ है और वायव्य तथा नैर्ऋत्य विदिशाएँ जंघाएँ हैं। दक्षिण और उत्तर दिशाएँ उसके पार्श्व भाग हैं, द्युलोक पृष्ठभाग है अन्तरिक्ष उदर है और (अधोभाग में समानता होने के कारण) यह पृथिवी हृदय है। यह लोकादि स्वरूप प्रजापति अग्नि जल में स्थित है, इसे इस प्रकार अग्नि का जल में स्थित होना जानने वाला पुरुष जहाँ कहीं जाता है, वहाँ ही प्रतिष्ठित होता है॥ ३॥

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनः समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं कालमबिभः। यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत। तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव वागभवत्॥ ४॥

स ऐक्षत यदि वा इममभिमꣳस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनात्मनेदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किंचर्चो यजूꣳषि सामानि च्छन्दाꣳसि यज्ञान्प्रजाः पशून्। स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वꣳ सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद॥ ५॥

सम्वत्सर और वाणी की उत्पत्ति

उस मृत्यु ने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो (जिसमें मैं शरीर धारी हो जाऊँ), इसीलिये उस क्षुधा में उपलक्षित मृत्यु ने मन के द्वारा वेदत्रयी की आलोचना की अर्थात् वेदविहित सृष्टिक्रम का मन से विचार किया। उससे जो वीर्य हुआ वह सम्वत्सर बन गया, इससे पूर्व सम्वत्सर नहीं था। उस सम्वत्सर काल निर्माता गर्भस्थ प्रजापति को मृत्युरूप प्रजापति उतने समय तक गर्भ में धारण किये रहा जितना सम्वत्सर का परिणाम होता है। इतने समय के बाद उससे उसकी सृष्टि की अर्थात् उस अण्डे को फोड़ दिया। उस उत्पन्न हुये प्रथम शरीरी कुमार ने अग्नि के प्रति भक्षण के लिये मुख फाड़ा, स्वाभाविक अविद्या से युक्त होने के कारण उसने डरकर "भाण" ऐसा शब्द किया वही वाक् (शब्द) हुआ ॥ ४॥

ऋग्वेदादि की सृष्टि तथा मृत्यु का अदितित्व

उस मृत्यु ने विचार किया, यदि मैं इस कुमार को मार डालूँगा तो मैं यह बहुत ही थोड़ा भोजन करूँगा। अतः उसने उस वाणी और उस मन के द्वारा इन सबकी सृष्टि की जो कुछ भी ये ऋक्, यजु, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजा तथा पशु हैं—(इन सभी को बनाया)। उसने जिस-जिस वस्तु की रचना की, उन सभी को खाने का विचार किया, वह सबको खाता है यही उस अदिति का अदितित्व है। जो इस प्रकार इसके अदितिपने को जानता है, वह इस सभी का भोक्ता हो जाता है और ये सब उसके अन्न हो जाते हैं॥ ५॥

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत्। प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरꣳ श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत्॥ ६॥

सोऽकामयत मेध्यं म इदꣳ स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति। ततोऽश्वः समभवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम्। एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद। तमनवरुध्यैवामन्यत। तꣳ संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत। पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत्। तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्त। एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्माऽयमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ। सा पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति॥ ७॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम्॥ (२)॥

यज्ञ कामना वाले प्रजापति से प्राण तथा वीर्य का निष्क्रमण

उस प्रजापति ने ऐसी कामना की कि मैं पुनः बड़े भारी अश्वमेधादि यज्ञ के द्वारा यजन करूँ, इसी से वह थक गया। उसने तप किया, उस श्रान्त तथा तपे हुये मृत्यु से यश और वीर्य निकल गया। चक्षुरादि प्राण ही यश और वीर्य है। तत्पश्चात् प्राणों के निकल जाने पर शरीर फूलने लग गया इतने पर भी उसका मन शरीर में ही रहा॥ ६॥

अश्वमेध उपासना का फल

उसने कामना की यह मेरा शरीर यज्ञ के योग्य हो जावे, मैं इस शरीर से शरीर वाला होऊँ, क्योंकि वह शरीर (यश और वीर्य से हीन होकर) फूल गया था। अतः उससे वह अश्व हो गया और वह यज्ञीय हुआ। इसीलिये यही अश्वमेध का अश्वमेधत्व है—अर्थात् उसे अश्वमेध नाम प्राप्त हुआ। जो इसे इस प्रकार जानता है, वही अश्वमेध को जानता है। उसने उसे बन्धन शून्य ही चिन्तन किया, फिर पूरे एक सम्वत्सर के बाद अपने लिये ही आलभन किया और अन्य पशुओं को भी अन्यान्य देवताओं के प्रति पहुँचाया। इसलिये आज भी याज्ञिक लोग सभी देवताओं के लिये मन्त्रों द्वारा संस्कृत प्रजापति सम्बन्धी पशु का आलभन करते हैं। यह जो सूर्य तपता है यही अश्वमेध है, उस सूर्य का सम्वत्सर शरीर है, यह पार्थिव अग्नि अर्क है, तथा उसके ये आदित्यादि लोक आत्मा हैं। ये अग्नि और आदित्य अर्क एवं अश्वमेध हैं, किन्तु वे मृत्युरूप देवता एक ही हैं। जो इस प्रकार (इस अश्वमेध को मृत्युरूप एक देवता) जानता है वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है। इसे मृत्यु प्राप्त नहीं करता, मृत्यु तो उसकी आत्मा हो जाता है तथा वह इन देवताओं में से ही कोई एक हो जाता है (उस उपासक को यही फल प्राप्त हो जाता है)॥ ७॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम्॥

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति॥ १॥

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत्। यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं वदति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा॥ २॥

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण उदगायद्यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं जिघ्रति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा॥ ३॥

अथोद्गीथतृतीयं ब्राह्मणम्

देवताओं का उद्गीथ विचार

प्रजापति के देव और असुर-ऐसे दो प्रकार के पुत्र थे, उनमें देवगण थोड़े ही थे और असुरगण अधिक थे (क्योंकि स्वाभाविक कर्म-जन्य प्रवृत्ति अधिक होती है और शास्त्र जन्य प्रवृत्ति अल्प होती है) इन लोकों में वे दोनों ज्ञान साध्य लोक के निमित्त परस्पर ईर्ष्या करने लगे, उनमें से देवों ने कहा—कि यज्ञ में उद्गीथ के द्वारा हम असुरों को जीतेंगे॥ १॥

उद्गान करते समय वाणी का पाप से विद्ध होना

उन देवताओं ने ऐसा निश्चयकर वाक् के अभिमानी देव से कहा—'तू हमारे लिये उद्गाता का कर्म करो' वाणी ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उन देवताओं के लिये गान किया, उसने वाणी में जो भोग सुख विशेष था उसे देवताओं के लिये गान किया और जो कल्याण कारक भाषण करती थी उसे अपने लिये गाया। तब असुरों ने जाना कि उस उद्गाता के द्वारा ही देवगण हमें जीतेंगे। अतः असुरों ने वाणी के पास जाकर उसे पाप से वेध डाला। इसीलिये यह जो वाणी स्त्रीवर्णनादि निषिद्ध भाषण करती है, वही वह पाप है, वही वह पाप है॥ २॥

उद्गान कर्ता प्राणादि का पाप विद्ध होना

फिर देवताओं ने घ्राण से कहा—"तू हमारे लिये उद्गान कर" तब घ्राण में जो भोग है, उसे उसने देवताओं के लिये गान किया और जो कुछ अच्छी गन्ध सूँघता है, उसे उसने अपने लिये गाया। असुरों को इस बात का ज्यों ही पता लगा कि इस उद्गाता के द्वारा देवता हमें जीतेंगे। अतः असुरों ने उस घ्राण के समीप जाकर उसे पाप से वेध डाला। अतएव जो अननुरूप सूँघता है यही वह पाप है, यही वह पाप है॥ ३॥

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायत्। यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा॥ ४॥

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणꣳ शृणोति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ शृणेति स एव स पाप्मा॥ ५॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उदगायद्यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणꣳ संकल्पयति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेमप्रतिरूपꣳ संकल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन्॥ ६॥

फिर देवताओं ने चक्षु से कहा—'तू हमारे लिये उद्गान कर' तब चक्षु ने "तथास्तु" कह कर उनके लिये उद्गान किया—अर्थात् चक्षु में जो भोग है, उसे चक्षु ने देवताओं के लिये गाया और जो शुभ दर्शन करता है उसे उसने अपने लिये गाया। असुरों को ज्यों ही यह मालूम हुआ कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमें जीतेंगे। अतः असुरों ने चक्षु के पास जाकर उसे पाप से वेध डाला। यह जो निषिद्धरूप को देखता है यही वह पाप है, यही वह पाप है॥ ४॥ फिर देवताओं ने श्रोत्र से कहा "तू हमारे लिये उद्गान कर" तब श्रोत्र ने "तथास्तु" कह कर उन देवताओं के लिये उद्गान किया। श्रोत्र में जो भोग है, उसे उस श्रोत्र ने देवताओं के लिये घोषणा की और जो शुभ श्रवण करता है, उसे अपने लिये गाया। असुरों ने जब जाना कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमें जीतेंगे। अतः उस श्रोत्र के पास जाकर असुरों ने उसे पाप से वेध डाला, यह जो निषिद्ध शब्द का श्रवण करता है यही वह पाप है, यही वह पाप है॥ ५॥ फिर देवताओं ने मन से कहा—"तू हमारे लिये उद्गान कर" तब मन ने "तथास्तु" कह कर उन देवताओं के लिये उद्गान किया, मन में जो भोग है उसे मन ने देवताओं के लिये घोषित किया और वह जो शुभ संकल्प करता है, उसे अपने लिये गाया। असुरों को ज्यों ही मालूम हुआ कि इस उद्गाता के द्वारा हमें जीतेंगे। अतः मन के पास जाकर असुरों ने उसे पाप से वेध डाला। यह जो निषिद्ध संकल्प करता है यही वह पाप है, इस प्रकार निःसन्देह ही इन देवताओं को पाप का संसर्ग हुआ और ऐसे ही असुरों ने इसे पाप से वेध डाला॥ ६॥

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत्ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यथाऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वꣳसेतैवꣳ हैव विध्वꣳसमाना विष्वञ्चो विनेशुस्ततो देवा अभवन् पराऽसुरा भवत्यात्मना परास्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद॥ ७॥

ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः॥ ८॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरꣳ ह्यस्या मृत्युर्दूरꣳह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद॥ ९॥

उद्गान कर्ता मुख्यप्राण का पाप विद्ध न होना एवं उसके उपासना का फल

इसके बाद मुख के छिद्र में रहने वाले प्राण से देवताओं ने कहा—"तू हमारे लिए उद्गान कर" तब "तथास्तु" कह कर इस प्राण ने शरणागत देवताओं के लिए उद्गान किया, असुरों ने जब जाना कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमें जीतलेंगे। तब उन्होंने मुख्यप्राण के पास जाकर उसे पाप से वेधना चाहा—किन्तु जैसे पत्थर से टकराने पर मिट्टी का ढेला चूर चूर हो जाता है, वैसे ही वे असुर लोग भी प्राण से टकराने पर विध्वस्त होकर अनेक प्रकार से नष्ट हो गये। तब से देवगण अग्न्यादि रूप से स्वस्थ हो गये और असुरों का पराभव हुआ। जो इस प्रकार जानता है वह प्रजापति स्वरूप अपने रूप से स्थित होता है और उससे द्वेष करनेवाला सौतेला भाई पराभव (हार) को प्राप्त करता है॥ ७॥

मुख्य प्राण का आङ्गिरसत्व

उन देवताओं ने कहा—जिसने हमें इस प्रकार देवभाव को प्राप्त कराया है वह कहाँ है? ऐसा विचार कर उन्होंने निश्चय किया कि यह मुख के ही भीतर है। अतः यह अयास्य है क्योंकि इसी ने देवत्व प्राप्ति के लिये आत्माके साथ हमें जोड़ा। और यह आङ्गिरस है, क्योंकि यही भूत और इन्द्रियादि अंगों का रस है॥ ८॥

प्राण का शुद्धत्व

वह यह देवता "दूर" नामवाली है, क्योंकि इस प्राण देवता से आसक्तिरूप मृत्यु दूर है। जो ऐसा जानता है उससे मृत्यु दूर रहता है॥ ९॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयांचकार तदासां पाप्मनो विन्यदधात्तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥ १० ॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥ ११ ॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥ १२ ॥

अथ प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥ १३ ॥

प्राण उपासक से मृत्यु के दूर रहने में तर्क

इस प्राण देवता ने इन वागादि देवताओं के पापरूप मृत्यु (स्वाभाविक अज्ञान से प्रेरित विषय संसर्ग जनित ममता) को हटा कर जहाँ इन दिशाओं का अन्त हो जाता है, वहाँ पहुँचा दिया। वहाँ इन देवताओं के पाप को मुख प्राण ने तिरस्कार पूर्वक निहित कर दिया। अतः "मैं पापरूप मृत्यु से युक्त न होऊँ" इस भय से अन्य जनों के संसर्ग में न जाय और अन्त दिशा में भी न जावे (श्रौत विज्ञानवान् पुरुषों की सीमापर्यन्त ही दिशाओं की कल्पना की है; उनसे विरुद्ध आचरण वाले लोगों से बसा हुआ देश ही दिशाओं का अन्त है) ॥ १० ॥

प्राण द्वारा वागादि को अग्न्यादि देवभाव की प्राप्ति

उस इस प्राण देवता ने इन वागादि देवताओं के पापरूप मृत्यु को नष्टकर पुनः इन्हें आध्यात्मिक परिच्छेदरूप मृत्यु के पार अपरिच्छिन्न आधिदैविक अग्न्यादि देवात्मभाव को प्राप्त करा दिया ॥ ११ ॥ उस प्रसिद्ध प्राण ने वाक् देवता को (आध्यात्मिक परिच्छेदरूप मृत्यु के) पार पहुँचा दिया। जब वाणी मृत्यु से पार हुई तब वह अग्नि हो गयी। वह यह अग्नि परिच्छिन्न मृत्यु से परे परिच्छिन्नत्व रूप मृत्यु को पार कर देदीप्यमान है ॥ १२ ॥ इसी प्रकार प्राण ने घ्राण को मृत्यु के पार पहुँचाया। वह जिस समय मृत्यु से पार हुआ, वह घ्राण वायु हो गया। अतः वह अतिक्रान्त वायु मृत्यु से पार होकर बहता है ॥ १३ ॥

अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥ १४ ॥

अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशोऽभवंस्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥ १५ ॥

अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवं ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥ १६ ॥

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किंचान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥ १७ ॥

फिर उस प्राण ने चक्षु को मृत्यु से पार पहुँचाया, जब चक्षु मृत्यु से पार हुआ तब वह आदित्य हो गया, क्योंकि वह यह परिच्छेद से अतिक्रान्त आदित्य मृत्यु से पार होकर तपता है ॥ १४ ॥ फिर प्राण ने श्रोत्र को मृत्यु के पार पहुँचाया, जब वह मृत्यु से पार हुआ तब वह दिशा हो गया, क्योंकि वे ये अतिक्रान्त दिशाएँ परिच्छेदरूप मृत्यु से परे हैं ॥ १५ ॥ फिर प्राण ने मन को मृत्यु के पार पहुँचाया, वह मन जिस समय मृत्यु से पार हुआ उस समय वह चन्द्रमा हो गया। वह यह अतिक्रान्त चन्द्रमा परिच्छेदरूप मृत्यु से परे प्रकाशित होता है। ऐसे ही यह देवता उस उपासक को मृत्यु के पार ले जाती है जो कोई इसे इस प्रकार जानता है ॥ १६ ॥

प्राण के लिये अन्नादि का आगान

फिर उस प्राण ने अपने लिये खाने योग्य भक्ष्य का आगान किया, क्योंकि जो भी कुछ अन्न खाया जाता है वह प्राण के द्वारा ही खाया जाता है। इसीलिये इस अन्न अन्नाकार शरीर में प्राण प्रतिष्ठित होता है ॥ १७ ॥

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदꣳ सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माभिसंविशतेति तथेति तꣳ समन्तं परिण्यविशन्त। तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्त्येवꣳह वा एनꣳ स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानाꣳ श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवंविदꣳ स्वेषु प्रतिपत्तिर्बुभूर्षति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैतमनु भवति यो वैतमनु भार्यान् बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति॥ १८॥

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः प्राणो वा अङ्गानाꣳ रसः प्राणो वा अङ्गानाꣳ रसः प्राणो हि वा अङ्गानाꣳ रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानाꣳ रसः॥ १९॥

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ॥ २०॥

सर्व पोषक प्राण की उक्त उपासना का फल

वे वागादि देवगण बोले—यह जो अन्न है, वह सब तो इतना ही है, जिसे तूने अपने लिये आगान कर लिया है। इसीलिये अब तो हमें भी इस अन्न में साँझीदार बनाओ! प्राण ने कहा वे तुम लोग सभी ओर से मुझमें प्रवेश कर जाओ; (तब "तथास्तु" कहकर वे वागादि सभी ओर से उस प्राण में प्रवेश कर गये)। अतः प्राण के द्वारा यह जीव जो भी अन्न खाता है, उससे ये वागादि प्राण भी तृप्त होते हैं। जो इस प्रकार उसका आश्रय सम्बन्धी जन सभी ओर से ग्रहण करते हैं; वह स्वजनों का भर्ता, उनमें श्रेष्ठ और उनके आगे चलने वाला हो जाता है। ऐसे ही अन्न भक्षण करने वाला सबका अधिपति हो जाता है। सम्बन्धियों में से जो भी ऐसे उपासक के प्रति विरुद्ध होना चाहता है वह अपने आश्रितों का पोषण करने में समर्थ नहीं होता है और जो कोई भी इनके अनुकूल रहकर अपने शरणागतों का भरण करना चाहता है, वह निश्चय ही अपने शरणागतों के भरण पोषण में सक्षम हो जाता है॥ १८॥

प्राण के आङ्गिरसत्व की उत्पत्ति

वह प्राण "अयास्य" आङ्गिरस है, क्योंकि वह अङ्गों का सार है, अङ्गों का रस प्राण ही है, निःसन्देह अङ्गों का रस प्राण ही है, क्योंकि जिस किसी अङ्ग से जब प्राण निकल जाता है तब वही अङ्ग सूख जाता है। अतः प्राण ही सब अङ्गों का रस है॥ १९॥

प्राण में बृहस्पतित्व की सिद्धि

यह प्राण ही बृहस्पति है। वाक् ही बृहती है, उस वाक् का यह प्राण पति है। इसलिये यह बृहस्पति है॥ २०॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः॥ २१॥

एष उ एव साम वाग् वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्। यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवमेतत्साम वेद॥ २२॥

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदꣳ सर्वमुत्तब्धं वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः॥ २३॥

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्येनोद्गायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति॥ २४॥

प्राण में ब्रह्मणस्पतित्व की सिद्धि

यह प्राण ही ब्रह्मणस्पति है, वाक् ही (यजुर्वेदरूप वाणी) है। उस ब्रह्म का यह प्राण पति है, अतएव यह ब्रह्मणस्पति है॥ २१॥

प्राण में सामत्व की सिद्धि

यह प्राण ही साम है। उसमें वाक् ही ''सा'' और यह प्राण ''अम'' है ''सा'' और ''अम'' ही साम है; वही साम का सामत्व है, क्योंकि यह प्राण मक्खी के समान है, मच्छर के समान है, हस्ती के समान है। यह त्रिलोकी के समान है (किंबहुना) यह सभी के समान है, इसीलिये तो यह साम है। जो इस साम को इस प्रकार जानता है, वह साम के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है॥ २२॥

प्राण में उद्गीथत्व की सिद्धि

यह प्राण ही उद्गीथ है, प्राण ही ''उत्'' है, क्योंकि प्राण से ही यह जगत् ऊपर की ओर धारण किया हुआ है। वाक् ही ''गीथा'' है वह प्राण ''उत्'' है और यह गीथा प्राण तन्त्रा वाक् भी है। अतः (दोनों का एक शब्द से कथन होने के कारण) उद्गीथ है॥ २३॥

आख्यान से उक्तार्थ की पुष्टि

उक्त विषय में यह आख्यायिका भी सुनी जाती है कि चिकितान के पुत्र ब्रह्मदत्त ने यज्ञ में सोम का भक्षण करते हुये कहा—''यदि अयास्य और आङ्गिरस नामक मुख्य प्राण ने वाक् संयुक्त प्राण से भिन्न देवता द्वारा उद्गान किया हो, तो (मैं मिथ्यावादी ठहरूँगा, ऐसे विपरीत ज्ञानवाला मेरा शिर यह सोम देवता गिरा देवें)।'' अतः उस ब्रह्मदत्त ने प्राण और वाक् के ही द्वारा उद्गान किया था, (यही अर्थ इस शपथ से निश्चित होता है)॥ २४॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसंपन्न-यार्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव। अथो यस्य स्वं भवति भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद॥ २५॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद॥ २६॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥ २७॥

साम का स्वरूप "स्वर" सम्पादनीय है

जो उस इस साम शब्द वाच्य मुख्यप्राण के धन को जानता है उसे धन प्राप्त होता है। निश्चय उस साम का कण्ठगत माधुर्यरूप स्वर ही धन है। अतः ऋत्विक् कर्म उद्गान करने वाले को वाणी में स्वर की इच्छा करनी चाहिये, उस सुस्वर सम्पन्न वाणी से ऋत्विक् कर्म करे (दन्तधावन और तैलपानादि से सुस्वरता का सम्पादन करना चाहिये) इसी से यज्ञ में लौकिक पुरुष स्वर सम्पन्न उद्गाता को ही देखना चाहते हैं। लोक में भी जिसके पास धन होता है, उसी को लोग देखना चाहते हैं, जो इस प्रकार साम के धन को जानता है उसे धन प्राप्त होता है॥ २५॥

साम को सुवर्ण जानने का फल

जो उस इस साम के सुवर्ण को जानता है उसे सुवर्ण प्राप्त होता है। उसका स्वर ही सुवर्ण है, जो इस प्रकार साम के सुवर्ण को जानता है उसे लौकिक सुवर्ण या स्वर प्राप्त होता है॥ २६॥

साम के प्रतिष्ठा गुणोपासना का फल

जो पुरुष उस इस साम की प्रतिष्ठा को जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है। निश्चय ही उस साम की वाणी ही प्रतिष्ठा है; निःसन्देह वाक् में प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गाया जाता है; अर्थात् गीतिभाव को प्राप्त होता है। कुछ लोग कहते हैं कि वह प्राण अन्न में प्रतिष्ठित होकर गाया जाता है (अतः प्राण की प्रतिष्ठा वाक् है अथवा अन्न है ऐसी दृष्टि करे)॥ २७॥

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत्। असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह, तमसो मा ज्येतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह, मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति। अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तः स एष एवंविदुद्गातात्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्यताया आशास्ति य एवमेतत्साम वेद॥ २८॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥ (३)॥

प्राणोपासक के लिये जपविधि

इसके पश्चात् (इस प्रकार जानने वाले उपासक से किये जाने वाले जप का विधान किया जाता है) पवमानाख्यस्तोत्रोद्गान कालिक ही अभ्यारोहनामक जपका विधान है। पवमानों का ही अभ्यारोह बतलाया जाता है। वह प्रस्तोता निश्चित रूप से सामको ही आरम्भ करता है। जब वह प्रस्ताव करे तब इनका जप करे। "असतो मा सद्गमय" "तमसो मा ज्योतिर्गमय" "मृत्योर्मामृतं गमय" (मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ। मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ। मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ) वह जब कहता है मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ। यहाँ असत् ही मृत्यु है और अमृत ही सत् है। अतः उसके कहने का भाव यह है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो अर्थात्—मुझे अमर कर दो। जब कहता है—मुझे अंधेरे से प्रकाश की ओर ले चलो; तो यहाँ मृत्यु ही अंधेरा है और अमृत ज्योति है। अतः उसका यही कहना है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो—यानी मुझे अमर कर दो। मृत्यु से अमृत की ओर मुझे ले चलो, इसमें छिपी सी तो कोई बात ही नहीं है, इसके बाद जो अन्य स्तोत्रों में उपासक अपने लिये अन्नाद्य का आगान करे। उनके गाये जाने पर यजमान वर माँगे और जिस भोग को वह चाहता है उसे भी माँगे। यह इस प्रकार जानने वाला वह उद्गाता अपने अथवा यजमान के लिये जिस भोग को चाहता है, उसी का आगान करता है। वह यह प्राण उपासना सम्पूर्ण लोक प्राप्ति का साधन है। जो इस प्रकार इस साम को जानता है उसे लोक प्राप्ति की अयोग्यता की तो आशा ही नहीं है अर्थात् वह सम्पूर्ण लोकों को प्राप्त करने में समर्थ है॥ २८॥

॥ इति तृतीयं ब्रह्मणम्॥

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहंनामाभवत्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुष ओषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद॥ १॥

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हायमिक्षांचक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद्द्वितीयाद्वै भयं भवति॥ २॥

अथ सृष्ट्यादिसर्वरूपतानामचतुर्थं ब्राह्मणम्

अहं नाम का कारण तथा उपासना का फल

उत्पत्ति से पूर्व यह पुरुष की तरह (शिरपादादिवाला विराडात्मा) ही था। उस प्रजापति ने आलोचना करने पर भी अपने से भिन्न किसी को नहीं देखा (सर्वात्मारूप से अपने को ही देखने के कारण इस श्रौत विज्ञान जनित संस्कार से युक्त) उस प्रजापति ने "अहमस्मि" मैं हूँ ऐसा कहा, इसीलिये वह 'अहम्' नाम वाला हो गया। अतएव इस समय भी संबोधन करने पर पहले प्रत्येक पुरुष "अयमहम्" (यह मैं हूँ) ऐसा ही कहता है तत्पश्चात् दूसरा जो नाम होता है उसे वह बतलाता है, क्योंकि यह इन सभी से पूर्व उत्पन्न हुआ। उस पुरुष नामक प्रजापति ने समस्त पापों को जला दिया था इसीलिये यह पुरुष कहलाया। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह उस अपने विपक्षी को जला देता है। जो उससे पहले प्रजापति होना चाहता है (अर्थात् उसके विरोधी का नाश हो जाता है) ॥ १॥

विचार ही भयनिवृत्ति का साधन

वह पुरुषाकार प्रथम शरीरि प्रजापति भयभीत हो गया। इसीलिये आज भी अकेला पुरुष डरता है। पुनः उस प्रजापति ने यह विचार किया यदि मुझसे भिन्न कोई नहीं है तो फिर मैं किससे डरता हूँ? इतना विचार करते ही उसका भय जाता रहा-क्योंकि भय का कोई कारण दीखता नहीं था। भय तो सदा दूसरे से होता है (आत्मैकत्व दर्शन से प्रजापति का भय मिट गया। अतः आज भी आत्मैकत्व दर्शन ही भय से मुक्त कराने वाला है)॥ २॥

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाꣳसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्त-स्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताꣳ समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त॥ ३॥

सा हेयमीक्षांचक्रे कथं नु मात्मन एव जनयित्वा संभवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवदृषभ इतरस्ताꣳ समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त वडवेतराऽभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताꣳ समेवाभवत्तत एकशफमजायताऽजेतराभद्बस्त इतरोऽविरितरा मेष इतरस्ताꣳ समेवाभवत्ततोऽजावयोऽजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुनमा पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत॥ ४॥

प्रजापति ने मिथुन को उत्पन्न किया

उस प्रजापति ने आनन्द का अनुभव नहीं किया, इसी से आज भी एकाकी पुरुष रति का अनुभव नहीं करता (इष्ट वस्तु के संयोग से होने वाली क्रीड़ा का नाम ही रति है, ऐसी रति के लिये और अरति के निवृत्ति के लिये) उस प्रजापति ने दूसरे की अर्थात् स्त्री की अभिलाषा की; जैसे परस्पर स्त्री पुरुष आलिङ्गित होते हैं वैसे ही परिणाम वाला वह सत्य संकल्प प्रजापति भी हो गया। उसने इस अपने शरीर को ही दो भागों में बाँट दिया उसी से पति और पत्नी हुये। इसीलिये लौकिक शरीर द्विदल अन्न के एक दल के समान है अर्थात् अकेला पुरुष अर्ध द्विदल के समान है ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। अतः यह पुरुष का अर्ध आकाश स्त्री से पूर्ण होता है; विवाह के पश्चात् वह पुरुष उस स्त्री से संयुक्त हुआ पूर्ण माना जाता है। उसी मैथुन की प्रवृत्ति से मनुष्य उत्पन्न हुये हैं॥ ३॥

मिथुन से गवादि की उत्पत्ति

उस शतरूपा ने (कन्या गमन निषेध स्मृति वाक्य का) विचार किया कि अपने से उत्पन्न कर मेरे साथ संभोग कैसे करता है? अच्छा हो, ऐसी परिस्थिति में मैं छिप जाऊँ। अतः वह गौ हो गयी, इसे देख दूसरा मनुरूप पुरुष वृषभ हो कर उनसे संभोग करने लगा। इससे गाय और बैल उत्पन्न हुये। फिर वह शतरूपा घोड़ी हो गयी और मनु अच्छा घोड़ा बन गया। पुनः वह गदही हो गयी, तब मनु गदहा हो गया और उससे संभोग करने लग गया। इस मैथुन से एक खुर वाले पशु उत्पन्न हुये। पुनः शतरूपा बकरी हो गयी और मनु बकरा हो गया। जब वह भेड़ हो गयी, तब मनु भेड़ा हो गया और उससे संभोग करने लग गया। इसी से भेड़ बकरे उत्पन्न हुये। ऐसे ही चींटी से लेकर जितने स्त्री पुरुषरूप जोड़े हैं, उन सभी की इसी प्रकार उन दोनों ने सृष्टि की ॥ ४॥

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहꣳ हीदꣳ सर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याꣳ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद॥ ५॥

अथेत्यभ्यमन्थत्स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः। तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः। अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वा इदꣳ सर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः। यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्याꣳ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद॥ ६॥

सृष्टि नाम वाले प्रजापति की सृष्टिरूप से उपासना का फल

इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् की रचना करने के बाद उस प्रजापति ने जाना कि "मैं ही सृष्टि हूँ" मैंने ही इस सम्पूर्ण जगत् की रचना की है। अतएव वह प्रजापति सृष्टि नामवाला हुआ। जो ऐसा जानता है वह इस प्रजापति की सृष्टि में प्रजापति के समान ही स्रष्टा होता है॥ ५॥

अग्न्यादि देव अतिसृष्टि का वर्णन

इस प्रकार फिर उस प्रजापति ने मन्थन किया। उससे मुखरूप योनि से दोनों हाथों के द्वारा अच्छी प्रकार मन्थन करके अग्नि को उत्पन्न किया। इसलिए ये दोनों ही हाथ भीतर की ओर से लोम रहित हैं, क्योंकि स्त्रियों की योनि भीतर से लोम शून्य ही होती है (अतः ये हाथ और मुख दोनों ही दाहक अग्नि की योनि माने जाते हैं। याज्ञिक लोग अग्नि, इन्द्रादि को) इसीलिए भिन्न-भिन्न देवता मानते हुए भी ऐसा कहते देखे जाते हैं कि इस अग्नि का यजन करो, इस इन्द्र का यजन करो, क्योंकि वह एक ही प्रजापति देव की विसृष्टि है। यह प्रजापति ही निखिल देव स्वरूप है, तत्पश्चात् उस प्रजापति ने वीर्य से उस वस्तु को उत्पन्न किया। जो कुछ यह संसार में गीला दीखता है वही सोम है। यह सब इतना ही है, यही अन्न और अन्नाद है। सोम ही अन्न है और अग्नि ही अन्नाद है। यह प्रजापति की अति सृष्टि है—अर्थात् अपने से भी बढ़ी हुई सृष्टि है कि जो उसने अपने से उत्कृष्ट देवताओं की रचना की। क्योंकि स्वयं मरणधर्मा होने पर भी अमरधर्मा देवताओं की रचना इसने ही की है। अतएव अतिसृष्टि है। जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है वह इस अतिसृष्टि में इस प्रजापति के समान ही जगत् का स्रष्टा हो जाता है॥ ६॥

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियताऽसौनामायमिदꣳरूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियताऽसौनामायमिदꣳ रूप इति स एष इह प्रविष्टः। आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये तं न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति। वदन् वाक् पश्यꣳश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव। स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति। तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मानेन ह्येतत्सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिꣳ श्लोकं विन्दते य एवं वेद॥ ७॥

व्यक्त और अव्यक्त की अभेद उपासना का फल

वह यह (प्रत्यक्षादि से प्रतीयमान) जगत् उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्त था। वही नाम रूप के योग से व्याकृत हो गया अर्थात् "यह इस नाम और इस रूप वाला है" इस प्रकार से वह अव्यक्ततत्त्व नाम और रूप के द्वारा व्यक्त हो गया। अतः अब इस सृष्टि के समय भी यह अव्याकृत वस्तु "इस नाम और इस रूप वाला है" इसी प्रकार व्यक्त होता है। वह यह व्याकर्ता पुरुष इस वर्तमान देह में नख से शिख पर्यन्त प्रवेश किये हुये है। जैसे यह छुरा छुरे के अधिकरण में छिपा रहता है, या विश्व का भर्ता अग्नि अपने आश्रय काष्ठादि में गुप्त रहता है। इसीलिये लोग उसे देख नहीं पाते, वह असम्पूर्ण है, प्राणन क्रिया के कारण होने से वह प्राण है, वदन का कारण होने से वाणी है। दर्शन का कारण होने से नेत्र है, श्रवण का कारण होने से श्रोत्र है और मनन का कारण होने से मन है। ये सब इसके कर्मानुसार ही नाम हैं। अतएव इनमें से एक-एक की उपासना जो करता है वह नहीं जानता, वस्तुतः वह असम्पूर्ण ही है। वैसी परिस्थिति में वह केवल एक-एक विशेषण से युक्त है। "अतः आत्मा है" इसी प्रकार से उस प्रजापति की उपासना करे, क्योंकि इसी आत्मा में वे सभी एक हो जाते हैं। यह जो सर्वानुभव सिद्ध आत्मा है, वही इन सब जीवों का प्राप्तव्य है। वस्तुतः यह आत्मा है और इस आत्मा के जानने से ही इस सम्पूर्ण जगत् को जानता है। जैसे पदचिह्नों के द्वारा खोये हुये पशु को प्राप्त कर लेते हैं वैसे ही जो पुरुष ऐसा जानता है, वह इसके द्वारा कीर्ति और इष्ट पुरुषों का समागम प्राप्त करता है॥ ७॥

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात्‌ प्रियꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति॥ ८॥

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्माऽवेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति॥ ९॥

सर्वाधिक प्रिय रूप से आत्मा की उपासना

वह यह आत्मतत्त्व (लोकप्रसिद्ध प्रिय) पुत्र से अधिक प्रिय है। सुवर्णादि रूप धन से अधिक प्रिय है और लोक में प्रियरूप से प्रसिद्ध अन्य सभी वस्तु से भी प्रियतर है, क्योंकि यह आत्मा उनकी अपेक्षा अत्यन्त समीपवर्ती है। वह जो आत्मा को प्रिय देखने वाला है, यदि आत्मा से भिन्न अनात्मा को प्रिय कहने वाले पुरुष से कहे कि "तेरा प्रिय नष्ट हो जायगा" तो वैसा ही हो जायगा, क्योंकि वह ऐसा कहने में समर्थ है। अतः (सम्पूर्ण अनात्म वस्तु का परित्याग कर) आत्मरूप प्रिय की ही उपासना करे। जो पुरुष आत्मरूप प्रिय की ही उपासना करता है अर्थात्‌ आत्मा ही प्रिय है, अन्य लौकिक पदार्थ प्रिय होने पर भी अप्रिय ही हैं। ऐसा निश्चय करके चिन्तन करता है, उसका प्रिय अत्यन्त मरणशील नहीं हो सकता॥ ८॥

ब्रह्म की सर्वरूपता के विषय में प्रश्न

(उसके विषय में ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाले ब्राह्मणों ने) यह कहा है कि ब्रह्मविद्या के द्वारा मनुष्य "हम सर्वरूप हो जायेंगे" ऐसा मानते हैं; उसके विषय में यह प्रश्न होता है, कि उस ब्रह्म ने क्या जाना, जिस विज्ञान से वह ब्रह्म सर्वरूप हो गया?॥ ९॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत् तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मुनष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाꣳ स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहस्मीति न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः॥ १०॥

पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर तथा वैसा जानने का फल

उत्पत्ति से पहले यह नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म स्वरूप ही था। उसने अपने को ही जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ" इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया। उसे देवताओं में से जिस जिसने जाना वही तद्रूप हो गया ऐसे ही ऋषियों और मनुष्यों में से भी (जिस जिसने उस ब्रह्म को उक्त प्रकार से जाना वह ब्रह्मरूप हो गया) ऋषि वामदेव ने उस तत्त्व को आत्मभाव से देखता हुआ ही जाना। "मैं ही मनु और सूर्य भी हुआ था", इस प्रकृत ब्रह्म को इस समय भी जो इस प्रकार से जानता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" तो वह इस विज्ञान से सर्वरूप हो जाता है। ऐसे तत्त्ववेत्ता के पराभव करने में द्योतन शील देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह तत्त्वज्ञानी इन देवताओं का भी आत्मा ही हो जाता है। यह आराध्य देव भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार जो अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है वह अज्ञानी परमार्थतत्त्व को नहीं जानता। जैसे लोक में भारवाही पशु होता है, वैसे ही वह भेदवादी देवताओं का पशु है जैसे लोक में बहुत से पशु जीविका प्रदाता का भार वहन करते हुए पालन करते हैं, वैसे ही हविष्यान्न प्रदान कर एक-एक मनुष्य देवताओं का पालन करता है। उनमें से एक पशु का भी अपहरण किये जाने पर मनुष्य को अप्रिय जान पड़ता है, फिर भला बहुतों के अपहरण किये जाने पर तो कहना ही क्या? अतः यह देवताओं को सर्वथा प्रिय नहीं है कि मनुष्य ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व को जाने॥ १०॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकꣳ सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म। तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एनꣳ हिनस्ति स्वाꣳ स योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयाꣳसꣳ हिꣳसित्वा॥ ११॥

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति॥ १२॥

स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयꣳ हीदꣳ सर्वं पुष्यति यदिदं किंच॥ १३॥

क्षत्रसर्ग एवं ब्राह्मण जाति के साथ उसका सम्बन्ध

आरम्भ में यह अद्वितीय ब्रह्म ही था। वह अकेला क्षत्रियादि पालन कर्ता के न होने से विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ न हो सका। तब उस ब्रह्म ने (मैं ब्राह्मण हूँ—मेरा यह कर्तव्य है, ऐसी विशेषता से) क्षत्र इस प्रशस्त रूप की रचना की अर्थात् देवताओं में ये जो क्षत्रिय इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु तथा ईशानादि हैं। इन्हीं के लिये उसे (देव क्षत्र सृष्टि को) उत्पन्न किया। अतएव क्षत्रिय से बढ़कर कोई नहीं है। इसीलिये राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण जाति वाले नीचे बैठकर क्षत्रिय जाति की उपासना करते हैं। वे क्षत्रिय में ही ब्रह्म इस नामरूप अपने यश को स्थापित करते है। वह जो ब्रह्म है, क्षत्रिय की योनि है। अतः यद्यपि राजा उत्कृष्टता को प्राप्त होता है। फिर भी राजसूय यज्ञ के अन्त में वह ब्राह्मण का ही आश्रय लेता है। अतः जो क्षत्रिय इस ब्राह्मण को पीड़ा पहुँचाता है, वह मानो अपनी योनि का ही नाश करता है। जैसे श्रेष्ठ पुरुष की हिंसा करने से वह पापी होता है, वैसे ही वह पुरुष भी पापी होता है॥ ११॥

"ब्राह्मण से वैश्य जाति की सृष्टि"

(धनोपार्जन करने वाले का अभाव होने के कारण) वह ब्रह्म विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। अतः उसने वैश्य जाति की उत्पत्ति की। जो ये वस्तु रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवा और मरुत् इत्यादि देवगण एक-एक गण रूप से कहे जाते हैं, इन्हें उत्पन्न किया॥ १२॥

शूद्र जाति की रचना

(सेवक के न रहने से फिर भी) वह ब्रह्म विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। अतः उसने शूद्र वर्ण को रचा। पूषादेव शूद्र वर्ण है, यह पृथिवी ही पूषा है, क्योंकि वह जो कुछ है उन सबका यही पोषण करती है॥ १३॥

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयाꣳसमाशꣳसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तꣳ सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति॥ १४॥

तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्याꣳ हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनैवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते॥ १५॥

धर्म की सृष्टि, प्रभाव और स्वरूप

(चारों वर्णों को रचकर भी) वह ब्रह्म विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। तब उसने विशेषता से कल्याणप्रदरूप धर्म को उत्पन्न किया। यह जो श्रेयोरूप धर्म है यही क्षत्रिय का भी नियामक है। अतः धर्म से श्रेष्ठ कुछ नहीं है। अतएव जैसे राजा की सहायता से (साधारण कुटुम्बी पुरुष) अपने से अधिक बलवान् को पराभव करना चाहता है, वैसे ही धर्म के द्वारा दुर्बल पुरुष भी बलवान् को जीतना चाहता है। जो धर्म है वह निःसन्देह सत्य ही है। इसीलिये सत्य बोलने वाले को यह धर्म बोलता है तथा धर्म भाषण करने वाले को कहते हैं कि यह सत्य भाषण करता है, क्योंकि ये दोनों धर्म ही हैं। (अतः ज्ञान और अनुष्ठान के अनुरूप धर्म शास्त्रज्ञ तथा अशास्त्रज्ञ सबका नियन्ता होने से क्षत्रिय का भी नियामक है)॥ १४॥

आत्मोपासना आवश्यक है। वे ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। इनका स्रष्टा ब्रह्म अग्निरूप से देवताओं में ब्राह्मण जाति हुआ। वही ब्रह्म मनुष्यों में ब्राह्मणरूप से ब्राह्मण, क्षत्रियरूप से क्षत्रिय, वैश्यरूप से वैश्य और शूद्ररूप से शूद्र हो गया। इसीलिये अग्नि में ही देवताओं के बीच कर्म करते हुये कर्म फल की इच्छा करते हैं, क्योंकि इन्हीं अग्नि तथा ब्राह्मण दोनों रूप से ब्रह्म प्रकट हुआ था और जो भी कोई पुरुष आत्मा को जाने बिना ही इस लोक से चला जाता है। यह अज्ञात आत्मलोक शोकादि निवृत्ति के द्वारा पालन नहीं करता, जैसे अध्ययन के बिना स्वरूपतः वेद, या अनुष्ठान के बिना स्वरूपतः कोई अन्य कर्म पुरुष का पालन नहीं करता। अतः आत्मा को न जानने वाला पुरुष यदि इस लोक में कोई महान् पुण्य करता भी हो तो अन्त में उसका वह सुकृत नष्ट हो ही जाता है। अतः आत्मलोक की ही उपासना करता है, उसका कर्म नष्ट नहीं होता। इस आत्मा से ही पुरुष जिस-जिस को चाहता है, उस-उस को बना लेता है॥ १५॥

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाꣳस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवꣳ हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमाꣳसितम्॥ १६ ॥

अधिकारी जीव किन कर्मों से सम्पूर्ण प्राणियों का लोक माना गया है?

यह (जो कर्माधिकारी अज्ञानी गृहस्थरूप) आत्मा है वह समस्त जीवों का भोग्य है। वह जो होम यज्ञ करता है उससे देवताओं का वह भोग्य बन जाता है। जो स्वाध्याय करता है, उससे ऋषियों का, जो पितरों के लिये पिण्ड देता है—तथा सन्तान को चाहता है, उससे पितरों का, जो मनुष्यों को निवास स्थान और भोजन देता है, इससे मनुष्य का, एवं जो पशुओं को तृण जलादि देता है उससे पशुओं का भोग्य हो जाता है। अतः इस मुमुक्षु के घर में कुत्ते बिल्ली आदि जो श्वापद पक्षी और चींटीपर्यन्त जीवजन्तु उस उपासक के आश्रित होकर जीते हैं। इसी से यह उनका भोग्य होता है। जैसे लोक में अपने शरीर का नाश नहीं चाहते हैं, वैसे ही ऐसा जानने वाले को सभी जीव अविनाशी रूप से देखना चाहते हैं। उस इस कर्म को नित्य अनुष्ठेयता पंच महायज्ञ प्रसंग से ज्ञात होती है तथा अवदान प्रकरण में इनकी व्यख्या की गयी है॥ १६ ॥

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान् वै कामो नेच्छꣳश्च नातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्यात्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवꣳ श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति स एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पाङ्क्तः पुरुषः पाङ्क्तमिदꣳ सर्वं यदिदं किंच तदिदꣳ सर्वमाप्नोति य एवं वेद॥ १७॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥ (४)॥

प्रवृत्ति के बीज काम एवं पाङ्क्त कर्म का निरूपण

(स्त्री सम्बन्ध होने से) पहले यह एक देह इन्द्रिय संघात रूप आत्मा ही था। उसने (अविद्या जनित वासना से युक्त हो) कामना की, कि कर्माधिकार की हेतुरूपा स्त्री मुझ कर्त्ता को होवे अर्थात् कर्माधिकार की प्राप्ति के लिये मुझे स्त्री मिले। फिर मैं प्रजारूप से स्वयं ही उत्पन्न होऊँ तथा मुझे गवादि रूप धन हो। फिर मैं (अभ्युदय एवं कल्याण का साधन रूप) कर्म करूँ। बस इतने विषय से परिच्छिन्न ही काम है। इच्छा करने पर इससे अधिक कोई नहीं पाता। अतएव अब भी अकेला पुरुष पहले यही कामना करता है कि मुझे स्त्री मिले। फिर मैं संतान रूप से उत्पन्न होऊँ और धन हो तो फिर मैं कर्म करूँ। वह जब तक इनमें से एक-एक को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह अपने को अधूरा ही मानता है, इसकी पूर्णता इस प्रकार कही गयी है। (बाह्य साधन के अभाव में) मन ही इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है, क्योंकि मन रूप स्वामी का अनुकरण वाणी रूप स्त्री ही करती है। प्राण संतान है और नेत्र मानुष वित्त है, क्योंकि वह पुरुष नेत्र से ही गवादि मानुष वित्त को जानता है। श्रोत्र दैव वित्त है, क्योंकि श्रोत्र से ही वह पुरुष दैव वित्त रूप कर्म को सुनता है। शरीर ही इसका कर्म है, क्योंकि शरीर रूप आत्मा से ही यह कर्म करता है। वह यह यज्ञ पाङ्क्त है। पशु पाङ्क्त है मन, वाणी, प्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच से सम्पादित को पाँक्त कहते हैं। पुरुष पाङ्क्त है, विशेष क्या, यह कर्म का साधन और फल सभी पाङ्क्त हैं। 'सभी पाङ्क्त हैं' जो कोई ऐसा जानता है (भावना करता है) वह इस सम्पूर्ण जगत् को आत्मरूप से प्राप्त कर लेता है॥ १७॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता। एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत्। त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा। यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन। स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः॥ १॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत्पितैकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते। स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रꣳ ह्येतद्द्वे देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति। तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात्। पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत्पयः। पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात् कुमारं जातं घृतं वै वाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वानुधापयन्त्यथ वत्सं

अथ सप्तान्नपञ्चमं ब्राह्मणम्

सप्तान्न की सृष्टि और उसके विभाग की व्याख्या

प्रजापति ने विज्ञान तथा कर्म से जिन सात अन्नों की सृष्टि की है, उनमें से यवादिरूप एक अन्न इसका साधरण है। अर्थात् वह सभी प्राणियों का भोग्य है। (हुत और प्रहुतरूप) दो अन्न उसने देवताओं को विभाग करके दे दिया है। तीन अन्न अपने लिये रक्खे। दुग्धरूप एक अन्न पशुओं को दिया। उस पशु अन्न में वे सभी प्रतिष्ठित है जो प्राणन क्रिया करते हैं और जो नहीं करते हैं। ये अन्न सदा सर्वदा खाये जाने पर भी क्षीण क्यों नहीं होते? जो कोई इस अन्न के अविनश्वर भाव को जानता है, वह मुखरूप प्रतीक के द्वारा अन्न खाता है। वह देवताओं को प्राप्त होता है तथा अमृत का जीवनार्थ आश्रय लेता है। ऐसे ये मन्त्र हैं॥ १॥

यह बात प्रसिद्ध है कि पिता ने ज्ञान और कर्म के द्वारा ही सप्तान्न की सृष्टि की। उनमें से एक अन्न उसका साधारण है जोकि यह खाया जाता है, यही इसका साधारण अन्न है। जो इस साधारण अन्न की उपासना असाधारण स्वशरीरस्थिति हेतु न अदृष्टार्थ कर्म प्रधान मान कर करता है, वह पाप से दूर नहीं होता क्योंकि यह अन्न समस्त प्राणियों का मिला जुला है। उस परमेश्वर

जातमाहुरतृणाद इति। तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीदꣳ सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्सर्वꣳ हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते। यो वैतामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते। कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशꣳसा ॥ २॥

ने हुत और प्रहुतरूप दो अन्न देवताओं को विभाग करके दिया। इसीलिये गृहस्थ पुरुष देवताओं के लिये वहन और बलि भेंट करते हैं। कुछ लोगों ने दर्श और पूर्णमास को देवताओं के दो अन्न कहे हैं। इसीलिये सकाम इष्टियों के यजन में प्रवृत्त न हों। वह दुग्ध नामक एक अन्न पशुओं को दिया। अतः मनुष्य और पशु पहले दुग्ध के ही आश्रय जीते हैं। इसीलिये सद्योजात बालक को घृत चटाते हैं या स्तन्य पान कराते हैं जो उत्पन्न हुए बछड़े को भी तृण भक्षण न करने वाला कहा करते हैं। जो प्राणन क्रिया करते हैं और जो नहीं करते हैं वे सब पश्वन्न दुग्ध में ही प्रतिष्ठित हैं। अतः एक वर्ष तक दुग्ध से हवन करने वाला पुरुष अपमृत्यु को जीत लेता है ऐसा नहीं समझना चाहिये, तथ्य तो यह है कि वह जिस दिन दुग्ध से हवन करता है उसी दिन अपमृत्यु को जीत लेता है, एक वर्ष तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। इस प्रकार की उपासना करने वाला पुरुष देवताओं को सम्पूर्ण भक्ष्य प्रदान करता है, फिर सदा खाये जाने परभी वे अन्न नष्ट क्यों नहीं होते? इसका एकमात्र यही कारण है कि इसका जनक पुरुष अविनाशी है। अतः वही बारम्बार आवश्यकतानुसार उसे उत्पन्न कर देता है। अन्न के इस अविनाशी भाव को जो भी जानता है अर्थात् पुरुष ही अविनाशी है। वही इस अन्न को ज्ञान एवं कर्म से उत्पन्न कर देता है। यदि वह पुरुष इसे उत्पन्न नहीं करता, तो वह अन्न भक्षण किये जाने पर नष्ट हो जाता। ऐसा जो जानता है, वह मुखरूप प्रतीक के द्वारा अन्न भक्षण करता है। वह देवताओं को प्राप्त होता है और अमृत के आश्रित जीता है। ऐसी फलश्रुति प्रशंसामात्र के लिये है॥ २॥

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः कश्चन शब्दो वागेव सैषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः॥ ३॥

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः॥ ४॥

त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः॥ ५॥

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः॥ ६॥

पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा॥ ७॥

आत्मा के तीनो अन्नों की आध्यात्मिक व्याख्या

उस पिता ने तीन अन्न अपने लिये बनाया अर्थात् मन वाणी और प्राण इन्हें प्रजापतिने अपने लिये सुरक्षित रखा। मेरा मन कहीं अन्य स्थान में था। अतः मैं देख न सका। मेरा मन अन्यत्र था, इसीलिये मैं सुन न सका। मनुष्य की इस उक्ति से यही निश्चय होता है, वह मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है। काम, संकल्प, संशय, आस्तिक्य, बुद्धि, श्रद्धा, तद्विपरीत अश्रद्धा, धारणशक्ति, अधृति, लज्जा, बुद्धि और भय ये सब मन ही हैं। इसीलिये पृष्ठ–भाग में स्पर्श किये जाने पर मानव मन से जान लेता है। जो कुछ भी शब्द है वह वाक्रूप ही है, क्योंकि यह अपने वाच्य अर्थ के पर्यवसान में अनुगत है। इसीलिये वह प्रकाश्य नहीं है। प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान और अन ये सब प्राण ही हैं अर्थात् प्राण के ही पाँच भेद हैं। यह शरीररूप आत्मा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय ही है॥ ३॥

आत्मा के अन्नों का भौतिक विस्तार

भूर्भुवः और स्वः नाम के यही तीनों लोक हैं। उनमें वाणी ही यह लोक है, मन अन्तरिक्षलोक है और प्राण वह (स्वर्ग) लोक है॥ ४॥ यही तीनों वेद हैं, वाक् ही ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है॥ ५॥ देवता पितृगण और मनुष्य भी यही हैं। वाक् देवता है, मन पितृगण है और प्राण मनुष्य है॥ ६॥ पिता, माता तथा प्रजा भी यही हैं। वाक् माता है, मन ही पिता है और प्राण प्रजा है॥ ७॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत्किंच विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति ॥ ८ ॥

यत्किंच विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वाऽवति ॥ ९ ॥

यत्किंचाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति ॥ १० ॥

तस्यैव वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्यावत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥ ११ ॥

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनꣳ समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात भी यही हैं। जो कुछ विस्पष्टरूप से ज्ञात है वह वाक् का रूप है (प्रकाशक होने के कारण) वाक् ही विज्ञाता है। (इस प्रकार वाक् की विशेषता को जानने के लिये फल बतलाया गया है) इस जानने वाले की रक्षा विज्ञात होकर वाक् करती है ॥ ८ ॥ जो कुछ विस्पष्ट रूप से जानने योग्य अभीष्ट है, वह सब मन का रूप है क्योंकि (मन ही संशयरूप होने के कारण) विजिज्ञास्य है। मन के इस विभूति को जानने वाले की रक्षा विजिज्ञास्य होकर मन ही करता है ॥ ९ ॥ जो कुछ अविज्ञात है वह प्राण का ही रूप है क्योंकि प्राण ही अविज्ञात होकर अपनी विभूति को जानने वाले की रक्षा करता है ॥ १० ॥

आत्मा के लिये अन्न का अधिदैविक विस्तार

(प्रजापति के अन्नरूप से प्रस्तुत हुये) उस वाक् का पृथिवी बाह्य आधार और पृथिवी का आधेय स्वरूप यह पार्थिव अग्नि ज्योतिरूप प्रकाशात्मक कारण है उनमें जितने परिणामवाली (अध्यात्म और अधिभूत भेदवाली) वाक् है, उतनी ही उसके आधाररूप से व्यवस्थित पृथिवी है और उतना ही उस पृथिवी में ज्योतिरूप से अनुप्रविष्ट आधेय एवं कारणरूप यह अग्नि है ॥ ११ ॥

इन्द्ररूप प्राण की उत्पत्ति तथा उपासना का फल

तथा प्राजापत्य अन्नरूप से कहे हुये मन का द्युलोक शरीर (आधार) है। ज्योतिरूप वह आदित्य है। वहाँ पर जितना मन है, उतना ही आदित्य है। वे आदित्य और अग्नि परस्पर संसर्ग को प्राप्त हुये। उससे प्राण उत्पन्न हुआ। वह इन्द्र है और शत्रुहीन है। क्योंकि अपने से भिन्न ही शत्रु हुआ करता है। जो इस रहस्य को जानता है उस विद्वान् का कोई प्रतिपक्षी नहीं होता ॥ १२ ॥

अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तꣳ स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तꣳ स लोकं जयति॥ १३॥

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावास्याꣳ रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेताꣳ रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै॥ १४॥

आत्मा के अन्नों की उपासना का फल

और इस प्राण का जल शरीर (आधार) है वह चन्द्रमा ज्योतिरूप है। वहाँ पर आध्यात्मिक भेद से जितने परिणाम वाला प्राण है उतने ही परिणामवाला आधेयभूत जल भी है। एवं उतना ही वह चन्द्रमा है। वे ये (वाक् मन और प्राण) सभी समान हैं और सभी (संसार की स्थितिपर्यन्त रहने वाले होने से) अनन्त हैं। जो कोई इन्हें परिच्छिन्न समझकर उपासना करता है वह परिच्छिन्नलोक पर विजय प्राप्त करता है और जो इन्हें अनन्त समझकर उपासना करता है वह अनन्तलोक पर विजय प्राप्त करता है॥ १३॥

तीन अन्नरूप प्रजापति के षोडशकल संवत्सररूप का वर्णन

वह यह तीन अन्नरूप संवत्सर प्रजापति सोलह कलाओं वाला है। उसकी रात्रियाँ ही पन्द्रह कलाएँ हैं। तथा उस प्रजापति की सोलहवीं कला कभी भी क्षीण नहीं होने वाली होने से नित्य ही है। वह संवत्सर प्रजापति रात्रियों से ही शुक्लपक्ष में बढ़ता है तथा कृष्णपक्ष में क्षीण होता है। अमावस्या की रात्रि में वह संवत्सररूप प्रजापति इस सोलहवीं कला से इन समस्त प्राणियों में अनुप्रवेश कर फिर दूसरे दिन प्रातःकाल द्वितीय कला से संयुक्त होकर उत्पन्न होता है। अतः इस रात्रि में किसी प्राणी के प्राण विच्छेद न करें। यहाँ तक कि इस संवत्सररूप देवता की पूजा के लिये इस अमावस्या की रात्रि में गिरगिट को भी न मारे (अमङ्गलरूप पापी प्राणी गिरगिट को स्वभाव से लोग मार डालते हैं इसे मारने का भी निषेध इस रात्रि में किया जाता है)॥ १४॥

योवै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते, तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनाऽगादित्येवाहुः ॥ १५ ॥

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको वै लोकानाꣳ श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशꣳसन्ति ॥ १६ ॥

अन्न के उपासक ही षोडशकल संवत्सर प्रजापति है

जो भी वह सोलह कलाओं वाला संवत्सर प्रजापति है वह यही है। जो इस प्रकार अन्न त्रयरूप प्रजापति को जानने वाला पुरुष है। वित्त ही उसकी पन्द्रह कलाएँ हैं तथा शरीर ही उस रहस्य वेत्ता की सोलहवीं कला है। वह चन्द्रमा के समान गौ, अश्वादि वित्त से ही बढ़ता है और क्षीण होता है। यह जो शरीर है वह रथचक्र की नाभिरूप है और वित्त रथचक्र के बाहर का घेरारूप नेमि है। अतः सर्वस्व नष्ट हो जाने के कारण यदि पुरुष हीन हो जाय, पर शरीर से जीवित रहे तो यही कहते हैं कि केवल प्रधि (नेमि) से ही क्षीण हुआ है अर्थात् धनाभाव हो जाने पर भी जीवित पुरुष पुनः धन को प्राप्त कर सुखी हो जाता है॥ १५ ॥ अथ मनुष्यलोक पितृलोक और देवलोक यही तीन लोक हैं। उनमें से वह यह मनुष्यलोक पुत्र के द्वारा ही जीता जा सकता है किसी अन्य कर्म से नहीं, तथा कर्म से पितृलोक और उपासना से देवलोक जीते जा सकते हैं। इन लोकों में देवलोक ही श्रेष्ठ है। इसीलिये देवलोक प्राप्ति के साधनभूत विद्या की प्रशंसा करते हैं॥ १६ ॥

अथातः संप्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति यद्वै किंचानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता। ये वै के च यज्ञास्तेषाꣳ सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषाꣳ सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इदꣳ सर्वमेतन्मा सर्वꣳ सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति स यदेवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति। स यद्यनेन किंचिदक्ष्णयाऽकृतं भवति तस्मादेनꣳ सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते देवाः प्राणा अमृता आविशन्ति॥ १७॥

सम्प्रत्ति कर्म और उसका फल

अब इसके बाद सम्प्रदान कर्म कहा जाता है। जब पिता (मरण चिह्न को देखकर) यह समझता है कि अब मैं मरने वाला हूँ? उस समय पुत्र को बुला कर कहता है "तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है" इस प्रकार पिता से शिक्षा प्राप्त कर वह पुत्र प्रत्युत्तर में कहता है 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं लोक हूँ' (इन तीनों वाक्य की व्याख्या स्वयं श्रुति करती है)। जो कुछ भी अनूक्त स्वाध्याय है, उस सबकी 'ब्रह्म' यह एकता है। जो कुछ भी न किया हुआ यज्ञ है उन सबकी 'यज्ञ' यह एकता है और जो कुछ भी ज्ञातव्य लोक है उनकी 'लोक' यह एकता है। बस! यह इतना ही गृहस्थ पुरुष का सम्पूर्ण पालनीय कर्त्तव्य है। (फिर पिता यह समझता है कि) मेरे अधीन इस सम्पूर्णभार को यह अपने ऊपर लेकर इस लोक से जानेपर मेरा पालन करेगा। अतः इस प्रकार उस अनुशासन किये हुए पुत्र को लोक प्राप्ति में हितकर होने से लोक्य कहते हैं। इसी से पिता उसको शिक्षा देता है। ऐसे विज्ञान वाला वह पिता जब इस लोक से जाता है तो अपने उन्हीं प्राणी के साथ पुत्र में व्याप्त हो जाता है। किसी असावधानी से उस पिता के द्वारा कोई कर्त्तव्यकर्म पूर्ण नहीं हुआ होता, तो उस कर्म से उसका पुत्र उसे मुक्त कर देता है। इसी से उसका नाम पुत्र है, क्योंकि अपूर्ण कर्म की पूर्ति के द्वारा पिता का वह त्राण करता है। वह पिता पुत्र के द्वारा ही इस लोक में प्रतिष्ठित होता है। फिर उस पिता में ये वागादि हिरण्यगर्भ सम्बन्धी अमरणधर्मा प्राण प्रवेश करते हैं॥ १७॥

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति॥ १८॥

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनो येनानन्द्येव भवत्यथो न शोचति॥ १९॥

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणो यः संचरꣳश्चासंचरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एवंवित्सर्वेषां भूतानामात्मा भवति यथैषा देवतैवꣳ स यथैतां देवताꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवꣳ हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्ति। यदु किंचेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवासां तद्भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान् पापं गच्छति॥ २०॥

सम्प्रत्ति कर्म के कर्ता में वागादि प्राणों के आवेश का प्रकार

इस सम्प्रत्ति कर्म करने वाले में पृथिवी और अग्नि से आधिदैविक वाक् का आवेश होता है, क्योंकि पृथिवी और अग्निरूपा दैवी वाक् सभी वाणी की उपादान भूता है। अतः वही दैवी वाक् है। जिससे पुरुष जो भी बोलता है वह अमोघरूप से वैसा ही हो जाता है॥ १८॥ द्युलोक और आदित्य से इस पुरुष में दैव मन का आवेश होता है। स्वभाव से निर्मल होने के कारण दैव मन वही है, जिस मन से वह सुखी होता है और कभी शोक नहीं करता॥ १९॥ जल और चन्द्रमा से इस पुरुष में दैव प्राण आविष्ट होता है। सुख दुःखादि से मुक्त होने के कारण वही दैव प्राण है। (जो समष्टि और व्यष्टिरूप से प्राणियों में) संचार करता हुआ और संचार न करता हुआ व्यथित नहीं होता और न नष्ट ही होता है। वह इस प्रकार जानने वाला पुरुष समस्त प्राणियों का आत्मा होता है। जैसा यह हिरण्यगर्भ देवता है वैसा ही वह अपरिच्छिन्न हो जाता है। जैसे समस्त प्राणी इस हिरण्यगर्भ देवता का पालन करते हैं, वैसे ही इस उपासक का पालन सभी भूत करते हैं। ये प्रजाएँ जो कुछ भी शोक करती हैं वह शोकजन्य दुःख इन प्रजाओं के साथ ही रहता है। उस विद्वान् को तो पुण्य ही प्राप्त होता है, क्योंकि देवताओं के पास पाप नहीं जाता॥ २०॥

अथातो व्रतमीमाꣳसा, प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिरे। अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरꣳश्चासंचरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवꣳस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम्॥ २१॥

अध्यात्म प्राणदर्शन रूप व्रत की मीमांसा

अब यहाँ से व्रत का विचार किया जाता है। प्रजापति ने कर्म के साधन भूत वागादि करणों की सृष्टि की। सृष्टि हो जाने पर वे सभी कर्म परस्पर संघर्ष करने लगे। वाक् ने व्रत लिया कि मैं बोलती ही रहूँगी। मैं देखता ही रहूँगा, ऐसा नेत्र ने व्रत लिया और मैं सुनता ही रहूँगा ऐसा श्रोत्र ने व्रत लिया। ऐसे ही अपने-अपने कर्मानुसार अन्य सभी इन्द्रियों ने भी व्रत लिया। तब सबका मारक मृत्यु ने परिश्रम कर उन्हें पकड़ लिया और उनमें व्याप्त हो गया। उनमें व्याप्त होकर मृत्यु ने उनका अवरोध किया अर्थात् अपने-अपने कर्मों से च्युत कर दिया। इसीलिये ये भाषण में प्रवृत्त हुई वाणी श्रान्त हो जाती है। देखने में प्रवृत्त हुआ नेत्र श्रान्त होता ही है और शब्द सुनने में श्रोत्र भी श्रान्त हो जाता है। पर यह जो मध्यम प्राण है, केवल इसी में वह मृत्यु व्याप्त न हो सका। इस अद्भुत घटना से इन्द्रियों ने कभी न थकने वाले उस प्राण को जानने का निश्चय किया। निश्चय हम सब में यही श्रेष्ठ है। जो संचार करता हुआ और न करता हुआ कभी थकता नहीं और न क्षीण ही होता है। अस्तु हम सब भी इस ज्येष्ठ प्राण के रूप हो जायँ। ऐसा निश्चय कर वे वागादि सभी इन्द्रियाँ इसी मुख्य प्राण के रूप हो गयीं। इसीलिये वे इसी के नाम से "प्राण" ऐसा कही जाती हैं। अतएव जो कोई ऐसा जानता है, वह विद्वान् जिस कुल में उत्पन्न होता है, वह कुल उस विद्वान् के नाम से पुकारा जाता है और जो इस विद्वान् से संघर्ष करता है, वह सूख जाता है और सूखकर अन्त में मर जाता है। यही अध्यात्म प्राण दर्शन है॥ २१॥

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यहमित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादैवतꣳ स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुर्म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषानस्तमिता देवता यद्वायुः॥ २२॥

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मꣳ स एवाद्य स उ श्व इति यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति। तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति यद्यु चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यꣳ सलोकतां जयति॥ २३॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम्॥ (५)॥

अधिदैव दर्शन

अब आगे देवता विषयक दर्शन कहा जाता है। अग्नि ने व्रत लिया कि मैं जलता ही रहूँगा। सूर्य ने नियम किया कि मैं तपता ही रहूँगा तथा चन्द्रमा ने निश्चय किया कि मैं प्रकाशित होता ही रहूँगा। ऐसा ही अपने-अपने व्यापारानुसार अन्य देवताओं ने भी व्रत लिया। जैसे इन वागादि प्राणों में मध्यम प्राण है, वैसे ही इन देवताओं में मध्यम वायु है, क्योंकि अन्य देवता अस्त हो जाते हैं परन्तु वायु अस्त नहीं होता। यह जो वायु देवता है, वह कभी भी अस्त न होने वाला देवता है॥ २२॥

प्राण व्रत का स्तावक मन्त्र

इसी अर्थ का प्रकाशक यह मन्त्र है। ''जिस वायु देव से सूर्य उदित होता है और जिसमें वह सूर्य अस्त होता है'' इत्यादि, यह प्राण से ही उदित होता है और प्राण में ही अस्त होता है। उस धर्म को देवताओं ने धारण किया अर्थात् अध्यात्म और अधिदैव ने क्रमशः प्राणव्रत और वायुव्रत को धारण किया, वही आज भी चल रहा है और कल भी रहेगा। देवताओं ने उस समय जो व्रत को धारण किया था वे वही कार्य आज भी कर रहे हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति एक ही व्रत का आचरण करे। प्राण और अपान व्यापार करे (एवं इन्द्रिय व्यापार का परित्याग करदेवे, क्योंकि)। इन्द्रियों की भाँति मुझे भी कहीं पापी मृत्यु दबोच न डाले, इस भय से इस व्रत का आचरण करे और यदि इसका आचरण प्रारम्भ करे, तो इसे समाप्त करने की इच्छा रखे। इससे वह व्रत करने वाला उस देवता के साथ सायुज्य और सालोक्य प्राप्त करता है॥ २३॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम्॥

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि स्र्वाणि नामानि बिभर्ति॥ १॥

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति॥ २॥

अथोक्तथषष्ठं ब्राह्मणम्

पूर्वोक्त अविद्या कार्य का उपसंहार और नाम सामान्य रूप का वर्णन

नाम, रूप और कर्म यह तीन का समुदाय है और यही त्रय है। उन नामों की "वाक्" यह उक्थ अर्थात् कारण है, क्योंकि सम्पूर्ण नाम इसी वाक् से उत्पन्न होते हैं। यह वाक् ही इन नामों का साम है (क्योंकि देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नाम विशेष इसी से विभक्त होते हैं) यही सब नामों में समान है (वाक् रूप सामान्य से ही नाम विशेष का विभाग लोक में देखा गया है, इसीलिये नाम का उपादान कारण वाक् को कहा गया है)। यह वाक् ही नाम विशेष का 'ब्रह्म' यानी आत्मा है, क्योंकि यही समस्त नामों को धारण पोषण करती है॥ १॥

रूप का सामान्य चक्षु है

अब शुक्ल नीलादि रूपों का सामान्य चक्षु है। यह उपादान कारण है। इसी चक्षु से समस्त रूप उत्पन्न होते हैं। यह ही उन रूपों का साम है, क्योंकि यह समस्त रूपों का प्रकाशक होने से उनमें सम है। यह चक्षु ही इन नीलादि रूपों का आत्मा है, क्योंकि यही समस्त रूपों को धारण करता है॥ २॥

कर्म सामान्य आत्मा में सबका अन्तर्भाव

और चलन, दर्शन, मननादि सम्पूर्ण कर्मों का सामान्य शरीर है। यही उन क्रियाओं का उपादान कारण है, इस शरीर से ही सब कर्म उत्पन्न होते हैं। यह शरीर इसका साम है, क्योंकि यह समस्त कर्मों में समान होने से सम है। यह

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाᳲ सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत्त्रयᳲ सदेकमयमात्माऽऽत्मो एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतᳲ सत्येन च्छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः॥ ३ ॥ इति षष्ठं ब्राह्मणम्॥ (६)॥ इति प्रथमः प्रपाठकः ॥ (१)॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

ॐ। दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति॥ १ ॥

शरीर उन कर्मों का आत्मा है, क्योंकि यही समस्त कर्मों को धारण करता है। वह यह नाम, रूप और कर्म तीन होते हुए भी संघात रूप से एक आत्मा (शरीर) है और यह कार्य कारण संघात रूप आत्मा एक होते हुए तीन हैं। वह यह अमृत लिंग शरीरावस्थित, कार्यात्मक नाम, रूप सत्य से आच्छादित है। यहाँ पर प्राण ही अमृत है। और नाम, रूप सत्य है, इनसे यह अविनाशी प्राण अप्रकाशित है स्थूलदेह के पुनः पुनः नष्ट होने पर भी सूक्ष्म शरीरात्मक प्राण को मोक्षपर्यन्त स्थायी होने से अमृत कहा गया है। जो नामरूपात्मक सत्यपद वाच्य स्थूल से आव्छादित है। अतएव उसे अप्रकाशित कहा है। (यहाँ तक अविद्या के विषय संसार का स्वरूप दिखलाया गया। अब विद्या के विषय आत्मा को कहेंगे) ॥ ३ ॥

॥ इति प्रथमाध्यायः, षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ द्वितीयाध्यायेऽजातशत्रुप्रथमं ब्राह्मणम्

गार्ग्य और अजातशत्रु का संवाद

किसी काल विशेष में गार्ग्य गोत्रीय गर्वीला बालाकि नामक बहुत बोलने वाला था। उसने काशीराज अजातशत्रु के पास जाकर बोला, मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँ? इस पर अजातशत्रु ने कहा—इस माङ्गलिक वचन के लिये मैं आप को सहस्र गौएँ देता हूँ। लोग जनक-जनक ऐसा कह कर उसी के पास दौड़े जाते हैं (लोक में यह प्रसिद्ध है, जनक बड़ा दानी और बड़ा श्रोता है, ये दोनों बातें अपने इस माङ्गलिक वचन से मुझे अत्यन्त सुलभ कर दिये हैं। अतएव मैं आपको हजार गौएँ देता हूँ) ॥ १ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति॥ २॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते॥ ३॥

गार्ग्य द्वारा प्रतिपादित आदित्यादि में ब्रह्मरूपता का अजातशत्रु द्वारा खंडन

उस गार्ग्य ने कहा यह जो आदित्य में पुरुष है, मैं ब्रह्मरूप से इसी की उपासना करता हूँ। इस पर उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं इस सम्बन्ध में बात न करो (इस ब्रह्म को मैं भी जानता हूँ)। यह तो सबका अतिक्रमण करके स्थित है, यह समस्त भूतों का मस्तक है एवं दीप्तिमान् है। इसी प्रकार से मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो भी कोई पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सभी भूतों का अतिक्रमण करके स्थित हो समस्त प्राणियों का मस्तक और राजा हो जाता है (क्योंकि जैसे गुण वाले की उपासना की जाती है, वैसा ही फल मिलता है)॥ २॥ उस गार्ग्य ने कहा—यह जो चन्द्रमा में पुरुष स्थित है, उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं! इसके सम्बन्ध मे बात न करो (इस ब्रह्म को मैं भी जानता हूँ)। यह तो महान् है, शुक्ल वस्त्रधारी सोम राजा है। मैं इसी प्रकार इसकी उपासना करता हूँ, जो भी कोई पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके लिये प्रतिदिन सोमसुत और प्रसुतरूप होकर उपस्थित होता है अर्थात् प्रकृति-विकृति दोनों प्रकार के यज्ञानुष्ठान में उसे सामर्थ्य प्राप्त होता है तथा उसका अन्न कभी क्षीण नहीं होता॥ ३॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति॥ ४॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते॥ ५॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी॥ ६॥

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो विद्युत् में पुरुष है, इसे ही मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब अजातशत्रु ने कहा—नहीं-इस सम्बन्ध में बात न करो (इसे मैं जानता हूँ) तब अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं इस सम्बन्ध में बात न करो (इसे मैं जानता हूँ) और इसकी तो मैं तेजस्वीरूप से उपासना करता हूँ जो भी कोई पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वयं तेजस्वी होता है, उसकी प्रजा भी तेजस्विनी होती है (विद्युत् के बाहुल्य से इस उपासक के प्रजाबाहुल्यरूप भी सम्भव है)॥ ४॥ उस गार्ग्य ने कहा—यह जो आकाश में पुरुष है, इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं इस सम्बन्ध में बात न करो (मैं जानता हूँ) और इसकी उपासना पूर्ण तथा अप्रवर्तिरूप से करता हूँ। जो कोई इस आकाश की इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओं से पूर्ण होता है तथा इस लोक में उसकी प्रजा संतति का विच्छेद नहीं होता॥ ५॥ उस गार्ग्य ने कहा—यह जो वायु में पुरुष है, ब्रह्मरूप से मैं इसकी उपासना करता हूँ। उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो, इसे मैं जानता हूँ। इसकी तो मैं परमेश्वर, वैकुण्ठ और अपराजिता सेनारूप से उपासना करता हूँ (मरुतों का एक रूप होना प्रसिद्ध है)। जो कोई इसकी इस रूप से उपासना करता है, तो वह जयनशील, दूसरे से कभी न हारने वाला और शत्रुओं का विजेता होता है॥ ६॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति ॥ ७ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपꣳ हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥ ८ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्यप्रजा भवत्यथो यैः सन्निगच्छति सर्वाꣳस्तानतिरोचते ॥ ९ ॥

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो अग्नि में पुरुष है, इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं इस सम्बन्ध में चर्चा न करो। (इसे मैं जानता हूँ और) इसकी मैं विषासहि (दूसरों को सहन करने वाला) रूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना कारता है, निःसन्देह वह स्वयं विषासहि होता है और उसकी प्रजा विषासहि होती है ॥ ७ ॥ उस गार्ग्य ने कहा—यह जो जल में पुरुष है, मैं ब्रह्मरूप से इसी की उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो। इसकी मैं प्रतिरूप (श्रुति, स्मृति के अनुकूल) से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके पास प्रतिरूप ही आता है, उसके विपरीत नहीं आता और उससे प्रतिरूप संतति उत्पन्न होती है ॥ ८ ॥ उस गार्ग्य ने कहा—यह जो दर्पण में पुरुष है, इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। इस पर अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, इसकी चर्चा न करो, इसकी तो मैं दीप्तिशालीरूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस रूप से उपासना करता है निःसन्देह वह दीप्ति स्वभाव वाला हो जाता है और उसकी प्रजा भी दीप्तिशाली होती है, तथा जिनसे उसका समागम होता है, उन सभी से बढ़कर दीप्तिमान् होकर चमकता है ॥ ९ ॥

गार्ग्य ने कहा—जाते हुए वायु के पीछे जो यह शब्द होता है, इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, इसके विषय में बात न करो। इसकी मैं प्राणरूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति॥ १०॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान् ह भवति नास्माद्गणश्छिद्यते॥ ११॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति॥ १२॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वी ह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः॥ १३॥

उपासना करता है, वह इस लोक में पूर्ण आयु प्राप्त करता है और नियत समय से पूर्व प्राण इसे नहीं छोड़ता॥ १०॥ उस गार्ग्य ने कहा—यह जो दिशाओं में पुरुष है इसकी मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा—इस सम्बन्ध में बात न करो। इसकी तो मैं द्वितीय और अनपगम (पृथक् न होने वाला) रूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार से उपासना करता है, वह द्वितीयवान् होता और उससे गण का विच्छेद नहीं होता॥ ११॥ उस गार्ग्य ने कहा—यह जो छाया में पुरुष है इसकी ही मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो। इसकी मैं मृत्युरूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार से उपासना करता है, वह इस लोक में पूर्ण आयु प्राप्त करता है और नियत समय से पहले इसके पास मृत्यु नहीं आता॥ १२॥ उस गार्ग्य ने कहा—यह जो बुद्धि में पुरुष है, उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, उसके विषय में बात न करो। इसकी मैं आत्मन्वीरूप से उपासना करता हूँ। स्वतन्त्र जो कोई इसकी इस रूप से उपासना करता है वह निःसन्देह आत्मवान् होता है और उसकी प्रजा की संतति भी बुद्धिमती होती है। इसके बाद वह गार्ग्य चुप हो गया (क्योंकि इससे अधिक ब्रह्म का ज्ञान उसे था नहीं)। अतः वह नतमस्तक हो गया॥ १३॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू३इत्येतावद्धीति नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उप त्वा यानीति॥ १४॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयांचक्रे बृहन्पाण्डरवासः सोम राजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिना पेषं बोधयांचकार स होत्तस्थौ॥ १५॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः॥ १६॥

पराभूत गार्ग्य का अजातशत्रु के पास उपसन्न होना

उस अजातशत्रु ने कहा—क्या इतना ही तू जानता है? गार्ग्य ने कहा—हाँ हमें इतना ही ब्रह्म विदित है। अजातशत्रु ने कहा—इतना जानने से तो ब्रह्म विदित नहीं होता। तब उस गार्ग्य ने कहा—मैं आपके शरणापन्न हूँ, मुझे आप ब्रह्म का उपदेश करें ॥ १४॥

प्राणों के नाम से न उठने पर उसे हाथ से दबा-दबा कर जगाना

उस अजातशत्रु ने कहा—यद्यपि यह विपरीत बात है कि क्षत्रिय के प्रति ब्राह्मण इस उद्देश्य से जावे कि यह क्षत्रिय मुझे ब्रह्म का उपदेश करेगा (इस प्रतिलोम विधि का शास्त्रों में निषेध किया गया) तो भी मैं तुझे उस ब्रह्म का बोध कराऊँगा ही। उसके बाद वह अजातशत्रु उस गार्ग्य ब्राह्मण के हाथों को पकड़कर उठ खड़ा हुआ और वे दोनों एक सोये हुये पुरुष के पास आये। वहाँ पर हे ब्रह्मन्! हे पाण्डरवास! हे सोम राजन्! इन नामों से अजातशत्रु ने उस सुषुप्त पुरुष को पुकारा किन्तु वह सोया हुआ पुरुष न उठा। तत्पश्चात् हाथ से दबा-दबा कर उस सुषुप्त पुरुष को जगाया, इससे वह उठ बैठा॥ १५॥

सुषुप्ति के विज्ञानमय पुरुष के विषय में प्रश्न

(इस प्रकार देह से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करके गार्ग्य से) उस अजातशत्रु ने कहा—हाथ से दबाकर जगाने से पूर्व जब यह विज्ञानमय पुरुष सोया हुआ था, उस समय वह कहाँ था और यह कहाँ से आया? इस प्रश्न का उत्तर गार्ग्य न जान सका और न बतला सका॥ १६॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतꣳ श्रोत्रं गृहीतं मनः॥ १७॥

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते॥ १८॥

पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर में स्वपिति का निर्वचन

उस अजातशत्रु ने कहा—यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जिस समय यह सोया हुआ था, उस समय अन्तःकरण उपाधि में अभिव्यक्त आभास रूप विज्ञान के द्वारा इन वागादि प्राणों के विषय विज्ञान को ग्रहण कर यह जो हृदय में आकाश है उसमें सोता है। जिस समय यह विज्ञानों को ग्रहण कर लेता है अर्थात् शरीर और इन्द्रियों की अध्यक्षता छोड़ देता है। उस समय यह पुरुष स्वपिति नाम वाला कहा जाता है। उस समय प्राण गृहीत रहता है, वाक् निगृहीत रहती है, चक्षु निगृहीत रहता है, श्रोत्र निगृहीत रहता है और मन भी निगृहीत हो जाता है अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियों के उपसंहार हो जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में स्थित रहता है॥ १७॥

स्वप्न वृत्ति का स्वरूप

यह प्रकृत आत्मा जब दर्शनरूपा स्वप्नवृत्ति से व्यवहार करता है, उस समय इसके वे कर्मफल उदित होते हैं; वहाँ भी यह महाराज-सा होता है, या महाब्राह्मण होता है या ऊँची नीची देव असुरादि गति को प्राप्त होता है। जैसे कोई महाराजा अपने प्रजाजनों को स्वाधीन कर स्वेच्छा पूर्वक अपने देश में विचरता है। वैसे ही यह स्वप्न पुरुष कल्पित प्राणों को ग्रहण कर अपने देह में यथेच्छ विचरता है॥ १८॥

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते॥ १९॥

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्॥ २०॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥ १॥

यो ह वै शिशुꣳ साधानꣳ सप्रत्याधानꣳ सस्थूणꣳ सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि। अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम॥ १॥

सुषुप्ति का स्वरूप

इसके बाद जिस समय वह सो जाता है, यानी जब वह किसी विषय में कुछ भी नहीं जानता है, उस समय उस हितानाम की नाड़ी द्वारा बुद्धि के साथ जाकर वह देह में व्याप्त होकर सोता है। जो बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदय से सम्पूर्ण देह में व्याप्त हो कर स्थित हैं। जैसे कोई बालक या महाराजा अथवा महाब्राह्मण आनन्द की दुःख विनाशक अवस्था को प्राप्त हो सो जाता है, ठीक उसी प्रकार यह सो जाता है॥ १९॥

ऊर्णनाभ तथा अग्नि विस्फुलिङ्ग दृष्टान्त से जगत् उत्पत्ति का वर्णन

लोक में जैसे मकड़ा तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाता है तथा जैसे एक ही अग्नि से अनेकों छुद्र चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से सम्पूर्ण प्राण, सम्पूर्ण लोक, सभी देवगण, सभी भूत अनेकरूप से उत्पन्न होते हैं। वह सत्य का सत्य है, यही उस आत्मा की रहस्यमय उपनिषद् है। प्राण ही सत्य है और उन्हीं का यह सत्यमय प्रपंच है॥ २०॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥

अथ शिशुद्वितीयं ब्राह्मणम्

शिशु नामक मध्यम प्राण का उपकरण सहित वर्णन

जो भी कोई आधान, प्रत्याधान, स्थूणा और बन्धन रज्जु के सहित शिशु को जानता है, वह अपने से द्वेष करने वाले शीर्षस्थ सात शत्रुओं को अपने बस में कर लेता है। यह जो मध्यम प्राण है, वही शिशु है। यह वर्तमान देह ही उसका आधान है और शिर प्रत्याधान है। प्राण स्थूणा (अन्न पान जनित शक्ति) है और अन्न बाँधने की रस्सी के समान है॥ १॥

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन्लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनꣳ रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनका तयादित्यो यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद॥ २॥

तदेष श्लोको भवति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्यासत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते॥ ३॥

उक्त शिशु के नेत्रस्थ सात अक्षितियाँ

ये नेत्रस्थ सात अक्षितियाँ उस मध्यम प्राण शिशु का सदा स्तवन करती हैं। उनमें से जो ये आँख में लाल रेखाएँ हैं, उनके द्वारा 'रुद्र' इस मध्यम प्राण के अनुगत हैं तथा धूमादि से नेत्र में जो जल अभिव्यक्त होता है, उसके द्वारा 'मेघ' (उस मध्यम प्राण के अनुगत हैं) जो दर्शन शक्ति है, उसके द्वारा 'आदित्य' जो नेत्र में कृष्ण वर्ण है, उसके द्वारा 'अग्नि' और जो शुक्ल रूप है, उसके द्वारा इन्द्र, इस मध्यम प्राण के अनुगत हैं, एवं नीचे के पलक द्वारा 'पृथिवी' तथा ऊपर के पलक द्वारा 'द्युलोक' इसमें अनुगत है। जो इस प्रकार इस मध्यम प्राण को जानता है, उसका अन्न कभी भी क्षीण नहीं होता॥ २॥

श्रोत्रादि प्राणों के सहित मस्तक में चमस दृष्टि का विधान

इस अर्थ में यह मन्त्र है। नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर की ओर उठा हुआ चमस है, उसमें अनेक रूपों वाला यश स्थित है। उसके तीर पर सप्त ऋषिगण और वेद के द्वारा संवाद करने वाली आठवीं वाणी है। नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर की ओर उठा हुआ चमस क्या है? वह शिर ही है, क्योंकि यह मस्तक ही नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर ही ओर उठा हुआ चमस है। उसमें विश्वरूप निहित यश क्या है? अध्यात्म वायु प्राण ही अनेक रूपों वाला यश इसमें निहित है। प्राणों के विषय में ही (सात श्रोत्रादि और उनमें सात भागों में विभक्त होकर फैले हुए वायु यश है) ऐसा मन्त्र कहता है। उसके तीर पर सात ऋषि रहते हैं, यहाँ पर शीर्षस्थ श्रोत्रादि सप्त प्राण ही ऋषि हैं, क्योंकि प्राणों के विषय में ही ऐसा मन्त्र कहता है। वाक् आठवीं है, क्योंकि वेद के द्वारा संवाद करने वाली यही है। यही वेद के द्वारा संवाद करती है॥ ३॥

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद॥ ४॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम्॥ (२)॥

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च॥ १॥

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः॥ २॥

श्रोत्रादि में विभाग पूर्वक सप्तर्षि दृष्टि का विधान

ये दोनों श्रोत्र ही गौतम और भारद्वाज है। यह दक्षिण श्रोत्र ही गौतम है और यह वाम श्रोत्र ही भारद्वाज है। ये दोनों नेत्र ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। इनमें दक्षिण नेत्र ही विश्वामित्र है और वाम नेत्र ही जमदग्नि हैं। ये दोनों नासिकाछिद्र ही वसिष्ठ तथा कश्यप हैं इनमें दक्षिण छिद्र ही वसिष्ठ है और वाम छिद्र कश्यप है तथा वाक् ही अत्रि है, क्योंकि वागिन्द्रिय द्वारा ही पुरुष अन्न भक्षण करता है। जिसे अत्रि कहते हैं, निःसन्देह वह अत्तिनाम वाला ही है। जो इसे (इस पूर्वोक्त प्राण के यथार्थ स्वरूप को) जानता है, वह सबका भक्षण करने वाला हो जाता है, इसका सब भोज्य हो जाता है अर्थात् यह भोग्य वर्ग से निवृत्त हो जाता है॥ ४॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम्॥

अथ मूर्तामूर्ततृतीयं ब्राह्मणम्

ब्रह्म के दो रूप

ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थावर और जंगम, सत् और त्यत् हैं॥ १॥

मूर्त रूप और उसका रस

जो यह वायु अन्तरिक्ष इन दो भूतों से भिन्न (पृथिवी, जल तथा तेज) है वह मूर्त है। यह मर्त्य है। यह स्थावर है और चक्षुरादि से प्रतीत होने के कारण यह सत् उस इस मूर्त का, इस स्थित का और इस सत् का, यही रस है। जो यह अन्तरिक्ष में सवितृमण्डल तपता है, यह सद्रूप तीनों भूतों का ही सारतम रस है॥ २॥

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्तस्यैतस्या-मूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम्॥ ३॥

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः॥ ४॥

अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः॥ ५॥

सविशेषण अमूर्त रूप और उसका रस

एवं वायु और अन्तरिक्ष ये दो भूत अमूर्त हैं, ये अमृत हैं। अतएव ये अस्थित हैं (क्योंकि इनका किसी से विरोध नहीं है, यानी अपरिच्छिन्न हैं) और यही त्यत् है। उस इस अमूर्त का, इस अमृत का, इस चल का, इस त्यत् का यह सार है, जो कि इस मण्डल में हिरण्यगर्भात्मक पुरुष है। यही इस भूत द्वय त्यत् का सारतम रस है, यही अधिदैवत दर्शन है॥ ३॥

अध्यात्म में मूर्त का वर्णन

अब अध्यात्म में मूर्तामूर्त का निरूपण किया जाता है। जो प्राण से भिन्न है तथा देहान्तर्गत आकाश से भिन्न है, यही इस शरीर में मूर्त है, यही मर्त्य है, यही स्थावर है और यही सत् है। जो यह नेत्र है, यही इस मूर्त का, इस मर्त्य का, इस स्थित का एवं प्रतीयमान सत् का सारतम रस है, यही सत् का सारतम रस है॥ ४॥

सविशेषण अमूर्त का वर्णन

अब अमूर्त का वर्णन किया जाता है। जो यह प्राण और शरीर के भीतर आकाश है वे अमूर्त हैं, यह अमृत है, यह अपरिच्छिन्न है और यह त्यत् है। उस इस अमूर्त का, इस अमृत का, इस यत् का एवं इस त्यत् का यही सारतम रस है। जो यह दक्षिणनेत्र में पुरुष है, यह त्यत् का ही सारतम रस है॥ ५॥

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युतꣳ सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयꣳ सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्॥ ६ ॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥ (३)॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति॥ १ ॥

इन्द्रियात्मा पुरुष का स्वरूप

उस इस लिङ्ग शरीररूप पुरुष का वासनामय स्वरूप ऐसा है, जैसा हल्दी में रंगा हुआ वस्त्र जैसा सफेद ऊनी वस्त्र, जैसा बरसाती लाल रंग का कीड़ा जैसी अग्नि ज्वाला, जैसा सफेद कमल और जैसी बिजली की चमक होती है। जो ऐसा जानता है, उसकी श्री विद्युत्चमक की भाँति एक साथ सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। अब उसके बाद "नेति नेति" यह ब्रह्म का आदेश बतलाया जाता है। इस आदेश से बढ़कर दूसरा आदेश है ही नहीं। सत्य का सत्य यह उस ब्रह्म का नाम है। प्राण ही सत्य है। यह ब्रह्म उसका भी सत्य है (क्योंकि इस ब्रह्म का सत्यत्व ही निखिल प्रपंच के साथ तादात्म्य होकर प्रतीत हो रहा है) ॥ ६ ॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ मैत्रेयीचतुर्थं ब्राह्मणम्

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद

अरी मैत्रेयी! ऐसा याज्ञवल्क्य नामक ऋषि ने अपनी भार्या से कहा—मैं अपने इस गार्हस्थ्य जीवन से ऊपर उठकर संन्यास आश्रम में जाना चाहता हूँ (अतः इस विषय में तेरी अनुमति चाहता हूँ) अपनी इस दूसरी भार्या कात्यायनी के साथ तेरा बँटवारा भी कर देता हूँ (तत्पश्चात् मैं चला जाऊँगा) ॥ १ ॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥ २॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति॥ ३॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति॥ ४॥

तब उस मैत्रेयी ने कहा—हे भगवन्! यदि यह धन धान्य से सम्पन्न सम्पूर्ण पृथिवी मुझे प्राप्त हो जाय तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ? याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं-नहीं। धन से अमृतत्व की आशा नहीं की जा सकती है। उससे तो केवल इतना ही होगा, कि जैसे विपुल भोग सामग्री से युक्त पुरुष का जीवन होता है। वैसा ही तेरा भी जीवन होगा॥ २॥

अमरत्व साधन का प्रश्न

तब उस मैत्रेयी ने कहा—कि जिस धन से मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी। भगवान् जो कुछ अमरत्व का साधन जानते हैं, उसी का उपदेश मुझे भी करें॥ ३॥

ऋषि का आश्वासन

तब वह याज्ञवल्क्य बोले, धन्यवाद। अरी प्रिया! तू पहले भी हमारी प्रिया रही है और इस समय भी अनुकूल बात ही कह रही है, अतः बहुत ठीक है। आ, यहाँ पर बैठ जा मैं तुझे अमरत्व के साधन की व्याख्या सुनाऊँगा। तत्पश्चात् व्याख्यांन किये हुऐ वाक्यों के अर्थ का भली भाँति चिन्तन करना अर्थात् मनन एवं निदिध्यासन करना॥ ४॥

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्॥ ५॥

सभी आत्मा के लिये ही प्रिय होते हैं याज्ञवल्क्य बोले—अरी मैत्रेयी! इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि पति के प्रयोजन के लिये पति प्रिय नहीं होता किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री को पति प्रिय होता है। वैसे ही स्त्री के प्रयोजन के लिये पति को स्त्री प्यारी नहीं होती, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री प्यारी होती है। पुत्रों के प्रयोजन के लिये पुत्र प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये पुत्र प्यारे होते हैं। धन के प्रयोजन के लिये धन प्रिय नहीं होता, अपितु अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्रिय होता है। ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होता है। क्षत्रिय के प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय है। लोकों के प्रयोजन के लिये लोक प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्रिय होते हैं। देवताओं के प्रयोजन के लिये देवता प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये देवता प्रिय होते हैं। भूतों के प्रयोजन के लिये भूत प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये भूत प्रिय होते हैं। किंबहुना सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं। अरी मैत्रेयी! निःसन्देह यह आत्मा ही दर्शन के योग्य है (इसे आचार्य तथा शास्त्र द्वारा पहले) श्रवण करना चाहिए। (तत्पश्चात् तर्क द्वारा) मनन एवं निदिध्यासन करना चाहिये और हे मैत्रेयी! इस आत्मतत्त्व के दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान से ये सभी विज्ञात हो जाते हैं (क्योंकि लोक में अधिष्ठान रज्ज्वादि के ज्ञान से अध्यस्त सर्पादि विज्ञात होते देखे गये हैं)॥ ५॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा॥ ६॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ७॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ८॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ९॥

आत्मा के सर्वाभिन्नत्व का प्रतिपादन

ब्राह्मण जाति उस पुरुष को परास्त कर देती है, जो आत्मा से भिन्न ब्राह्मण जाति को समझतं है। क्षत्रिय जाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न समझता है। सभी लोक उसे परास्त कर देते हैं, जो लोकों को आत्मा से भिन्न समझता है। देवता उसे परास्त कर देते हैं, जो देवता को आत्मा से भिन्न देखता है, सभी भूत उसे परास्त कर देते हैं जो आत्मा से भिन्न सभी भूतों को समझता है। किंबहुना—उसे सभी परास्त कर देते हैं जो सबको आत्मा से भिन्न देखते हैं। अतः यह ब्राह्मण जाति, यह क्षत्रिय जाति, ये लोक, ये देवता, ये भूत और ये सब जो कुछ हैं ये सब एकमात्र आत्मतत्त्व ही हैं (क्योंकि आदि, मध्य और अन्त में आत्मा को छोड़ का पृथक् इनकी उपलब्धि नहीं होती है)॥ ६॥

आत्मा की सर्वरूपता में दुन्दुभि आदि का दृष्टान्त

लोक में जैसे दण्डादि से ताड़ित किये गये नक्कारे के बाह्य शब्दों को कोई पकड़ नहीं सकता, किन्तु नक्कारे या उसके आघात को पकड़ लेने से उस का शब्द भी पकड़ा जाता है, यही आत्मा के सर्वरूपता में दृष्टान्त है॥ ७॥ दूसरा दृष्टान्त वह है जैसे—फूँके गये शंख के बाह्य शब्दों को कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु शंख को अथवा शंख के बजाने को ग्रहण करने पर उसका शब्द स्वयं गृहीत हो जाता है॥ ८॥ इसमें तीसरा दृष्टान्त वह है जैसे बजायी गयी वीणा के बाह्य शब्दों को पकड़ने में कोई समर्थ नहीं होता है, किन्तु वीणा या वीणा के स्वर को पकड़ने से वह शब्द स्वयं पकड़ा जाता है॥ ९॥

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि॥ १०॥

स यथा सर्वासामपाᳬ समुद्र एकायनमेवᳬ सर्वेषाᳬ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवᳬ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवᳬ सर्वेषाᳬ रसानां जिह्वैकायनमेवᳬ सर्वेषाᳬ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवᳬ सर्वेषाᳬ शब्दानाᳬ श्रोत्रमेकायनमेवᳬ सर्वेषाᳬ संकल्पानां मन एकायनमेवᳬ सर्वासां विद्यानाᳬ हृदयमेकायनमेवᳬ सर्वेषां कर्मणाᳬ हस्तावेकायनमेवᳬ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवᳬ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवᳬ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवᳬ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्॥ ११॥

इसमें चौथा दृष्टान्त उत्पत्ति काल के लिये वह है जैसे गीली लकड़ी के द्वारा आधान किये गये अग्नि से नाना प्रकार का धूआँ निकलता है। हे मैत्रेयी! ऐसे ही ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, (ये चार प्रकार के मन्त्र समुदाय) उर्वशी, पुरुरवासंवादादि इतिहास पुराण, देव जन विद्या, उपनिषद्, श्लोक (ब्राह्मण भाग के मन्त्र), सूत्र, मन्त्र, विवरण और अर्थवाद हैं। वे सभी इस महद्भूत परमात्मा के निःश्वास हैं। अर्थात्—श्वास निःश्वास के समान बिना प्रयत्न के ही उस विज्ञानघन से सभी उत्पन्न हुए हैं॥ १०॥

आत्मा के सर्वाश्रयत्व में दृष्टान्त

आत्मा के सर्वरूपता में दृष्टान्त यह है कि जैसे सम्पूर्ण नदी सरोवरादि के जलों का समुद्र ही एकमात्र प्राप्तव्य स्थान (अभेद प्राप्ति का स्थल) है। वैसे ही सम्पूर्ण स्पर्शों का प्रलय स्थान त्वचा है। इसी प्रकार सम्पूर्ण गन्धों का एकायन दोनों नासिका है। ऐसे ही सम्पूर्ण रसों का एकायन जिह्वा है। ऐसे ही सम्पूर्ण शब्दों का एकायन श्रोत्र है। ऐसे ही सभी संकल्पों का एकायन मन है। ऐसे ही सभी विद्याओं का एकायन हृदय है। ऐसे ही समस्त कर्मों का एकायन हाथ है। ऐसे ही समस्त आनन्दों का एकायन उपस्थ है और इसी प्रकार समस्त विसर्गों का एकायन वायु है। ऐसे ही समस्त मार्गों का एकायन पाद है, इसी प्रकार समस्त वेदों का वाक् है (इस प्रकार विषयों के प्रलय से इन्द्रियों का प्रलय स्वयं ही सिद्ध हो जाता है)॥ ११॥

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १२ ॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥ १३ ॥

देहादि के विज्ञानघन रूपता में लवण खण्ड का दृष्टान्त

इस विषय में यह दृष्टान्त है, जैसे-जल में डाला हुआ नमक का डला जल में ही विलीन हो जाता है। उसे जल से पृथक् करने में कोई समर्थ नहीं होता, पर जहाँ-जहाँ से जल ग्रहण किया जाता है वहाँ-वहाँ वह नमकीन ही प्रतीत होता है। हे मैत्रेयी! वैसे ही यह महद्भूत परमात्मा अनन्त अपार और विज्ञानघन है। यह इन देहादि उपाधियों के साथ मानो सत्य शब्दवाच्य भूतों से प्रकट होकर उनके नाश के पीछे नष्ट हो जाता है। देह इन्द्रिय भाव से मुक्त होने पर (मैं अमुक हूँ, अमुक का पुत्र हूँ, यह मेरा घर परिवार है ऐसी कोई) विशेष संज्ञा इसकी नहीं रह जाती। हे मैत्रेयी! ऐसा मैं तुझ से कहता हूँ। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने अपनी प्रिय भार्या मैत्रेयी के प्रति परमार्थ दृष्टि का निरूपण किया ॥ १२ ॥

उक्त विषय में शंका-समाधान

उस मैत्रेयी ने कहा कि देहपात के बाद कोई संज्ञा नहीं रहती, ऐसा कह कर आपने मुझे मोह में डाल दिया। (संज्ञा के अभाव में भला विज्ञानघन की सत्ता कैसे मानी जा सकती है) याज्ञवल्क्य ने कहा-हे मैत्रेयी! मैं तुझे मोह का उपदेश नहीं कर रहा हूँ किन्तु अरी प्रिया! यह तो महद्भूत परमात्मा का बोध कराने के लिये पर्याप्त है (अविद्याजन्य उपाधि के कारण उस विज्ञान में खिल्यभाव है, वह खिल्यभाव देहपात के अनन्तर या उपाधियों के अभाव हो जाने पर नहीं रह जाता) ॥ १३ ॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत् केन कं मन्वीत तत् केन कं विजानीयाद्येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति॥ १४॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥ (४)॥

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ १॥

अविद्यावस्था में द्वैत की प्रतीति

जिस अविद्या अवस्था में (परमार्थतः अद्वैत ब्रह्म में) द्वैत-सा प्रतीत होता है वहाँ पर ही अन्य-अन्य को सूँघता है, अन्य-अन्य को देखता है, अन्य-अन्य को सुनता है, अन्य-अन्य का अभिवादन करता है, अन्य-अन्य का मनन करता है तथा अन्य-अन्य को जानता है। इसके अतिरिक्त जहाँ पर सब आत्मा ही हो गया, वहाँ किससे किसको सूँघे, किससे किसको देखे, किससे किसको सुने, किससे किसका अभिवादन करे, किससे किसका मनन करे, किससे किसको जाने? वस्तुतः जिससे इन सभी को जानता है उसे किससे जाने? हे मैत्रेयी! (भला बतलाओ तो सही) विज्ञाता को किससे जाने॥ १४॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

अथ मधुपञ्चमं ब्राह्मणम्

पृथिव्यादि में मधु दृष्टि तथा तदन्तवर्ती पुरुष के साथ शारीर पुरुष का अभेद

यह प्रसिद्ध पृथिवी (ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त) समस्त भूतों का मधु है (जैसे अनेक मधुकर मधु के छत्ते को बनाते हैं, ऐसे ही समस्त भूतों ने इसे बनाया है) और ऐसे ही समस्तं भूत इस पृथिवी के मधु हैं। इस पृथिवी में जो यह चिन्मात्र प्रकाशमय और अमृतमय पुरुष है तथा जो यह अध्यात्म शारीर तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है यही वह है। जो कि ''यह आत्मा है'' (इस वाक्य से जो बतलाया गया है)। यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सर्वरूप है (क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान होने पर वह तत्त्ववेत्ता सर्वरूप हो जाता है)॥ १॥

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपाः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः रैतसस्तेजो-मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम्॥ २॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चा-यमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजो-मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम्॥ ३॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजो-मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम्॥ ४॥

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम्॥ ५॥

ऐसे ही ये जल समस्त भूतों के मधु हैं और समस्त भूत इन जलों के मधु हैं। इन जलों में जो चिन्मय अमरणधर्मा पुरुष है तथा यह जो अध्यात्म रैतस तेजोमय, अमृतमय पुरुष है यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञावाक्य से बतलाया है)। यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सर्वरूप है ॥ २॥ यह अग्नि समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस अग्नि के मधु हैं। इस अग्नि में जो तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है और जो यह अध्यात्म वाङ्मय, तेजोमय, अमृतमय पुरुष है यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञावाक्य से कहा गया है)। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यही सर्वरूप है॥ ३॥ इसी प्रकार यह वायु समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस वायु के मधु हैं। इस वायु में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है तथा जो यह अध्यात्म प्राणरूप तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञा वाक्य से कहा गया है)। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यही सर्वरूप है॥ ४॥ यह आदित्य समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस आदित्य के मधु हैं। यह जो इस आदित्य में चिन्मय प्रकाश स्वरूप अमरणधर्मा पुरुष है एवं जो यह अध्यात्म चाक्षुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस वाक्य से बतलाया गया)। यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है॥ ५॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशाᳬ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मᳬ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदᳬ सर्वम्॥ ६॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिᳬश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदᳬ सर्वम्॥ ७॥

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदᳬ सर्वम्॥ ८॥

तथा ये दिशाएँ समस्त भूतों के मधु हैं और समस्त भूत इन दिशाओं के मधु हैं। यह जो उन दिशाओं में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म श्रौत पुरुष प्रातिश्रुत्क (प्रत्येक श्रवण वेला में रहने वाला) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस वाक्य से कहा गया है)। यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सर्वरूप है॥ ६॥ यह चन्द्रमा समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस चन्द्रमा के मधु हैं। यह जो इस चन्द्र में तेजोमय अमृतमय पुरुष है एवं जो यह अध्यात्म मनस्सम्बन्धी चिन्मय अमृतमय पुरुष है यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस वाक्य से कहा जा चुका है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है॥ ७॥ यह बिजली समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस बिजली के मधु हैं। यह जो इस बिजली में चिन्मय प्रकाशस्वरूप अविनाशी पुरुष है एवं जो यह अध्यात्म तैजस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस वाक्य से कहा गया है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सर्वरूप है)॥ ८॥

अयः स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम्॥ ९॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम्॥ १०॥

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धर्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम्॥ ११॥

इसी प्रकार यह मेघ समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस मेघ के मधु हैं। यह जो इस मेघ में तेजोमय अमृतमय पुरुष है एवं जो यह अध्यात्म शब्द और स्वर सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है। जोकि ''यह आत्मा है'' (इस वाक्य से बतलाया गया है)। यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सब कुछ है॥ ९॥ इसी प्रकार यह आकाश सभी भूतों का मधु है और इस आकाश के सभी भूत मधु हैं। यह जो इस आकाश में चिन्मात्र प्रकाशमय अमरणधर्मा पुरुष है एवं जो यह अध्यात्म हृदयाकाश रूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है यही वह है। जो कि ''यह आत्मा है'' (इस प्रतिज्ञा वाक्य से बतलाया गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सब कुछ है॥ १०॥ यह धर्म समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस धर्म के मधु हैं (परोक्ष होते हुए भी ''अयं धर्मः'' इस प्रकार धर्म को इसलिये कहा गया है कि उसका कार्य सुखादि प्रत्यक्ष है) इस धर्म में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है एवं जो यह अध्यात्म धर्म सम्बन्धी तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है यही वह है। जो कि ''यह आत्मा है'' (इस वाक्य से बतलाया गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है॥ ११॥

इदꣳ सत्यꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाऽयमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चाऽयमध्यात्मꣳ सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ १२॥

इदं मानुषꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाऽयमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ १३॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ १४॥

यह (अनुष्ठीयमान धर्म सत्यपद वाच्य) सत्य समस्त भूतों का मधु है और सम्पूर्ण भूत इस सत्य के मधु हैं। (धर्म के समान सत्य आचार भी दो प्रकार का है। वह सामान्य रूप से पृथिव्यादि से सम्बद्ध है और विशेष रूप से देहादि संघात से सम्बन्ध रखता है) यह जो इस सत्य में तेजोमय अमृतमय पुरुष है। जो यह अध्यात्म सत्य सम्बन्धी तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस वाक्य से कहा गया है) यह अमर है यह ब्रह्म है और यही सत्य है॥ १२॥ यह मनुष्यादि जाति सभी भूतों का मधु है और समस्त भूत इस मनुष्यादि जाति के मधु हैं। यह जो मनुष्य जाति में तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है और यह अध्यात्म मनुष्यादि सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस श्रुति वाक्य से कहा गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है, और यही सर्वरूप है॥ १३॥ यह देह समस्त भूतों का कार्य होने से मधु है और समस्त भूत इस देह के मधु हैं। यह जो इस देह में तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है एवं जो यह आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञा वाक्य से कहा गया है)। यह अविनाशी है, यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है॥ १४॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाᳫं राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥ १५ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। तद्वां नरा सनये दᳫंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिं। दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति ॥ १६ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचदाथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यᳫं शिरः प्रत्यैरयतम्। स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति॥ १७॥

वह यह विज्ञानमय आत्मा सम्पूर्ण भूतों का अधिपति एवं सम्पूर्ण भूतों का राजा है। इसमें दृष्टान्त यह है—जैसे रथ की नाभि और रथ की नेमि में सभी अरे लगे रहते हैं, ऐसे ही इस सर्वात्मा में सभी भूत, सभी देव, सभी लोक, सभी प्राण और ये अविद्या कल्पित सभी जीवात्मा समर्पित हैं॥ १५॥

दध्यङ्ङाथर्वण द्वारा अश्विनी कुमारों को मधुविद्या का उपदेश

उस इस मधुविज्ञान को दध्यङ्ङाथवर्ण ऋषि ने अश्विनी कुमारों से बतलाया था। इसी मधु को देखते हुए मन्त्र ने कहा था—मेघ जिस प्रकार वृष्टि करता है—वैसे ही है नराकृति अश्विनी कुमारो! ब्रह्मविद्या की प्राप्तिरूप लाभ के लिये किये हुए तुम दोनों का यह उग्रदंस कर्म मैं प्रकट कर देता हूँ। जिस मधुविज्ञान का दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि ने तुम अश्विनी कुमारों के प्रति घोड़े के शिर से प्रतिपादन किया था (मेघगर्जन के समान मन्त्र ने अश्विनी कुमारों के इस दुर्धर्ष कर्म की घोषणा कर दी है जो वैदिक इतिहास में प्रसिद्ध है)॥ १६॥ उस इस मधु-विज्ञान को दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि ने अश्विनी कुमारों से कहा—इसे देखते हुए मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने कहा—हे अश्विनी कुमारो! तुम दोनों ने दध्यङ्ङाथर्वण के लिये अश्व का शिर लाया और उस ऋषि ने सत्य का पालन करते हुए तुम्हें सूर्य सम्बन्धी मधु का विज्ञान कराया एवं हे शत्रु हिंसक! जो आत्मज्ञान सम्बन्धी गोपनीय मधुविज्ञान था (वह भी तुम्हें ऋषि ने बतला दिया था)॥ १७॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच, तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम्॥ १८॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच, तदेतदृषिः पश्यन्नवोचद्रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति। अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्त्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मा-पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्॥ १९॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम्॥ (५)॥

उस इस मधुविज्ञान को दध्यङ्ङथर्वण ने अश्विनी कुमारों से कहा था। इसे देखते हुये ऋषि ने कहा है—परमात्मा ने दो पैरों वाले और चार पैरों वाले शरीर बनाये। पहले वह पुरुष पक्षी (लिङ्ग शरीर) होकर स्थूल शरीरों में प्रविष्ट हो गया। इसलिये वह यह परमेश्वर सभी शरीरों में निवास करने के कारण पुरुष कहलाता है। संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है जो उस पुरुष से आच्छादित न हो तथा ऐसा भी कुछ नहीं है जिसमें परमेश्वर का प्रवेश न हुआ हो, (इससे परमात्मा की सर्वव्यापकता स्पष्ट हो जाती है)॥ १८॥ उस इस मधु को दध्यङ्ङथर्वण ने अश्विनी कुमारों से कहा। यह देखते हुए मन्त्र द्रष्टा ऋषि ने कहा—वह परमात्मा, रूप रूप के प्रतिरूप हो गया। इसका वह रूप अभिव्यक्त करने के लिए वही परमेश्वर माया से अनेक रूप वाला दीखता है। शरीररूप रथ में इसके इन्द्रिय घोड़े सौ और दश हैं। यह परमात्मा ही इन्द्रियरूप अश्व भी यही दश सहस्त्र, अनेक एवं अनन्त हैं। वह यह ब्रह्म कारण रहित, कार्य रहित, विजातीय द्रव्य संसर्गशून्य और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला परमात्मा है। बस यही सम्पूर्ण वेदान्तों का उपदेश है॥ १९॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम्॥

अथ वꣳशः पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लातो गौतमाद्गौतमः सैतवप्राचीनयोग्याभ्याꣳ सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भरद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाजः पाराशर्यात् पाराशर्यो बैजवापायनाद्बैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥

अथ मधुवंशषष्ठं ब्राह्मणम्

मधु विद्या की सम्प्रदाय परंपरा

अब (ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये मधुकाण्ड का) वंश बतलाया जाता है। (यह मन्त्र स्वाध्याय और जप के लिए है) पौतिमाष्य ने गौपवन से, गौपवन ने पौतिमाष्य से, पौतिमाष्य ने गौपवन से, गौपवन ने कौशिक से कौशिक ने कौण्डिन्य से, कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कौशिक से और गौतम से, गौतम ने॥ १ ॥ आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने शाण्डिल्य से और आनभिम्लात से, आनभिम्लात ने आनभिम्लात से, आनभिम्लात ने गौतम से, गौतम ने सैतव और प्राचीनयोग्य से, सैतव और प्राचीनयोग्य ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने भारद्वाज से भारद्वाज ने भारद्वाज और गौतम से, गौतम ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने बैजवापायन से, बैजवापायन ने कौशिकायनि से, कौशिकायनि ने ॥ २ ॥

घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भकौण्डिन्याद्विदर्भकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योःप्राध्वꣳसनान्मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात्प्रध्वꣳसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥ इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ (६) ॥ इति द्वितीयः प्रपाठकः ॥ (२) ॥

घृतकौशिक से, घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से , पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजंधनि से, औपजंधनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्टि से, माण्टि ने गौतम से, गौतम ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कैशोर्यकाप्य से, कैशोर्यकाप्य ने कुमार हारित से, कुमार हारित ने गालव से, गालव ने विदर्भी कौण्डिन्य से, विदर्भी कौण्डिन्य ने वत्सनपात् बाभ्रव से, वत्सनपात् बाभ्रव ने पन्था सौभर से, पन्था सौभर ने अयास्य आङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूतित्वाष्ट्र से, आभूतित्वाष्ट्र ने विश्वरूपत्वाष्ट्र से, विश्वरूपत्वाष्ट्र ने अश्विनी कुमारों से, अश्विनी कुमारों ने दध्यङ्ङाथर्वण से, दध्यङ्ङाथर्वण ने अथर्वादैव से, अथर्वादैव ने मृत्युप्राध्वंसन से, मृत्यु-प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से, प्रध्वंसन ने एकर्षि से, एकर्षि ने विप्रचित्ति से, विप्रचित्ति ने व्यष्टि से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनक से, सनक ने विराट् से और विराट् ने हिरण्यगर्भ से इस विद्या को प्राप्त किया। ब्रह्मा स्वयंभु है, उस ब्रह्मा को नमस्कार है ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयाध्याय: षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

ॐ। जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कःस्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवाः सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः॥ १॥

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयः स्म इति तः ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः॥ २॥

अथ तृतीयाध्यायेऽश्वलप्रथमं ब्राह्मणम्

सर्व श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता को जानने की राजा जनक के मन में इच्छा

विदेहदेश में रहने वाले राजा जनक ने एक बहुत बड़ी दक्षिणावाले यज्ञ से यजन किया, उस यज्ञ में निमन्त्रित हो या स्वेच्छा से कुरु और पाञ्चाल देशों के विद्वान् ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस विदेहराज यजमान जनक को यह जिज्ञासा हुई कि इन ब्राह्मणों में प्रवचन करने में सबसे बढ़ चढ़कर प्रवक्ता कौन है? इसलिये उसने एक हजार गौएँ गोशाला में रोकवा दीं। उन रोकी हुई गौओं में से प्रत्येक के सींगों में दश-दश पाद सुवर्ण बँधे हुए थे अर्थात् एक-एक्र सीङ्गों में पाँच-पाँच पाद (पल के चतुर्थ भाग) सुवर्ण बँधे थे॥ १॥

गौओं को ले जाने के लिये याज्ञवल्क्य का अपने शिष्य को आदेश व क्रुद्ध ब्राह्मणों में से अश्वल का प्रश्न

राजा जनक ने उन ब्राह्मणों से कहा हे पूज्य ब्राह्मण गण! आप में से जो सर्व श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो, वह इन गौओं को ले जाय, किन्तु उन ब्राह्मणों में से किसी का साहस न हुआ। ब्राह्मणों को साहस हीन देखकर याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारी से कहा—हे सोम्य सामश्रवा! तू इन गौओं को हमारे घर ले जा। तब वह इन गौओं को ले चला, इससे वे ब्राह्मण क्रुद्ध हो गये कि यह याज्ञवल्क्य हममें से अपने आपको ही ब्रह्मनिष्ठ कैसे कहता है। अतः उन क्रुद्ध ब्राह्मणों में से विदेहराज जनक का होता अश्वल था। उसने याज्ञवल्क्य से पूछा हे याज्ञवल्क्य! क्या यह सत्य है कि हममें से तुम्हीं सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो? याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मनिष्ठ को तो हम नमस्कार करते हैं, इस समय तो हम गौ की इच्छा वाले हैं। इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ की प्रतिज्ञा वाले उस याज्ञवल्क्य से होता अश्वल ने मन ही मन प्रश्न करने का निश्चय किया॥ २॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्युनाप्तꣳ सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं, केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक् सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तꣳ सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं, केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषाऽऽदित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ४ ॥

मृत्यु व्याप्त कर्म साधनों की आसक्ति से पार होने का उपाय

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा—यह सब जो मृत्यु के वश में किया हुआ है और मृत्यु से व्याप्त है। उस मृत्यु की व्याप्ति को यजमान किन साधनों के द्वारा पार करता है (इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा)। वह यजमान होता ऋत्विक्‌रूप अग्नि से और वाक् से उसे पार कर सकता है। वाक् ही यज्ञ का होता है, यह जो वाणी है वही यही प्रसिद्ध अधिदैव अग्नि है। वह होतारूप अग्नि मुक्ति है अर्थात् होता को अग्निरूप देखना ही उस मृत्यु से छूटना है। इसीलिये वही अतिमुक्ति है ॥ ३ ॥

अहोरात्रादि रूप काल से अतिमुक्ति का उपाय

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा–यह जो कुछ दृश्यमान जगत् है, सभी दिन और रात्रि से व्याप्त हैं। अतएव सभी दिन और रात्रि के अधीन हैं, ऐसी दशा में किस साधन से यजमान अहोरात्र के परिच्छेद को पार कर सकता है। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—अध्वर्यु, ऋत्विक् ओर नेत्ररूप आदित्य के द्वारा अधिभूत परिच्छेद को पार कर सकता है। नेत्र ही यज्ञ का अध्वर्यु है। अतः यह जो नेत्र है, वह यह आदित्य है तथा वह अध्वर्यु है, वह मुक्ति है अर्थात् आदित्य-रूप से देखा हुआ वह अध्वर्यु मुक्ति है और वही अति मुक्ति भी है ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तꣳ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं, केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इत्युद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ५ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव, केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरित्यतिमोक्षा, अथ संपदः ॥ ६ ॥

तिथि आदि रूप काल के परिच्छेद से अतिमुक्ति का उपाय

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा—यह जो कुछ जगत् है, सब चन्द्र के पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से व्याप्त है। सब पूर्वपक्ष तथा अपरपक्ष के वश में किया हुआ है। इस पूर्वपक्ष और अपरपक्ष की व्याप्ति को यजमान किस साधन से पार कर मुक्त होता है? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—उद्गाता, ऋत्विक् से और वायुरूप प्राण से उसका अतिक्रमण होता है, क्योंकि निश्चय ही उद्गाता यज्ञ का प्राण है और यह जो प्राण है वही वायु है, वही उद्गाता है, वह मुक्ति और वही अतिमुक्ति भी है॥ ५॥

परिच्छिन्नता रूप मृत्यु से छूटने का उपाय

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा—यह जो प्रसिद्ध आकाश है वह निरालम्ब-सा है। फिर भला यजमान किस आलम्बन से स्वर्गलोक में जायगा? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मा ऋत्विक् के द्वारा और मनरूप चन्द्रमा के द्वारा स्वर्गलोक में आरूढ़ होता है। मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है तथा यह जो मन है वही यह चन्द्रमा है, वही चन्द्रमा ऋत्विक् ब्रह्मा है, वह मुक्ति है एवं वही अतिमुक्ति है। इस प्रकार परिच्छेद से अतिमुक्तियों का उपाय सहित वर्णन किया। अब संपदों का वर्णन प्रारंभ किया जाता है (भावना द्वारा अन्य वस्तु में अन्यदृष्टि के आरोप को संपद् कहते हैं। वह द्रव्य साध्य राजसूयादि यज्ञ का फल धनहीन व्यक्ति भी संपद् द्वारा प्राप्त कर सकता है। अतः संपदों का वर्णन आवश्यक है)॥ ६॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होतास्मिन्यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्त्र इति पुरोऽनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया, किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति ॥ ७ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्त्र इति कतमास्तास्तिस्त्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते, किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥ ८ ॥

शास्त्र सम्बन्धी ऋचाओं से प्राप्त होने वाला फल

हे याज्ञवाल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा—आज कितनी ऋचाओं द्वारा इस यज्ञ में होता शंसन करेगा? (इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा) तीन ऋक् जातियों द्वारा। फिर अश्वल ने पूछा वे तीन कौन-सी हैं? (याज्ञवल्क्य ने कहा याग से पहले प्रयुक्त होने वाली ऋचाएँ) पुरोनुवाक्या हैं, (याग के समय प्रयुक्त हुई ऋचाएँ) याज्या हैं (और जो ऋचाएँ शंसन के लिये प्रयुक्त होती हैं) वह तीसरी शस्या कही जाती है। (इस पर अश्वल ने पूछा) इन ऋचाओं से यजमान किसको जीतता है? (याज्ञ-वल्क्य ने उत्तर दिया) यह जितने भी प्राणी समुदाय हैं (उन सभी को संख्यादि में समानता होने के कारण वह समस्त फल समूह का संपादन कर लेता है) ॥ ७ ॥

होम सम्बन्धी आहुतियों से प्राप्त होने वाला फल

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा, इस यज्ञ में यह अध्वर्यु आज कितनी आहुतियों का हवन करेगा? याज्ञवल्क्य ने कहा-तीन आहुतियाँ। (अश्वल ने पूछा) वे तीन कौन-सी हैं? (याज्ञवल्क्य ने कहा) जो घृत और समिधा की आहुतियाँ होम की जाने पर प्रज्वलित होती हैं, जो पूर्वोक्त होम की जाने पर अत्यन्त शब्द करती हैं और जो होम के बाद पृथिवी पर जाकर लीन हो जाती हैं। वे आहुतियाँ उक्त तीन संख्या वाली हैं। (फिर अश्वल ने पूछा) इन आहुतियों से यजमान किसको जीतता है? (याज्ञवल्क्य ने कहा) जो होम की जाने पर घृत और समिधा की आहुतियाँ प्रज्वलित होती हैं उनसे यजमान देवलोक को ही जीतता है, क्योंकि देवलोक देदीप्यमान-सा हो रहा है और जो आहुतियाँ होम की जाने पर अत्यन्त शब्द करती हैं उनसे वह यजमान पितृलोक को ही प्राप्त करता है, क्योंकि पितृलोक (सम्बन्धी संयमनीपुरी में यमराज के द्वारा यातना भोगते समय जीवों का हाय रे? मरे? छोड़ दो, छोड़ दो, ऐसा भयानक) अत्यन्त कोलाहल पूर्ण शब्द-सा होता है। जो दुग्ध और सोम की आहुतियाँ होम के बाद पृथिवी पर लीन हो जाती हैं। उनसे यजमान मनुष्यलोक को ही जीतता है, क्योंकि मनुष्यलोक अधोवर्ती-सा है ॥ ८ ॥

याज्ञवाल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति॥ ९॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन्यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति तिस्त्र इति कतमास्तास्तिस्त्र इति पुरोऽनुवाक्या च चाज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण् एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकꣳ शस्यया ततो ह होताऽश्वल उपरराम॥ १०॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥ (१)॥

ब्रह्मा से रक्षित यज्ञ साधनों से प्राप्त होने वाला फल

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा-यह ब्रह्मा नामक ऋत्विक् दक्षिण की ओर निश्चित आसन पर बैठकर आज कितने देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है? याज्ञवल्क्य ने कहा-एक ही देवता से। (अश्वल ने कहा-) वह एक देवता कौन है? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) वह देवता मन ही है। (वृत्ति के भेद से) मन अनन्त हैं और विश्वेदेव भी अनन्त लोक को जीत लेता है, क्योंकि साध्य-साधन में संख्या की समानता है॥ ९॥

स्तुति सम्बन्धी ऋचाओं से प्राप्त होने वाला फल

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा, इस यज्ञ में उद्गाता आज कितनी स्तोत्रिया ऋचाओं का स्तवन करेगा (प्रगीत ऋचाएँ स्तोत्र शब्द से और अप्रगीत ऋचाएँ शस्त्र शब्द से कही जाती हैं। इनमें स्तोत्र को स्तोत्रिया और शस्त्र को शस्या भी कहते हैं, याज्ञवल्क्य ने कहा) तीन ऋचाओं का। (अश्वल ने पूछा) वे तीन कौन कौन-सी हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या। अश्वल ने कहा— इनमें से जो शरीरान्तर्वर्ती हैं, वे कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—(प्रकार एवं प्रथमत्व की समानता से) प्राण ही पुरोनुवाक्या है। (द्वितीयत्व की समानता से) अपान याज्या है और (ऊर्ध्वत्व की समानता से) व्यान शस्या है। (अश्वल ने कहा) इनसे यजमान किन लोकों को जीतता है? (याज्ञवल्क्य ने कहा) प्रथमत्व की समानता से पुरोनुवाक्या द्वारा पृथिवीलोक को ही जीतता है। मध्यमत्व की समानता से याज्या द्वारा अन्तरिक्षलोक को और ऊर्ध्वत्व की समानता से शस्या द्वारा द्युलोक पर विजय प्राप्त करता है। इसके बाद याज्ञवल्क्य हमारे काबू में नहीं आयेगा, ऐसा समझ कर होता अश्वल चुप हो गया॥ १०॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति। अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति॥ १॥

प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धञ्जिघ्रति॥ २॥

वाग्वै ग्रहः स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति॥ ३॥

जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति॥ ४॥

चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति॥ ५॥

अथार्तभागद्वितीयं ब्राह्मणम्

ग्रह तथा अतिग्रह

तदनन्तर उस याज्ञवल्क्य से जरत्कारु गोत्र वाले ऋतभाग के पुत्र ने पूछा, हे याज्ञवल्क्य! ऐसा आर्तभाग ने कहा—ग्रह कितने हैं और अतिग्रह कितने हैं? (याज्ञवल्क्य ने कहा) आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं। (आर्तभाग ने कहा) वे जो आठ ग्रह तथा आठ अतिग्रह हैं वे कौन हैं? (पहले 'अतिमुच्यते' कहा गया है, गृहीत से ही मुक्ति और अतिमुक्ति हुआ करती है। अतएव ग्रह तथा अतिग्रह की प्राप्ति सामान्य रीति से होती है। इसीलिए उसकी संख्या के विषय में प्रश्न भी बनता है और संख्येय के विषय में विशेष जिज्ञासा भी संभव है) ॥ १॥

घ्राणादि इन्द्रियाँ ग्रह हैं और उसके विषय गंधादि अतिग्रह हैं

घ्राण ही ग्रह है, वह गन्ध रूप अतिग्रह से गृहीत है (अपान गंध का साथी है इसीलिये यहाँ पर अपान शब्द से गन्ध को कहा गया है) क्योंकि अपान द्वारा लाये गये गन्धों को ही सम्पूर्ण लोक सूँघता है॥ २॥ वाक् ही ग्रह है, वह नाम रूप अतिग्रह से गृहीत है, क्योंकि प्राणी वाक् से ही नामों का उच्चारण करता है॥ ३॥ जिह्वा ही ग्रह है, वह रसरूप अतिग्रह से गृहीत है, क्योंकि जिह्वा से ही रसों को पृथक्-पृथक् विशेष रूप से प्राणी जानता है॥ ४॥ नेत्र ही ग्रह है, वह रूप अतिग्रह से गृहीत है, क्योंकि चक्षु से ही रूपों को देखता है॥ ५॥

श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्छृणोति ॥ ६ ॥

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते ॥ ७ ॥

हस्तौ वै ग्रहः स कर्मनातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्याꣳ हि कर्म करोति ॥ ८ ॥

त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥ ९ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति ॥ १० ॥

श्रोत्र ही ग्रह है, वह शब्दरूप अतिग्रह से पकड़ा हुआ है, क्योंकि श्रोत्र से ही प्राणी शब्दों को सुनता है ॥ ६ ॥ मन ही ग्रह है,, वह कामरूप अतिग्रह से गृहीत है, क्योंकि प्राणी मन से ही भोगों की कामना करता है ॥ ७ ॥ हस्त ही ग्रह है, वह कर्मरूप अतिग्रह से गृहीत है, क्योंकि हाथों से ही प्राणी कर्म करता है ॥ ८ ॥ त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्शरूप अतिग्रह से गृहीत है, क्योंकि त्वचा से ही स्पर्शों को प्राणी जानता है। इस प्रकार त्वक् पर्यन्त ये आठ ग्रह हैं और स्पर्श पर्यन्त ये आठ अतिग्रह हैं (उक्त मन्त्रों में "अति ग्राहेण" यहाँ पर छान्दस दीर्घ समझना चाहिये) ॥ ९ ॥

सर्व भक्षक मृत्यु पर विजय

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा आर्तभाग ने कहा। यह जो कुछ भी व्याकृत है वह सब मृत्यु का अन्न है। पर जिसका अन्न मृत्यु भी है ऐसा देवता कौन है? (याज्ञवल्क्य ने कहा) अग्नि ही मृत्यु है, वह अग्नि रूप मृत्यु जल का खाद्य है (वह जल मृत्यु का भी मृत्यु है, इस प्रकार के ज्ञान से) पुरुष पुनर्मृत्यु को जीत लेता है ॥ १० ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो ३ नेति, नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते॥ ११॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति॥ १२॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधी-र्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागाऽऽवामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति। तौ होत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ

तत्त्वज्ञानी के देहावसान का क्रम

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा आर्तभाग ने कहा। जब वह मनुष्य मरता है तब उस ब्रह्मवेत्ता के वागादि प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं? याज्ञवल्क्य ने कहा नहीं, ऐसा सर्वथा नहीं होता। तत्त्वज्ञानी के प्राण इस परमात्मा में ही एकीभाव को प्राप्त हो जाता है। जैसे—समुद्र में तरंगे, (सर्व साधारण प्राणी के समान वह भी मरता तो है किन्तु उस का पुनर्जन्म नहीं होता है। अतएव सर्व सामान्य मृत प्राणी के समान) वह फूल जाता है, धौंकनी के समान अर्थात् वायु को भीतर खींचता है और वायु से पूर्ण हुआ ही मरकर पड़ा रहता है॥ ११॥ हे याज्ञवल्क्य! ऐसा आर्तभागने कहा। जब यह पुरुष मरता है तब इसे क्या नहीं छोड़ता, याज्ञवल्क्य ने कहा नाम नहीं छोड़ता क्योंकि नाम नित्य और अनन्त है। विश्वेदेव भी अनन्त हैं, इस प्रकार इस अनन्तत्व के अधिकारी विश्वेदेव को आत्मभाव से दर्शन कर वह पुरुष अनन्तलोक को ही जीतता है॥ १२॥

इन्द्रियाभिमानी देवताओं के हट जाने पर परतन्त्र कर्ता पुरुष की स्थिति

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा आर्तभाग ने कहा। जब हस्तपादादियुक्त सावयव मृत पुरुष की वाक् अग्नि में लीन हो जाती है, प्राण वायु में, नेत्र आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशा में, शरीर पृथिवी में, हृदयाकाश भूताकाश में, लोम औषधि में और केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं तथा शुक्र शोणित जल में स्थित हो जाते हैं, तब वह पुरुष कहाँ रहता है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे प्रिय दर्शन! आर्तभाग!

यत्प्रशशꣳसतुः कर्म हैव तत्प्रशशꣳसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥ १३ ॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ (२) ॥

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम, ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम, तस्यासीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता, तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन् स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥ १ ॥

तुम मुझे अपना हाथ पकड़ाओ हम दोनों ही इस प्रश्न का उत्तर समझेंगे। यह प्रश्न जन समुदाय में निर्णय करने योग्य नहीं है। उसके बाद उन दोनों ने उठकर एकान्त में विचार किया। उन्होंने निर्णय में जो कुछ भी कहा वह सबका तात्पर्यरूप कर्म को ही कहा तथा (काल, कर्म, दैवादि हेतुओं में भी) जिसकी प्रशंसा की है वह वस्तुतः कर्म की ही प्रशंसा की है, वह यह है कि—पुरुष पुण्यकर्म से धर्मात्मा होता है और पापकर्म से पापात्मा होता है। इस प्रकार अपने प्रश्न के उत्तर हो जाने पर जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया॥ १३ ॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ भुज्युतृतीयं ब्राह्मणम्

परीक्षित कहाँ रहे, ऐसा भुज्यु का प्रशन

उसके बाद याज्ञवल्क्य से लह्य के पुत्र भुज्यु ने पूछा (हे याज्ञवल्क्य!) ऐसा उसने कहा। हम अध्ययन के लिए व्रताचरण करते हुये मद्रदेश में विचर रहे थे कि कपि गोत्रोत्पन्न पतञ्चल नामक पुरुष के घर घूमते-घूमते पहुँच गये। उसकी पुत्री किसी गन्धर्व से आविष्ट थी, हमने उससे पूछा, तू कौन है? अर्थात् तुम्हारा क्या नाम और क्या स्वरूप है? उसने कहा—मैं गोत्र से आङ्गिरस और नाम से सुधन्वा हूँ। जब हमने उससे भुवन कोशों के अन्त के विषय में पूछा और हमने अपनी प्रशंसा करते हुए उससे यह भी पूछा, परीक्षित कहाँ रहे? (तब उस गन्धर्व ने हमें सभी बातें बता दीं। तात्पर्य यह कि हमने दिव्य प्राणी से ज्ञान प्राप्त किया है) वही हम तुमसे पूछते हैं कि परीक्षित कहाँ रहे?॥ १ ॥

स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वै ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिꣳशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तꣳ समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति ताꣳ समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमिव वै स वायुमेव प्रशशꣳस, तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम॥ २॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥ (३)॥

परीक्षितों की गति का निरूपण

उस याज्ञवल्क्य ने कहा, निःसंदेह उस गन्धर्व ने यही कहा था कि वे परीक्षित वहाँ चले गये जहाँ अश्वमेधयाजी जाते हैं। भुज्यु ने कहा फिर अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं? (इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने भुवन कोश का वर्णन किया) यह लोक बत्तीस देवरथाह्न्य है, (आदित्य रथ की गति से एक दिन में संसार के जितने भाग को मापा जाता है उसे देव रथाह्न्य कहते हैं) उसे चारों ओर से द्विगुणी पृथिवी ने घेर रक्खा है। पुनः उस पृथिवी को द्विगुणा समुद्र ने घेर रक्खा है। अतः जितनी पतली छुरे की धार होती है या जितना छोटी मक्खी का पंख होता है। बस उतना ही अण्ड कपालों के मध्य में आकाश छिद्र है, परमेश्वर ने पंख और पूँछवाला पक्षी होकर उन परीक्षितों को वायु को दे दिया। उन्हें वायु ने अपने स्वरूप-भूत बनाकर वहाँ पहुँचा दिया जहाँ अश्वमेध यज्ञ करने वाले रहते हैं। इस प्रकार उस गन्धर्व ने परीक्षितों की गतिरूप वायु की ही प्रशंसा की थी। अतः अध्यात्मादि भाव से तीन प्रकार की वायु ही व्यष्टि है और सूत्र (हिरण्यगर्भ) रूप से वायु ही समष्टि है। ऐसा जो जानता है वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है अर्थात् एकबार मरकर फिर मरता नहीं। तब अपने प्रश्न का उत्तर सुनकर लाह्यायनि भुज्यु चुप हो गया॥ २॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व इत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो, यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥ १ ॥

अथोषस्तचाक्रायणचतुर्थं ब्राह्मणम्

सर्वान्तर आत्मा का वर्णन

फिर उस याज्ञवल्क्य से चक्र के पुत्र उषस्त ने पूछा हे याज्ञवल्क्य! ऐसा उषस्त ने कहा-जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है और जो सबका अन्तरात्मा है उसकी व्याख्या तुम मेरे प्रति करो। याज्ञवल्क्य ने कहा—यह कार्य-करण संघात के भीतर तेरा आत्मा ही सबका अन्तर्वर्ती ब्रह्म स्वरूप है। उषस्त ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! वह सर्वान्तर कौन-सा है अर्थात् कार्य-करण संघात में से किसे सर्वान्तर आत्मा कहना चाहते हो? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो मुख नासिका द्वारा संचरण करने वाले प्राण से प्राणन क्रिया करता है। वह विज्ञानमय ही तेरा आत्मा सर्वान्तर्वर्ती है। जो अपान से अपानन क्रिया करता है वही विज्ञानमय तेरा आत्मा सर्वान्तर्वर्ती है। जो व्यान से व्यानन क्रिया करता है वही विज्ञानमय तेरा आत्मा सर्वान्तर्वर्ती है। जो उदान से उदानन क्रिया करता है वही विज्ञानमय तेरा आत्मा कार्य-करण संघात से विलक्षण सर्वान्तर्वर्ती है॥ १ ॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवैतद्व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः। न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारꣳ शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम॥ २॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥ (४)॥

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा

तब उस उषस्त चाक्रायण ने कहा (अन्य प्रकार से प्रतिज्ञा कर फिर विपरीत भाषण करना अच्छा नहीं) जैसे कोई (चलनादि लिङ्ग से) कहे कि यह चलने वाला बैल है और दौड़ने वाला घोड़ा है, ऐसे ही यह तुम्हारा भी प्राणनादि लिङ्गों द्वारा ब्रह्म का व्यपदेश है (अतः गौओं के लोभ से ब्रह्मवेत्ता होने के दावे को छोड़ कर) जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो सर्वान्तर आत्मा है उसे मेरे प्रति स्पष्ट रूप से बतलाओ याज्ञवल्क्य ने कहा—यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर्वर्ती साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है। उषस्त ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! वह सर्वान्तर कौन-सा है अर्थात् घटादि के समान आत्मा को भी स्पष्ट रूप से विषय करा दो। याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम अन्तःकरणादि के वृत्तिरूप दृष्टि के द्रष्टा को घटादि के समान नहीं देख सकते हो। वैसे ही श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते। मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते। बुद्धि वृत्ति रूप विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते। तेरा यह आत्मा ही सर्वान्तर है। इससे भिन्न कार्य-कारण देह नश्वर है। इसके बाद उषस्त चाक्रायण चुप हो गया॥ २॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

अथ कहोलपञ्चमं ब्राह्मणम्

संन्यास सहित आत्मज्ञान का वर्णन

फिर उस याज्ञवल्क्य से कुषीतक के पुत्र कहोल ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य!

सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याऽथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तं ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम॥ १॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम्॥ (५)॥

ऐसा उसने संबोधन किया। जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो सर्वान्तर आत्मा है, तुम मेरे प्रति उसकी व्याख्या करो। याज्ञवल्क्य ने कहा—यह तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तर्वर्ती ब्रह्म है (यहाँ पर आत्मा के विषय में विशेष विवक्षा होने पर कहोल ने प्रश्न किया है। अतः कौषीतकेय और चाक्रायण के प्रश्न को अभिन्न मान पुनरुक्ति की आशंका नहीं करनी चाहिये) कहोल ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! वह सर्वान्तर कौन सा है? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मरण को पार किये हुए हैं। इसी उस आत्मा को अपरोक्ष रूप से जान कर ब्राह्मण लोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से दूर हटकर भिक्षा चर्या किया करते हैं। जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है, और जो वित्तैषणा है, वह लोकैषणा है, क्योंकि साध्य-साधन भेद से ये दोनों एषणा ही हैं। अतः ब्राह्मण पूर्ण रूप से आत्मज्ञान का संपादन कर आत्मज्ञानरूप बल से स्थिर रहने की इच्छा करे। पुनः बाल्य और पाण्डित्य को पूर्ण रूप से प्राप्तकर वह मुनि होता है तथा अमौन एवं मौन का पूर्ण रूप से संपादन करके ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। वह किस आचरण से ब्राह्मण होता है? जिस आचरण से भी हो वह ऐसा ही लक्षण वाला ब्राह्मण होता है। इससे भिन्न सब नश्वर (स्वप्न, माया, मरुमरीचिका के समान असार है। केवल एक आत्मा ही नित्य मुक्त) हैं। इस पर कहोल चुप हो गया॥ १॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम्॥

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदः सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति

अथ गार्गीनामषष्ठं ब्राह्मणम्

जलादि में उत्तरोत्तर अधिष्ठान तत्त्वों का वर्णन

फिर उस याज्ञवल्क्य से वचक्नु की पुत्री गार्गी ने पूछा–हे याज्ञवल्क्य! ऐसा उसने कहा। यह जो कुछ (पार्थिव धातु समुदाय) है सब जल में आते–प्रोत है अर्थात् वस्त्र में तन्तु के आतान–वितान के समान ओत–प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि! वायु में (जलीय या पार्थिव धातु के आश्रय लिये बिना अग्नि का स्वरूप सिद्ध नहीं होता। इसीलिये अग्नि का ओत–प्रोत भाव सिद्ध नहीं होता, गार्गी ने कहा) वायु किसमें ओत–प्रोत है? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) हे गार्गि! अन्तरिक्षलोक में, गार्गी बोली—अन्तरिक्षलोक किसमें ओत–प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा–हे गार्गि! वह गन्धर्वलोक में ओत–प्रोत है। गार्गि बोली—गन्धर्वलोककिसमें ओत–प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा हे गार्गि! आदित्यलो में। गार्गि ने कहा—आदित्य लोक किसमें ओत–प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा—चन्द्रलोक में। गार्गि बोली—चन्द्रलोक किसमें ओत–प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि! देवलोक

कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि माऽतिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम॥ १॥ इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ (६)॥

में ? गार्गि बोली—देवलोक किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवाल्क्य ने कहा हे गार्गि! इन्द्रलोक में। गार्गि ने कहा—इन्द्रलोक किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा—प्रजापतिलोक में। गार्गि ने कहा—प्रजापतिलोक किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मलोक में (यहाँ पर परस्पर भूतों के संघात को अन्तरिक्षलोक शब्द से कहा गया है। एवं विराट् शरीर के आरम्भक भूतों को प्रजापति शब्द से कहा तथा ब्रह्माण्ड के आरम्भक भूतों को ब्रह्मलोक शब्द से कहा। इन सभी लोकों में सूक्ष्मता के तारतम्य से जीवों के भोगाश्रय देहाकाररूप में पंचभूत ही परस्पर संघात हो रहे हैं। इसीलिये सभी जगह बहुवचन का प्रयोग किया है।) गार्गि ने कहा-अच्छा तो ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत है? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा-हे गार्गि! अतिप्रश्न न कर। अर्थात् न्यायोचित प्रकार को छोड़कर केवल अनुमान से शास्त्रगम्य देव के विषय में प्रश्न मत पूछ। ऐसा करने पर तेरा शिर न गिर जाय। जिसके विषय में अति प्रश्न नहीं करना चाहिये, उस देव के विषय में तू अति प्रश्न कर रही है। हे गार्गि! यदि तू जीवित रहना चाहती है, तो तू अतिप्रश्न मत कर। इसके ऊपर अनिर्वचन को गार्गि चुप हो गयी ॥ १ ॥

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वण इति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च, वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकꣳ सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च, यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाꣳस्तं चान्तर्यामिणं, ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वा इदं कश्चिद्ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति॥ १॥

॥ इति षष्ठं ब्राह्मणम्॥

अथारुणिनामसप्तमं ब्राह्मणम्

सूत्र एवं अन्तर्यामी के विषय में आरुणि का प्रश्न

फिर उस याज्ञवल्क्य से अरुण के पुत्र उद्दालक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! हम मद्रदेश में यज्ञशास्त्र का अध्ययन करते हुए कपि गोत्र में उत्पन्न पतञ्चल के घर में रहते थे। उसकी भार्या गन्धर्व से आविष्ट थी। हमने उस गन्धर्व से पूछा—तू कौन है? उसने कहा—मैं गोत्र से अथर्वा का पुत्र कबंध नाम वाला हूँ। उस गन्धर्व ने पतञ्चल काप्य और उसके याज्ञिक शिष्यों से पूछा—हे काप्य! क्या तुम उस सूत्र को जानते हो, जिसके द्वारा यह जन्म, परजन्म और ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण भूत गुथे हुए हैं? उस पर उस काप्य पतञ्चल ने कहा—भगवन्! मैं उस सूत्रात्मा को नहीं जानता। फिर उस गन्धर्व ने उस काप्य पतञ्चल से पूछा—हे काप्य! क्या उस अन्तर्यामी को जानते हो, जो इस लोक परलोक और समस्त भूतों को काष्ठ यन्त्र के समान भीतर रह कर उचित व्यापार कराता है? इस पर पतञ्चल काप्य ने कहा-हे भगवन् मैं नहीं जानता। उस गन्धर्व ने पतञ्चल काप्य और उसके याज्ञिकों से पूछा—तुममें से जो कोई भी उस सूत्र और अन्तर्यामी को उक्त रीति से जानता है, वही परमात्मा को

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रꣳसिषतास्याङ्गानीति, वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति॥ २॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ ३॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ ४॥

जानने वाला है और वही भूरादि लोकों को जानता है, एवं वही वेदवेत्ता है, वह भूतवेत्ता है, वह आत्मवेत्ता है, वह सर्ववेत्ता है। तत्पश्चात् गान्धर्व ने उन काप्य आदि से सूत्र और अन्तर्यामी को बतलाया। इस प्रकार गन्धर्व से उपदेश प्राप्त कर मैं उसे जानता हूँ। अतः हे याज्ञवल्क्य! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामी को न जानकर ब्रह्मज्ञानियों की सम्पत्ति गौओं को अन्याय से ले जाओगे; तो मेरे शाप से तुम्हारा मस्तक गिर जायगा? याज्ञवल्क्य ने कहा—अपनी प्रशंसा के लिये ऐसा जो कोई साधारण पुरुष भी कह सकता है कि मैं उसे जानता हूँ, वास्तव में यदि तुम्हें उसका ज्ञान है जैसा जानते हो, वैसे तुम कहो॥ १॥

सूत्र का वर्णन

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गौतम! वह सूत्र वायु ही है और कुछ नहीं है। हे गौतम! वायुरूप सूत्र के द्वारा ही यह लोक परलोक और सम्पूर्ण भूत जुड़े हुए हैं। हे गौतम! इसी से मृत पुरुष के विषय में ऐसा कहते हैं कि इसके अंग बिखर गये हैं, क्योंकि हे गौतम! वायुरूप सूत्र से ही भली प्रकार गुँथे हुए हैं। उद्दालक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य!यह ठीक ऐसा ही है। अब तुम उसके अन्तर्वर्ती और अन्तर्यामी नियामक को बतलाओ?॥ २॥

अन्तर्यामी का वर्णन

जो पृथिवी में रहने वाला है, पृथिवी के भीतर है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका शरीर पृथिवी है और जो भीतर रहकर पृथिवी को नियमन करता है, वही तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ ३॥ जो जल में रहने वाला जल के भीतर है, जिसे जल नहीं जानता जल जिसका शरीर है और जो जल के भीतर रहकर जल का नियमन करता है वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ ४॥

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ५ ॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षꣳ शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ६ ॥

यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ७ ॥

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ८ ॥

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ९ ॥

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १० ॥

जो अग्नि में रहने वाला अग्नि के भीतर है, जिसे अग्नि जानता नहीं, जिसका शरीर अग्नि है और जो अग्नि के भीतर रहकर उसका नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ५ ॥ जो अन्तरिक्ष में रहने वाला है, अन्तरिक्ष के भीतर है, जिसे अन्तरिक्ष जानता नहीं, जिसका शरीर अन्तरिक्ष है और जो उसके भीतर रहकर अन्तरिक्ष का नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ६ ॥ जो वायु में रहने वाला है, वायु के भीतर है, जिसे वायु जानता नहीं, जिसका शरीर वायु है और जो वायु के भीतर रहकर वायु का नियन्त्रण करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ७ ॥ जो द्युलोक में रहने वाला है द्युलोक के भीतर है, जिसे द्युलोक नहीं जानता, जिसका शरीर द्युलोक है और जो द्युलोक के भीतर रहकर द्युलोक का नियन्त्रण करता है यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ८ ॥ जो आदित्य में रहने वाला है एवं आदित्य के भीतर है, जिसे आदित्य जानता नहीं, आदित्य जिसका शरीर है, जो आदित्य के भीतर रहकर आदित्य का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ९ ॥ जो दिशाओं में रहने वाला है, एवं दिशाओं के भीतर है, जिसे दिशाएँ जानती नहीं जिसका शरीर दिशाएँ हैं, जो दिशाओं के भीतर रहकर दिशाओं का नियन्त्रण करता है वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १० ॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठंश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकं शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ ११॥

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ १२॥

यस्तमसि तिष्ठंस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ १३॥

यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम्॥ १४॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम्॥ १५॥

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ १६॥

जो चन्द्रमा तथा तारों के भीतर है, जिसे चन्द्रमा और ताराएँ जानती नहीं, जिसका शरीर चन्द्रमा और ताराएँ हैं। जो चन्द्रमा और ताराओं के भीतर रहकर चन्द्रमा और ताराओं का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ ११॥ जो आकाश में रहने वाला है, एवं आकाश के भीतर है जिसे आकाश जानता नहीं, जिसका शरीर आकाश है, जो आकाश के भीतर रहकर आकाश का नियन्त्रण करता है, यह तेरा आत्मा-अन्तर्यामी अमृत है॥ १२॥ जो अंधेरे में रहने वाला है एवं अंधेरे के भीतर है, जिसे अंधेरा जानता नहीं, जिसका शरीर अंधेरा है, जो अंधेरे के भीतर रहकर अंधेरे का नियन्त्रण करता, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ १३॥ जो प्रकाश में रहनेवाला है, एवं प्रकाश के भीतर है, प्रकाश जिसे जानता नहीं, जिसका शरीर प्रकाश है, जो प्रकाश के भीतर रहकर प्रकाश का नियन्त्रण करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इस प्रकार यह अन्तर्यामी विषयक देवताओं के अन्तर्गत दर्शन कहा गया। अब ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों में अन्तर्यामी विषयक दर्शन कहा जाता है॥ १४॥ जो सम्पूर्ण भूतों में रहने वाला है एवं सम्पूर्ण भूतों के भीतर है, जिसे सम्पूर्ण भूत जानते नहीं हैं, जिसके शरीर सम्पूर्ण भूत शरीर हैं और जो भीतर रहकर सभी भूतों का नियन्त्रण करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिभूत दर्शन है। अब आगे अध्यात्म दर्शन कहा जाता है॥ १५॥ जो प्राण में स्थित है एवं प्राण के भीतर है। जिसे प्राण जानता नहीं, जिसका शरीर प्राण है और जो भीतर रह कर प्राण का नियंत्रण करता है, यह तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है॥ १६॥

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ १७॥

यश्चक्षुषि तिष्ठꣳश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ १८॥

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यꣳ श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रꣳ शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ १९॥

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ २०॥

यस्त्वचि तिष्ठꣳस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ् न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ २१॥

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानꣳ शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ २२॥

यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यꣳ रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो

जो वाणी में स्थित है, और वाणी के भीतर है, जिसे वाणी जानती नहीं, वाणी जिसका शरीर है और जो वाणी के भीतर रहकर वाणी का नियन्त्रण करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमरणधर्मा है॥ १८॥ जो नेत्र में स्थित है, और जो नेत्र के भीतर है, जिसे नेत्र जानता नहीं, नेत्र जिसका शरीर है, और जो नेत्र के भीतर रहकर नेत्र का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमरणधर्मा है॥ १८॥ जो श्रोत्र के भीतर श्रोत्र में रहने वाला है, जिसे श्रोत्र जानता नहीं, श्रोत्र जिसका शरीर है और जो श्रोत्र के भीतर रहकर श्रोत्र का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ १९॥ जो मन के भीतर मन में स्थित है, जिसे मन जानता नहीं, जिसका शरीर मन है, जो मन के भीतर रहकर मन का नियमन करता है यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ २०॥ जो त्वचा के भीतर त्वचा में रहने वाला है, जिसे त्वचा जानती नहीं, जिसका शरीर त्वचा है, जो त्वचा के भीतर रहकर त्वचा का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ २१॥ जो बुद्धि में रहने वाला बुद्धि के भीतर है, बुद्धि जिसे जानती नहीं, जिसका शरीर बुद्धि है, जो बुद्धि के भीतर रहकर बुद्धि का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ २२॥ जो, प्रजनन इन्द्रिय में रहने वाला प्रजनन के भीतर रहता है, जिसे वीर्य जानता नहीं वीर्य जिसका शरीर है, जो वीर्य के भीतर रहकर वीर्य का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत

रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम॥ २३ ॥ इति सप्तमं ब्राह्मणम्॥ (७)॥

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो! हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति॥ १ ॥

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति॥ २ ॥

है। वह दिखायी नहीं देता, किन्तु देखता है। सुनायी नहीं देता, किन्तु सुनता है, मनन का विषय नहीं होता, किन्तु मनन करने वाला है, जो विशेष रूप से ज्ञात नहीं होता किन्तु विशेष रूप से जानता है, इससे भिन्न द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न श्रोता नहीं है इससे भिन्न मन्ता नहीं है और न इससे भिन्न कोई विज्ञाता ही है। यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सभी नश्वर हैं। इसके बाद आरुणि उद्दालक चुप हो गया॥ २३ ॥

॥ इति सप्तमं ब्राह्मणम्॥

अथाक्षरनामाष्टमं ब्राह्मणम्

दो प्रश्न पूछने के लिये गार्गी की ऋषियों से अनुमति माँगना

तत्पश्चात् वाचक्नु की पुत्री गार्गी ने कहा–हे पूज्य ब्राह्मण गण! यदि आप लोगों की अनुमति हो तो मैं इस याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछूँगी, मेरे उन प्रश्नों का उत्तर यदि याज्ञवल्क्य ने देदिया, तो आप में से कोई इन्हें ब्रह्म सम्बन्धी वाद विवाद में नहीं जीत सकते। इस पर ब्राह्मणों ने अनुमति देदी। हे गार्गि! पूछ॥ १ ॥ गार्गी ने कहा हे याज्ञवल्क्य! जैसे लोक में काशी या विदेहदेश का रहने वाला राजा वीरवंश में उत्पन्न प्रत्यञ्चा रहित धनुष पर पुनः प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शत्रुओं को अत्यन्त पीड़ित करने वाले दो बाणों से युक्त शर हाथ में लेकर उपस्थित हो, वैसे ही दो प्रश्न लेकर मैं तुम्हारे सामने उपस्थित होती हूँ। (यदि तु ब्रह्मज्ञानी हो तो) मुझे उनका उत्तर दो? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि! पूछ॥ २॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं चेति॥ ३॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति॥ ४॥

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति॥ ५॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं चेति॥ ६॥

प्रथम प्रश्न

गार्गी ने कहा हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोक से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है, जो द्यावा पृथिवीरूप इन अण्ड कपोलों के बीच में है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं एवं जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्यत् ऐसा कहते हैं, वे सम्पूर्ण द्वैत-वर्ग किसमें ओत-प्रोत हैं॥ ३॥

याज्ञवल्क्य का उत्तर

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि! द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे और जो द्युलोक पृथिवी के बीच में है एवं स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, भविष्य, वर्तमान ऐसा कहते हैं वे सभी अव्याकृत आकाश में ओत-प्रोत हैं॥ ४॥ उस गार्गी ने फिर से कहा—हे याज्ञवल्क्य! आपको नमस्कार है जो कि आपने मेरे इस प्रश्न का उत्तर दे दिया। अब आप दूसरे प्रश्न के लिये तैयार हो जावें। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि! पूछ॥ ५॥

द्वितीय प्रश्न

उसने कहा हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोक से ऊपर, जो पृथिवी से नीचे, तथा जो द्युलोक और पृथिवी के बीच में है एवं जो यह स्वयं द्युलोक और पृथिवी लोक है और जिन्हें 'भूत, वर्तमान तथा भविष्य' ऐसे शब्द से कहते हैं, वे सब किसमें ओत-प्रोत हैं॥ ६॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति॥ ७॥

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्व-नाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममु-खममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥ ८॥

तब उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि! जो द्युलोक से ऊपर, जो पृथिवी से नीचे और जो द्युलोक तथा पृथिवी के बीच में हैं एवं जो स्वयं द्युलोक तथा पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, भविष्यत् और वर्तमान् ऐसे शब्द से कहते हैं, वे सब आकाश में ही ओत-प्रोत हैं (पूर्वोक्त वाक्य से प्रथम प्रश्नोत्तर को ही पुष्ट किया गया है, जिसे अग्रिम प्रश्न के उपक्रम रूप से गार्गि ने कहा है)। किन्तु आकाश किसमें ओत-प्रोत है? (गार्गि समझती है जब आकाश तत्त्व को बतलाना ही कठिन है फिर भला आकाश के ओत-प्रोत के स्थान को बतलाना तो अत्यन्त कठिन होगा। अतः प्रश्न के उत्तर न आने पर याज्ञवल्क्य स्वयं ही निगृहीत हो जायगा)॥ ७॥

द्वितीय प्रश्न का उत्तर

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि! आकाश के ओत-प्रोत स्थानरूप उस इस तत्त्व को तो ब्रह्मवेत्ता पुरुष 'अक्षर' कहते हैं। वह अक्षर न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न जल का गुण द्रवरूप है, न छाया है, न अन्धेरा है, न गन्ध है, न नेत्रवाला है, न श्रोत्रवाला है, न मनवाला है, न तेजवाला है, न प्राणवाला है, न मुखवाला, न मापवाला है, उसमें न अन्दर है, न बाहर है, किंबहुना—न वह स्वयं कुछ खाता है, न उसे कोई खाता है (तात्पर्य यह है कि न वह विशेषणरूप है और न विशेषणवाला है। यह तो समस्त विशेषणों से रहित एक अद्वितीय तत्त्व है)॥ ८॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यधर्मासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः, प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशꣳसन्ति यजमानं देवा, दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥ ९ ॥

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥ १० ॥

अनुमान प्रमाण से अक्षर तत्त्व का वर्णन

हे गार्गि! इसी अक्षर के प्रशासन में सूर्य-चन्द्र विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित हैं। हे गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर विशेष रूप से धारण किये हुए नियन्त्रित होकर स्थित हैं। हे गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्वदिशा की ओर बहने वाली नदियाँ एवं अन्य नदियाँ श्वेत (हिमालय) पर्वतों से बहती हैं तथा पश्चिम की ओर बहने वाली नदियाँ जिस-जिस दिशा की ओर अनुप्रवृत कर दी गयी हैं उस दिशा का अनुसरण आज भी करती रहती हैं। हे गार्गि! इस अक्षर के प्रशासन में सुवर्णादि दान लेने वाले प्रमाणज्ञ मनुष्य दाता की प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमान का और पितृगण दर्वी होम का अनुवर्तन करते हैं (उक्त सभी लिङ्गों से उस अक्षर तत्त्व का अनुमान किया जाता है) ॥ ९ ॥

अक्षर के जानने और न जानने का फल

हे गार्गि! इसलोक में जो कोई इस अक्षर को जाने बिना ही हवन करता है, यज्ञ करता है और अनेकों सहस्र वर्ष पर्यन्त तप भी करता है, उसका वह सभी कर्म नाशवान् ही होता है, क्योंकि भोग के पीछे उसका नाश होना अनिवार्य है। अतः जो कोई भी उस अक्षर को जाने बिना ही इस लोक से मर कर प्रयाण करता है वह दीन और कृपण है। अर्थात् वह मर कर पुनः संसार बन्धन को प्राप्त हो जाता है। वह देवादि लोक में जाने पर भी पैसे से खरीदे हुए दास के समान ही रहता है। पर हे गार्गि! जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से मरकर जाता है, वह संसार बन्धन से मुक्त हुआ पुरुष ब्राह्मण है॥ १० ॥

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतः श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ११ ॥

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम॥ १२ ॥ इत्यष्टमं ब्राह्मणम्॥ (८)॥

अक्षर तत्त्व की परिभाषा और अद्वितीयता

हे गार्गि! यह अक्षर किसी की दृष्टि का विषय नहीं होता, किन्तु स्वयं दृष्टि स्वरूप होने के कारण द्रष्टा है। वैसे ही श्रोत्र का विषय नहीं है किन्तु स्वयं श्रुतिरूप होने से श्रोता है। मनन का विषय नहीं किन्तु मतिरूप होने से मन्ता है। बुद्धिका अविषय होने से स्वयं अविज्ञात होता हुआ भी विज्ञात स्वरूप होने से दूसरों का विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं, इससे भिन्न कोई मनन कर्ता नहीं और न इससे भिन्न कोई विज्ञाता ही है। अतः हे गार्गि! निःसन्देह इस अक्षर में ही आकाश ओत-प्रोत है॥ ११ ॥

गार्गि का उद्घोष

उस गार्गि ने कहा—हे पूजनीय ब्राह्मणों! आप लोग इसी को बहुत समझो, जो इनसे नमस्कार के द्वारा छुटकारा पाजाओ। आप में से कोई भी इस याज्ञवल्क्य को ब्रह्मवाद मे जीत नहीं सकता, (क्योंकि पहले ही मैंने ऐसी प्रतिज्ञा की थी। आज भी मेरा यही निश्चय है कि ब्रह्मवाद में याज्ञवल्क्य के समान दूसरा कोई नहीं है) इसके बाद वाचक्नु की पुत्री गार्गि चुप हो गयी॥ १२ ॥

॥ इत्यष्टमं ब्राह्मणम्॥

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिꣳशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति॥ १॥

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति॥ २॥

अथ शाकल्यनामनवमं ब्राह्मणम्

देवताओं की संख्या के विषय में शाकल्य का प्रश्न

इसके बाद इस याज्ञवल्क्य से शकल के पुत्र विदग्ध ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य! देवता कितने हैं? इस पर याज्ञवल्क्य ने इस (आगे बतलायी जाने वाली निविद) देव संख्या सम्बन्धी मन्त्र पद से ही उन देवताओं की संख्या निविद में बतलायी गयी है। वे सभी तीन और तीन एवं तीन सौ और तीन हजार हैं, अर्थात् तीन हजार तीन सौ छः। तब शाक्ल्य ने कहा—ठीक है। उसने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य! देवता कितने हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा तैंतीस। (देवताओं के संकोच विषयक देवसंख्या को सुनकर शाकल्य ने कहा) ठीक है और फिर पूछा, याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—छः। शाकल्य ने ठीक है ऐसा कहकर पुनः प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—तीन। शाकल्य ने कहा ठीक है और ऐसा कहकर फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—दो। शाक्ल्य ने ठीक है ऐसा कहकर पुनः पूछा। हे याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—डेढ़। शाकल्य ने ठीक है, ऐसा कहकर पुनः पूछा—हे याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—एक। शाकल्य ने "ठीक है" ऐसा कहकर संख्येय के विषय में पूछा—वे तीन हजार तीन सौ छः देव कौन से हैं?॥ १॥

तैंतीस देवताओं का विवरण

इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—(३ ३०६, इतनी संख्या तो इनकी महिमाएँ हैं। वस्तुतः देवगण तो तैंतीस ही हैं) शाकल्य ने कहा—वे तैंतीस देव कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—आठ वसु हैं, एकादश रुद्र हैं, द्वादश आदित्य, ये एकतीस देवगण हैं तथा इन्द्र एवं प्रजापति इनके सहित तैंतीस हो जाते हैं॥ २॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदꣳ सर्वꣳ हितमिति तस्माद्वसव इति॥ ३॥

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति॥ ४॥

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति॥ ५॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति॥ ६॥

अष्ट वसु का विवरण

शाकल्य ने पूछा—अष्ट वसु कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा तथा नक्षत्र ये वसु हैं (क्योंकि प्राणियों के कर्मफल के आश्रय बनकर देहादि संघात रूप से परिणत होकर सम्पूर्ण जगत् को बसा रहे हैं और स्वयं भी बसते हैं) इन्हीं में यह सब जगत् निहित है, इसीलिये ये वसु हैं॥ ३॥

रुद्र का विवरण

शाकल्य ने कहा—रुद्र कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—इस पुरुष में कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ ये दश प्राण और ग्यारहवाँ मन। जिस समय प्राणियों के प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाते हैं, उस समय यही एकादश रुद्र मरण शील शरीर से उत्क्रमण करते हैं, तब ये उसके सम्बन्धियों को रुलाते हैं। इसलिये उत्क्रमण काल में अपने सम्बन्धियों को लाते हैं। इसी रोदन के निमित्त होने से ये रुद्र कहे जाते हैं॥ ४॥

आदित्य का विवरण

शाकल्य ने कहा—आदित्य कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—जो बारह मास संवत्सर रूप काल के अवयव प्रसिद्ध हैं यही आदित्य हैं, क्योंकि पुनः पुनः बदलते हुये इन सब प्राणियों की आयु एवं कर्म फ़ल को ग्रहण करते हुए चलते हैं। इसीलिये ये आदित्य कहे जाते हैं॥ ५॥

इन्द्र और प्रजापति का वर्णन

शाकल्य ने कहा—इन्द्र कौन है? और प्रजापति कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—विद्युत् ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है। शाकल्य ने पूछा—विद्युत् कौन है? ''अशनि'' जो प्राणियों की हिंसा करता है (यह इन्द्र का ही क्रूर कर्म है)। शाकल्य ने पूछा—यज्ञ कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—यज्ञ के साधन होने से पशुगण यज्ञ हैं (क्योंकि यज्ञ का स्वयं अपना रूप नहीं है)॥ ६॥

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीदꣳ सर्वꣳ षडिति॥ ७॥

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति॥ ८॥

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदꣳसर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते॥ ९॥

छः देवताओं का वर्णन

शाकल्य ने पूछा—छः देवगण कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य तथा द्युलोक, बस यही छः देवगण हैं (पहले बतलाए गये वस्तुओं में से चन्द्रमा और नक्षत्र को छोड़ देने पर शेष देवता षड् संख्या विशिष्ट होते हैं), क्योंकि ये वसु आदि तैंतीस देवताओं के रूप में अग्नि आदि छः देवगण ही हैं। इन्हीं छः के विस्तार अन्य सभी देव हैं॥ ७॥

देवगण की तीन, दो या डेढ़ संख्याओं का तात्पर्य

शाकल्य ने पूछा—वे तीन देव कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा-ये तीन लोक ही तीन देव हैं अर्थात् पृथिवी और अग्नि मिलाकर एकदेव, अन्तरिक्ष और वायु मिलाकर दूसरे देव, एवं द्युलोक और आदित्य मिलाकर तीसरे देव हैं। इन्हीं में ये सब देवगण अन्तर्भूत हैं। शाकल्य ने पूछा—वे दो देव कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा-अन्न और प्राण (इन्हीं में पूर्वोक्त सभी देवताओं का अन्तर्भाव हो जाता है) शाकल्य ने पूछा—डेढ़ देव कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो यह बहता है वह वायु ही डेढ़ देव है॥ ८॥

डेढ़ और एक देव का विवरण

इस विषय में ऐसा कहते हैं यह जो वायु है यह एक ही-सा बहता है, फिर यह अध्यर्ध यानी डेढ़ कैसे कहा जाता है? इस का उत्तर यह है कि—क्योंकि इसी में यह सब जगत् अधि (ऋद्धि को प्राप्त होता है) इसीलिये यह वायु अध्यर्ध है यानी डेढ़ है। शाकल्य ने कहा—एक देव कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा—"प्राण" वह प्राण ब्रह्मस्वरूप है। उस ब्रह्म को ही परोक्ष वाचक "त्यत्" इस शब्द से भी कहते हैं॥ ९॥

पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳस वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच॥ १०॥

काम एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ स एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच॥ ११॥

प्राण ब्रह्म का अष्टधा भेद

शाकल्य ने पूछा—पृथिवी ही जिस देव का आश्रय है, अग्नि जिसका लोक (देखने का साधन) है और मन जिसका ज्योति (संकल्प विकल्प का साधन) है। जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण संघात का परम आश्रय जानता है वही पंडित है। हे याज्ञवल्क्य! (तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का दम्भ कर रहे हो?) जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण संघात का परम आश्रय कहते हो उसे मैं जानता हूँ। यह जो भी शारीर पुरुष है वही यह देव है। हे शाकल्य! इस सम्बन्ध में फिर से पूछो। शाकल्य ने कहा—उस शारीर पुरुष का देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा—वह अमृत है (शुक्र शोणित से निष्पन्न पार्थिव शरीर को 'शारीर पुरुष' शब्द से कहा गया है, जो अन्न के रस से निष्पन्न होता है। अतः मातृ शरीर में लोहित निष्पत्ति के हेतु रस को अमृत शब्द से कहा है।)॥ १०॥

शाकल्य ने पूछा—जिसका आश्रय दाम्पत्य सुखाभिलाषा रूप काम ही है, हृदयस्थ बुद्धि लोक है और मन ज्योति है। उस पुरुष को जो भी कोई सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण संघात का आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है (हे याज्ञवल्क्य! तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का दावा करते हो) याज्ञवल्क्य ने कहा—जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण संघात का परम आश्रय कहते हो. उसे मैं जानता हूँ। जो भी यह काममय पुरुष है, वही यह देव है। हे शाकल्य! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा ''स्त्रियाँ'' (क्योंकि स्त्री से ही उक्त काम का उद्दीपन होता है)॥ ११॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच॥ १२॥

आकाश एव यस्यायतनꣳ श्रोत्रं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ श्रोत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच॥ १३॥

तम एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳस वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं

शाकल्य ने पूछा—शुक्लादि रूप ही जिसका आयतन है, नेत्र लोक है और मन ज्योति है। जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण संघात का परम आश्रय जानता है वही पंडित है (हे याज्ञवल्क्य! तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो) याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्यकरण संघात का परम आश्रय कह रहे हो उसे मैं जानता हूँ। जो भी यह आदित्य में पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य! इस सम्बन्ध में और भी पूछो? शाकल्य ने कहा उसका देवता कौन है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—''सत्य'' (चक्षुः क्योंकि अध्यात्म चक्षुः से ही अधिदैविक आदित्य की निष्पत्ति होती है)॥ १२॥ शाकल्य ने पूछा—आकाश ही जिसका आयतन है, श्रोत्र लोक है, और मन ज्योति है। जो भी उस पुरुष को समस्त आध्यात्मिक कार्य-करण संघात कां परम आश्रय जानता है, वही पंडित है। (हे याज्ञवल्क्य! तुम उसे न जानते हुए भी पंडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो) याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्य-करण संघात का परम आश्रय कहते हो उस पुरुष को तो मैं जानता हूँ। जो भी यह श्रोत्र में रहने वाला प्रातिश्रुत्क (प्रातिश्रवण के समय विशेष रूप से रहने वाला) पुरुष है, यही वह है। हे शाकल्य! इस विषय में और भी पूछो! शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—''दिशाएँ'' (क्योंकि दिशाओं से यह आध्यात्मिक पुरुष निष्पन्न होता है)॥ १३॥ शाकल्य ने कहा—अंधकार ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक है, मन ज्योति है। जो भी कोई उस पुरुष को समस्त आध्यात्मिक कार्य-करण संघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य! वही पंडित है (तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो?) याज्ञवल्क्य ने

तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच॥ १४॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच॥ १५॥

आप एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच॥ १६॥

कहा—तुम जिसे सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण संघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी यह छायामय पुरुष है वही यह है। हे शाकल्य! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—अव्याकृत ईश्वररूप मृत्यु ही उसका देवता है॥ १४॥ शाकल्य ने पूछा—प्रकाशक रूप ही जिसका आश्रय है, नेत्र लोक है, तथा मन ज्योति है। उस पुरुष को जो कोई भी समस्त आध्यात्मिक कार्य-करण संघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य! वही पंडित है (तुम तो उसे न जानकर भी पंडित होने का दम्भ कर रहे हो) याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्यकरण संघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी यह प्रतिबिम्ब के आश्रयभूत दर्पण में पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—प्राण ही उसका देवता है (क्योंकि उस प्रतिबिम्ब नामक पुरुष की निष्पत्ति प्राण द्वारा दर्पण के घर्षण करने पर ही होती है)॥ १५॥ शाकल्य ने कहा—सर्वसाधारण जल ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक है तथा मन ज्योति है। उस पुरुष को जो भी कोई समस्त आध्यात्मिक कार्य-करण संघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य! वही विद्वान् है (तुम तो उसे जाने बिना ही विद्वान् होने का दावा कर रहे हो) याज्ञवल्क्य ने कहा—जिसे तुम समस्त कार्य-करण संघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी यह तड़ागादि स्थित जल में विशेष रूप से पुरुष विद्यमान है, वही यह है। हे शाकल्य! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—वरुण उसका देवता है (क्योंकि वरुण के द्वारा संघात कर्ता आध्यात्मिक जल ही स्थूल जल की निष्पत्ति का कारण है)॥ १६॥

रेत एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच॥ १७॥

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वाꣳ स्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता ३ इति॥ १८॥

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति, दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति, यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः॥ १९॥

शाकल्य ने कहा—वीर्य ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक है और मन ज्योति है। जो भी कोई उस पुरुष को सभी आध्यात्मिक कार्य-करण संघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य! वही पंडित है (तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का दावा कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—जिसे तुम सभी आध्यात्मिक कार्य-करण संघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी वह पुत्ररूप पुरुष है वही यह है। हे शाकल्य! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—प्रजापति देवता है (क्योंकि पितारूप प्रजापति से ही पुत्र की उत्पत्ति होती है)॥ १७॥

शाकल्य को सावधान करना

हे शाकल्य! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा—निःसन्देह इन ब्राह्मणों ने तुम्हें अंगारे निकालने के लिये चिमटा बना रक्खा है (क्योंकि मेरे द्वारा तुम्हारा दाह तो हो रहा है, फिर भी तुम्हें इसका पता नहीं)॥ १८॥

देवता एवं आश्रय सहित दिशाओं के ज्ञान की प्रतिज्ञा

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा शाकल्य ने कहा—जो यह तुमने कुरु पाञ्चाल देशीय ब्राह्मणों का आक्षेप द्वारा तिरस्कार किया है, वह क्या तुम वस्तुतः ब्रह्मज्ञानी हो? अर्थात् ऐसा समझ कर तिरस्कार करते हो। याज्ञवल्क्यने कहा—मेरा ब्रह्मज्ञान यह है कि मैं देवता तथा आश्रय के सहित दिशाओं को जानता हूँ। शाकल्य ने कहा—यदि तुम देवता और आश्रय के सहित दिशाओं को जानते हो (अर्थात् फल सहित विज्ञान की प्रतिज्ञा की है) तो॥ १९॥

किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ २०॥

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायाꣳ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ २१॥

इस पूर्वदिशा में तुम किस देवता से युक्त होकर स्थित हो?। याज्ञवल्क्य ने कहा—वहाँ पर मैं सूर्य देवता से युक्त हूँ। शाकल्य ने कहा—सूर्य किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—नेत्र में। शाकल्यने पूछा-नेत्र किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—रूपों में, क्योंकि नेत्र से ही पुरुष नीलादि रूपों को देखता है। शाकल्य ने कहा—रूप किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय में, क्योंकि पुरुष वासनात्मक रूपों का हृदय से ही स्मरण करता है। अतः हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित है। शाकल्यने कहा, हे याज्ञवल्क्य! ठीक है॥ २०॥

देवता एवं प्रतिष्ठा के सहित दक्षिण दिशा की निरूपण

इस दक्षिणदिशा में तुम किस देवता से युक्त होकर स्थित हो? याज्ञवल्क्य ने कहा—यम देवता से युक्त हूँ। शाकल्य ने पूछा—वह यम देवता किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा-यज्ञ में। शाकल्य ने पूछा-यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा-दक्षिणा में, क्योंकि यज्ञकर्ता ऋत्विज् दक्षिणा से खरीदे हुए होते हैं। शाकल्य ने कहा—दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा-भक्ति सहित आस्तिक्यबुद्धि रूप श्रद्धा में, क्योंकि जब पुरुष श्रद्धा करता है तभी दक्षिणा देता है। अतः श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने पूछा-श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा-हृदय में, क्योंकि हृदय में ही पुरुष श्रद्धा को जानता है। अतः हृदय में ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने कहा-हे याज्ञवल्क्य! यह बात भी ऐसी ही है॥ २१॥

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ २२॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु

देवता तथा आश्रय के सहित पश्चिम दिशा का निरूपण

हे याज्ञवल्क्य! इस पश्चिमदिशा में तुम किस देवता के सहित स्थित हो? याज्ञवल्क्य ने कहा-वरुण देवता से। शाकल्य ने कहा-वह वरुण किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—जल में। शाकल्य ने पूछा—वह जल किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—वीर्य में, क्योंकि वीर्य से ही जल की रचना हुई है। शाकल्य ने कहा—वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय में। अतएव पिता के अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्र को लोक कहते हैं—यह मानो पिता के हृदय से ही निकला है, क्योंकि हृदय में ही वीर्य स्थित होता है। शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! यह बात भी ऐसी ही है॥ २२॥

देवता और प्रतिष्ठा सहित उत्तर दिशा का निरूपण

इस उत्तरदिशा में तुम किस देवता से युक्त हो? याज्ञवल्क्य ने कहा—सोम देवता, (सोम शब्द से सोमलता और सोम देवता दोनों का वर्णन किया गया है) शाकल्य ने पूछा वह सोम देवता किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—दीक्षा में (क्योंकि दीक्षित यजमान ही सोम को खरीदकर सोम से यजन करके सोम से अधिष्ठित तत्सम्बन्धी उत्तरदिशा को प्राप्त होता है) शाकल्य ने पूछा-दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—सत्य में। इसलिये दीक्षित पुरुष से कहते हैं कि 'सत्य बोलो', क्योंकि सत्य में ही दीक्षा प्रतिष्ठित है। (अन्यथा कारण के नाश होने से दीक्षा रूप कार्य का नाश होना संभव है)। शाकल्य ने पूछा—सत्य

सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २३ ॥

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥ २४ ॥

अहँल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै यद्ध्येतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयाꣳसि वैनद्विमथ्नीरन्निति ॥ २५ ॥

किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय में क्योंकि हृदय से ही पुरुष सत्य को जानता है। अतः हृदय में ही सत्य प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है॥ २३ ॥

देवता तथा प्रतिष्ठा के सहित
ध्रुवा दिशा का निरूपण

शाकल्यने पूछा—ध्रुवा (ऊर्ध्व) दिशा में तुम किस देवता वाले हो? याज्ञवल्क्य ने कहा—मैं अग्नि देवता वाला हूँ, क्योंकि ऊर्ध्व दिशा में प्रकाश बहुत है और प्रकाश ही अग्नि है। शाकल्य ने पूछा-वह अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—वाक् में। शाकल्य ने पूछा—वाक् किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा हृदय में (उस समय सम्पूर्ण दिशाओं में फैले हुए हृदय के द्वारा याज्ञवल्क्य उन्हें आत्मभाव से प्राप्त था। शाकल्य ने पूछा—) हृदय किसमें प्रतिष्ठित है? (इस वाक्य से शाकल्य ने सर्वात्मक हृदय की प्रतिष्ठा के विषय में प्रश्न किया) ॥ २४ ॥

हृदय और देह का अन्योन्याश्रयत्व

हे प्रेत! ऐसे शब्द से संबोधित करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा—जिस समय तुम इस देह को हृदय रूप हमसे पृथक् मानते हो, यदि उस समय सचमुच में यह शरीर हमसे पृथक् हो जाय, तो इसे कुत्ते खा जायँ, या पक्षी इसे चोंच मार कर मथ डालें अर्थात् शरीर, नाम, रूप वह कर्ममय होने के कारण हृदयरूप आत्मा में ही प्रतिष्ठित है॥ २५ ॥

कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति। एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान्पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति। तꣳ ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः॥ २६॥

प्राणादि सहित शरीरादि की प्रतिष्ठा, आत्मस्वरूप का निरूपण एवं शाकल्य का शिरः पात

तुम और तुम्हारा आत्मा (हृदय) किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—देह और आत्मा ये दोनों प्राण वृत्ति में प्रतिष्ठित है? शाकल्य ने पूछा प्राण किसमें प्रतिष्ठित है? व्यान में। व्यान किसमें प्रतिष्ठित है? उदान में। उदान किसमें प्रतिष्ठित है? समान में। (यदि प्राण वृत्ति अपान से न रोकी जायँ तो वह ऊपर की ओर से बाहर निकल जायँ। यदि मध्यस्थ व्यान से अपानवृत्ति ने रोकी जायँ, तो वह अपान की ओर ही चली जायँ, यदि ये तीनों वृत्तियाँ कील स्थानीय उदान वृत्ति से न बँधी हों, तो यह सभी ओर फैल जायँ। वैसे ही उक्त चारों ही प्राण वृत्ति समान में प्रतिष्ठित हैं।) जिसका मधु काण्ड में "स एष नेति नेति" ऐसा कहकर निरूपण किया गया है। वह आत्मा अग्राह्य है, वह ग्रहण नहीं किया जाता। अशीर्य है, वह नष्ट नहीं होता। असंग है, वह संसक्त नहीं होता। अमूर्त होने से अबद्ध है, अतः वह व्यथित और हिंसित नहीं होता। उक्त ये आठ आयतन हैं, आठ लोक हैं, आठ देव हैं और आठ पुरुष हैं। वह जो कोई भी उन पूर्वोक्त शारीरादि आठ पुरुषों को निश्चय पूर्वक जानकर उन्हें अपने हृदय में उपसंहार कर औपाधिक क्षुधा पिपासादि कर्मों का अतिक्रमण किये हुए हैं। मैं उसी औपनिषद पुरुष को तुमसे पूछता हूँ, यदि तुम स्पष्ट रूप से मेरे प्रति उसे न कह सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा? उस औपनिषद पुरुष को शाकल्य सर्वथा नहीं जानता था। अतः उसका मस्तक गिर गया। इतना ही नहीं जानता था। अतः उसका मस्तक गिर गया। इतना ही नहीं किन्तु लुटेरों ने उसकी हड्डियों को कुछ और (धनादि) समझ कर उसके शिष्यों से छीन लिया॥ १६॥

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान्वा वः पृच्छामीति। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः॥ २७॥

तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ। यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा। तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः॥ १॥

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः। तस्मात्तदा तृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात्॥ २॥

माꣳसान्यस्य शकराणि किनाटꣳ स्नाववत्स्थिरम्। अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता॥ ३॥

यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति॥ ४॥

प्रश्न करने के लिये याज्ञवल्क्य का सभासदों को आमंत्रण

इसके बाद ब्राह्मणों के मौन हो जाने पर याज्ञवल्क्य ने कहा—पूज्य ब्राह्मणगण! आपमें से जिसकी इच्छा हो कि मैं याज्ञवल्क्य से प्रश्न करूँ, वह क्रमशः मुझसे पूछ सकता है अथवा आप सभी मिलकर मुझसे पूछ सकते हैं? ऐसे ही आपमें जिसकी इच्छा हो कि याज्ञवल्क्य मुझसे प्रश्न करे, तो उससे मैं पूछता हूँ। पर इस चुनौती के सामना करने का साहस उन ब्राह्मणों को नहीं हुआ॥ २७॥

याज्ञवल्क्य के प्रश्न

याज्ञवल्क्य ने उन ब्राह्मणों से इन आगे कहे जाने वाले श्लोकों द्वारा पूछा—वनस्पति आदि गुणों से युक्त वृक्ष जिन धर्मों से युक्त होता है, जीव का शरीररूप पुरुष भी वैसा ही होता है, यह सर्वथा सत्य है। वृक्ष के पत्ते होते हैं और उस पुरुष के शरीर में रोएँ होते हैं। वृक्ष के बाहरी भाग में छाल होती है और पुरुष के शरीर में त्वचा॥ १॥ इस पुरुष की त्वचा से ही रक्त चूता है और वृक्ष की छाल से गोन्द निकलता है, इस प्रकार वृक्ष और पुरुष की समानता है। इस समानता के कारण ही जैसे चोट खाये हुए वृक्ष से रस चूता है वैसे ही चोट खाये हुए पुरुष के शरीर से रक्त निकलता है॥ २॥ पुरुष के शरीर में माँस होते हैं और वृक्ष के शकर (छाल के भीतर का अंश) होते हैं, पुरुष के नसें होती हैं और वृक्ष में किनाट (नस के समान भीतरी अंश) होते हैं। वह किनाट नसों की भाँति स्थिर होती है। पुरुष के स्नायु जाल के भीतर हड्डियाँ होती हैं वैसे ही वृक्ष के भीतर काष्ठ होता है। पुरुष की मज्जा तो वृक्ष के समान ही निश्चित की गई है॥ ३॥ वृक्ष को यदि काट दिया जाता है तो वह पुनः-पुनः अपनी जड़ से पूर्व की अपेक्षा नूतनतर होकर प्रकट होता है। वैसे ही यदि मृत्यु मनुष्य को काट डाले, तो वह किस मूल से उत्पन्न होगा? अर्थात् मृत पुरुष की उत्पत्ति कहाँ से होगी?॥ ४॥

रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते। धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्यसंभवः॥ ५॥

यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति॥ ६॥

जात एव न जायते कोऽन्वेनं जनयेत्पुनः। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति॥ ७॥ २८॥ इति नवमं ब्राह्मणम्॥ (९)॥ इति तृतीयः प्रपाठकः॥ ३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

ॐ जनको ह वैदेह आसांचक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज। तः होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तानिति। उभयमेव सम्राडिति होवाच॥ १॥

यदि तुम कहो कि वह वीर्य से उत्पन्न होता है तो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि वीर्य जीवित पुरुष से ही उत्पन्न होता है मृत से नहीं। वृक्ष भी केवल तने से नहीं निकलता किन्तु बीच से भी उत्पन्न होता है। पर बीज से उत्पन्न होनेवाला वृक्ष कट जाने के बाद अंकुरित होता हुआ प्रत्यक्ष देखा गया है॥ ५॥ यदि वृक्ष को मूल से उखाड़ दिया जाय तो वह फिर कहीं से आकर उत्पन्न नहीं होगा। वैसे ही यदि मृत्यु मनुष्य का छेदन कर डाले तो वह किस मूल से उत्पन्न होगा?॥ ६॥ पुरुष तो उत्पन्न हो ही गया है, फिर वह उत्पन्न नहीं होगा (तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि मरकर पुनर्जन्म होता ही है) ऐसी स्थिति में मृत्यु के बाद पुनर्जन्म किससे होगा? (इन प्रश्नों का उत्तर ब्राह्मणों से न दिये जाने पर श्रुति स्वयं कहती है) विज्ञान आनन्द स्वरूप ब्रह्म है, वह स्वयं धन का देने वाला है, कर्मकर्ता यजमान की परमगति है और ब्रह्मज्ञानी का परम आश्रय है॥ ७॥॥ (२८)॥

॥ इति तृतीयाध्यायः, नवमं ब्राह्मणम्॥

अथ चतुर्थाध्याये याज्ञवल्क्यनामप्रथमं ब्राह्मणम्

राजाजनक-याज्ञवल्क्य संवाद

जब प्रसिद्ध विद्वान् विदेहाधिपति राजा जनक (स्वस्थ चित्त हो अपने) राजसिंहासन पर आसीन थे, तब महर्षि याज्ञवल्क्य उनके पास आये। याज्ञवल्क्य से जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! आप किस प्रयोजन को लेकर यहाँ आये हैं? क्या पशुरूपी धन की इच्छा से या सूक्ष्माति सूक्ष्म अत्यन्त गोपनीय पदार्थ के प्रश्नों को सुनने के लिये आये हैं? (अर्थात् विभिन्न आचार्यों से श्रवण किये हुए हमारे ज्ञान को प्रमाणित करने के लिए आये हैं?) उस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट्! मैं उक्त दोनों ही कार्य के लिये आया हूँ॥ १॥

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां; न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य। वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत। का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य वागेव सम्राडिति होवाच। वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते। हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ २॥

(याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन्!) जो कुछ किसी आचार्य ने आप से कहा है उसे मैं सुनना चाहता हूँ, तब जनक ने कहा—कि शिलिन ऋषि के पुत्र जित्वा ने मुझसे कहा था कि निःसन्देह वाणी देवता ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा—शैलिनि ने बहुत ठीक कहा है, जैसे माता, पिता, आचार्य द्वारा अच्छी प्रकार सुशिक्षित पुरुष शिष्य को उपदेश करें, वैसे ही शैलिनी ने आप से कहा है, निःसन्देह वाणी ही ब्रह्म है, क्योंकि न बोलने वाले या गूँगे से लोगों का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। पर यह तो बतलाइये कि उसने उसके आयतन एवं प्रतिष्ठा को भी आपसे कहा या नहीं? जनक ने कहा, नहीं। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन्! तब तो एक पाद ब्रह्म का ही यह उपदेश उसने किया। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! कृपया उस अवशिष्ट तत्त्व को आप बतलावें। याज्ञवल्क्य ने कहा—वाणी ही उस वाग् रूप ब्रह्म का आयतन है और अव्याकृत आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी उपासना प्रज्ञा रूप से करनी चाहिये, क्योंकि प्रज्ञा उस ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। इस पर जनक ने पूछा—प्रज्ञता क्या है? अर्थात् आयतन और प्रतिष्ठा के समान उससे भिन्न है क्या? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे महाराज! वाणी ही प्रज्ञता है। हे सम्राट्! वाणी से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरसवेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित, पायित, यह लोक, परलोक, एवं सम्पूर्ण प्राणी जाने जाते हैं। अतः हे सम्राट्! वाणी ही परब्रह्म है। जो पुरुष इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, उस उपासक को वाणी नहीं छोड़ती, सभी भूत भेंट लेकर उसका अनुसरण करते हैं। वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है। इस पर विदेहराज ने कहा—कि मैं इसके बदले आप को हाथी के समान बछड़े को जन्म देने वाली एक हजार गौएँ देता हूँ। उस याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन्! मेरे पिता यह मानते और कहते थे कि शिष्य को उपदेश से कृतार्थ किये बिना, उसकी दी हुई दक्षिणा नहीं लेनी चाहिये॥ २॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे उदङ्कः शौल्बायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां, न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट् कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् कामाय प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ३॥

(फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन्!) जो भी आप से किसी ने कहा है उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने उत्तर दिया-हे याज्ञवल्क्य! शुल्व ऋषि के पुत्र उदंक ने मुझसे कहा था कि प्राण ही ब्रह्म है। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा, शौल्वायन ने बहुत ठीक कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य द्वारा पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को शिक्षा देवे, वैसे ही शौल्वायन ने आप से कहा है। निःसन्देह प्राण ही ब्रह्म है, क्योंकि प्राण रहित पुरुष से लोक का क्या हित हो सकता है? पर क्या उस शौल्वायन ने प्राणरूप ब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को बतलाया है? (आयतन = गोलक; प्रतिष्ठा = आश्रय) जनक ने कहा—नहीं। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन्! तब तो एक पाद ब्रह्म का ही यह उपदेश है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! कृपया उस अवशिष्ट तत्त्व को आप ही मुझे बतलावें कि प्राण ब्रह्म का आयतन और प्रतिष्ठा क्या है? याज्ञवल्क्य ने कहा—प्राण ही उसका आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है (आयतन बतलाते समय प्राणादि शब्द करण अर्थ में प्रयोग किये गये हैं)। इसकी उपासना प्रियरूप से करनी चाहिये, क्योंकि "प्रिय" यह उसका चतुर्थ पाद है। तब जनक ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य! प्रियता क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—प्राण ही प्रियता है, क्योंकि हे राजन्! प्राण के लिये अयाज्य (याग के अनधिकारी) पुरुष से भी यज्ञ कराते हैं तथा प्रतिग्रह के अयोग्य पुरुष से भी दान लेते हैं और जिस देश में जाते हैं वहाँ पर चौरादि से वध की आशंका करते हैं। हे सम्राट्! निःसन्देह यह सब प्राण के लिये ही होता है। अतः हे राजन्! यह प्राण परब्रह्म रूप है। जो इस प्रकार जान कर उपासना करता है उसे प्राण नहीं छोड़ता। सभी भूत उसका अनुसरण करते हैं। वह उपासक देव होकर देवों को प्राप्त होता है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! इस उपदेश के बदले हाथी के समान बछड़े जनने वाली एक हजार गौएँ देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता की यह मान्यता रही है कि शिष्य को उपदेश से कृतार्थ किए बिना उसकी भेंट को स्वीकार नहीं करना चाहिये॥ ३॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे बर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्त्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ४॥

(फिर याज्ञवल्क्य ने राजा से कहा—हे राजन्!) जो कुछ आप से किसी आचार्य ने कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने उत्तर दिया—हे याज्ञवल्क्य! वृष्ण ऋषि के पुत्र बर्कु ने मुझसे कहा था कि नेत्र ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा—कि वृष्णपुत्र ने बहुत ठीक कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य के द्वारा शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को शिक्षा देवे, वैसे ही उस वार्ष्ण ने आप से कहा है। निःसन्देह नेत्र ही ब्रह्म है, क्योंकि न देखने वाले या नेत्र हीन पुरुष से क्या लाभ हो सकता है। पर यह तो बतलावें, क्या उसने उस नेत्र ब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को भी बतलाया है। जनक ने कहा—नहीं। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा-हे राजन्। तब तो एक पाद ब्रह्म का ही यह उपदेश है। जनक ने कहा तो कृपया आप ही उस अवशिष्ट तत्त्व को बतलावें। नेत्र ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी उपासना सत्य रूप से करनी चाहिये, क्योंकि सत्य उसका चतुर्थ पाद है। जनक ने कहा-हे याज्ञवल्क्य! सत्यता क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—नेत्र ही सत्यता है, क्योंकि हे राजन्! नेत्र से देखने वाले को जब पूछते हैं, क्या तुमने देखा है? तब यदि वह कहे कि हाँ मैंने देखा है तो वह बात सत्य मानी जाती है। हे सम्राट्! नेत्र ही परब्रह्म है। जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, उसे नेत्र त्यागता नहीं। सभी प्राणी उसका अनुसरण करते हैं और वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है। इस पर जनक ने कहा-हे याज्ञवल्क्य! इसके बदले मैं आपको हाथी के समान बैल को उत्पन्न करने वाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह सिद्धान्त रहा है कि शिष्य को कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं लेना चाहिये॥ ४॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां, न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा, एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवायतनमाकाशः, प्रतिष्ठानन्त इत्येनदुपासीत कानन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट् श्रोत्रꣳ श्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳ श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ५ ॥

(तत्पश्चात् पुनः याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन्!) आप से जो कुछ किसी आचार्य ने कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! भरद्वाज गोत्र में उत्पन्न गर्दभी विपीत ने मुझसे कहा था कि श्रोत्र ही ब्रह्म है इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—उसने बहुत ठीक कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य से पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को बतलावे, वैसे ही गर्दभी विपीत ने आप से कहा है। निःसन्देह श्रोत्र ही ब्रह्म हैं, क्योंकि न सुनने वाले या बधिर पुरुष से लोक का क्या हित हो सकता है। पर यह तो बतलावें कि उसने उस 'श्रोत्र ब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को बतलाया है? जनक ने कहा—नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे महाराज! यह उपदेश तो एक पाद ब्रह्म का है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! तब तो अवशिष्ट तत्त्व का उपदेश आप ही मुझे करें। याज्ञवल्क्य ने कहा—श्रोत्र ही इसका आयतन है आकाश ही इसकी प्रतिष्ठा है। इस श्रोत्र ब्रह्म की अनन्त रूप से उपासना करनी चाहिये, "अनन्त" यह उसका चतुर्थ पाद है। जनक ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य! अनन्तता क्या है! याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन्! दिशाएँ ही अनन्तता हैं। हे राजन्! इसीलिये कोई भी जिस किसी दिशा में जाता है तो वह उसका अन्त नहीं पाता, क्योंकि दिशाएँ ही अनन्त हैं। हे राजन्! दिशाएँ ही श्रोत्र हैं और हे सम्राट्! श्रोत्र ही परब्रह्म है। जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है उसे श्रोत्र कभी नहीं छोड़ता। सभी भूत भेंट आदि लेकर उसका अनुसरण करते हैं तथा वह देव होकर देवों का अनुसरण करता है। रहस्यमय बात को सुनकर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! मैं इसके बदले में आपको हाथी के समान बछड़े जनने वाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ। उस याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह सिद्धान्त था कि शिष्य को उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन न लेवे॥ ५॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां, न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत का आनन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ६॥

(फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन्!) जो कुछ भी आपसे किसी आचार्य ने कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! जाबाला के पुत्र सत्यकाम ने मुझसे कहा था कि मन ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा—उसने उचित कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य के द्वारा पूर्ण शिक्षा प्राप्त पुरुष अपने शिष्य से कहे, वैसे ही सत्यकाम ने आपसे कहा है। निःसन्देह मन ही ब्रह्म है, क्योंकि मन के बिना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। पर यह तो बतलावें, उस सत्यकाम ने उस मनोब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को भी बतलाया है? जनक ने कहा—नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे महाराज! तब तो यह उपदेश एक पाद ब्रह्म का ही है। इस पर जनक ने प्रार्थना की—हे याज्ञवल्क्य! उस अवशिष्ट तत्त्व का उपदेश आप ही करें। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट्! मन ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। यह मनोब्रह्म की उपासना आनन्द रूप से करनी चाहिये, क्योंकि 'आनन्द' यह उसका चतुर्थ पाद है। जनक ने कहा हे याज्ञवल्क्य! आनन्दता क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन्! मन ही आनन्दता है, क्योंकि पुरुष मन से ही स्त्री को चाहता है और उसमें अपने अनुरूप पुत्र उत्पन्न करता है। वह आनन्दप्रद है। अतः हे सम्राट्! निःसन्देह मन ही परब्रह्म है। जो पुरुष ऐसा जानकर उस मनोब्रह्म की उपासना करता है, उसे मन कभी नहीं छोड़ता। सभी प्राणी उसका अनुसरण करते हैं और वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! मैं इसके बदले हाथी के समान बैल को जन्म देने वाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह मत रहा है कि शिष्य को उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसकी भेंट न लेवे॥ ६॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां, न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानामायतनꣳ हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै परमं ब्रह्म नैनꣳ हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ७॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥ (१)॥

फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन! जो कुछ भी किसी आचार्य ने आप से कहा है—उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने उत्तर दिया—हे याज्ञवल्क्य! शकलपुत्र विदग्ध ने मुझसे कहा था, हृदय ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा—शाकल्य का कहा हुआ ठीक ही है। जैसे माता, पिता और आचार्य से पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को उपदेश करे, वैसे ही शाकल्य ने किया है। निःसन्देह हृदय ही ब्रह्म है, क्योंकि हृदय शून्य पुरुष को क्या लाभ हो सकता है। पर आप यह बतलावें कि उस शाकल्य ने हृदय ब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाए हैं? जनक ने कहा—नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे महाराज! यह उपदेश एक पाद ब्रह्म का ही है। इस पर जनक ने कहा—हे महाराज! तब तो उस अवशिष्ट तत्त्व को आप ही बतलावें। याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी उपासना स्थिति रूप से करनी चाहिये। जनक ने पूछा स्थितता क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया हे राजन्! हृदय ही स्थितता है। हे सम्राट्! हृदय ही सम्पूर्ण भूतों का आयतन है और हृदय ही सबका आश्रय है, क्योंकि सभी भूत हृदय में ही स्थित हैं। हे महाराज! हृदय ही परब्रह्म है। इस प्रकार जानता हुआ जो कोई इस हृदय ब्रह्म की उपासना करता है, उस पुरुष को हृदय ब्रह्म कभी छोड़ता नहीं और सभी प्राणी उसी के पास जाते हैं। वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है। तब जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! मैं आपको हाथी के समान बैल जनने वाली एक हजार गौएँ देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह सिद्धान्त था, कि शिष्य को उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसके धन को स्वीकार करना उचित नहीं है॥ ७॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥

ॐ जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्माऽस्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति॥ १॥

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्धꣳ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः॥ २॥

अथ कूर्चनामद्वितीयं ब्राह्मणम्

शरणापन्न हो जनक का याज्ञवल्क्य से प्रश्न करना

विदेहराज जनक ने राजसिंहासन से उठ याज्ञवल्क्य के समीप जाकर कहा—हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार है, आप मुझे उपदेश करें। (ज्ञानित्वाभिमान त्यागकर शिष्य भाव से आये हुए जनक के प्रति) याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन्! जैसे लम्बे मार्ग से चलने वाला पुरुष रथ या नौका का आश्रय ले, वैसे ही पूर्वोक्त उपासनाओं (के अनुष्ठान) से तुम अत्यन्त समाहित चित्त हो गये हो, साथ ही पूज्य, धनवान्, अधीतवेद तथा उक्त उपासना से युक्त भी हो। यह सब होने पर भी यह बतलाओ तो सही, कि इतने साधन सम्पन्न हो, तुम इस देह से छूट कर कहाँ जाओगे?, जनक ने कहा—हे भगवन्! जहाँ जाऊँगा उसे मैं जानता नहीं। तब याज्ञवल्क्य ने कहा—अब मैं उस तत्त्व को तुम्हें अवश्य बतलाऊँगा, जहाँ तुम जाओगे। जनक ने कहा—भगवन्! यदि मुझपर आप प्रसन्न हैं, तो उसे अवश्य बतलावें॥ १॥

विश्व तैजस एवं प्राज्ञ का
अनुवाद करके तुरीय ब्रह्म का बोध कराना

इस के बाद याज्ञवल्क्य ने कहा—यह जो दाहिनी आँख में पुरुष है। निःसन्देह यह इन्ध नाम वाला है, उसी प्रसिद्ध इस इन्धनामा सत्य पुरुष को "इन्द्र" ऐसे परोक्ष नाम से कहते हैं, क्योंकि देवगण प्रायः परोक्ष प्रिय होते हैं और प्रत्यक्ष वस्तु से द्वेष करते हैं॥ २॥

अथैतद्वामेऽक्षिणि पुरुषरूपमेषास्य पत्नी विराट् तयोरेष सःंस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्त्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्त्रवदास्त्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥ ३ ॥

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः स एष नेति

इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा—यह जो बायें नेत्र में पुरुषाकार पुरुष है, यह पूर्वोक्त पुरुष की विराट नामा स्त्री है। जो यह हृदय में आकाश है उन दोनों पति-पत्नी के मिलने का स्थान है। जो यह हृदय के भीतर लाल-रंग का माँस पिण्ड है यही इन दोनों का अन्न है और जो यह हृदय जाल के समान है, यही इन दोनों का आच्छादन (चादर) है एवं जो यह हृदय से ऊपर की ओर नाड़ी जाती है। यही इन दोनों (इन्द्र-इन्द्राणी) के प्रस्थान का मार्ग है। जैसे सहस्त्र भागों में विभक्त हुआ केश अत्यन्त सूक्ष्म होता है। वैसे ही हिता नाम की ये नाड़ियाँ हृदय देश में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से स्थित हैं। इन्हीं नाड़ियों के द्वारा यह अन्न रसमय जाता हुआ शरीर में सब जगह पहुँचता है। इसीलिये इस स्थूल शरीराभिमानी वैश्वानर आत्मा से यह सूक्ष्म शरीराभिमानी तैजस आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म आहार ग्रहण करने वाले के समान ही होता है॥ ३ ॥

उस विद्वान् के पूर्व दिशागत प्राण पूर्व प्राण है, दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण है, पश्चिम दिशा पश्चिम प्राण है, उत्तर दिशा उत्तर प्राण है, ऊर्ध्व दिशा ऊर्ध्व प्राण है, अधोदिशा नीचे के प्राण हैं। किंबहुना-समस्त दिशाएँ उसके समस्त प्राण हैं। वह यह ''नेति नेति'' शब्द से बतलाया गया आत्मा अग्राह्य है, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जाता। वह अशीर्य है, क्योंकि उसका नाश नहीं होता। असंग है, क्योंकि वह कहीं संसक्त नहीं होता। बन्धन रहित है, क्योंकि वह पीड़ित तथा हिंसित नहीं किया जा सकता। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे जनक! तुम निःसन्देह अभय पद

नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः। स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद्याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि॥ ४॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ (२)॥

जनकꣳ ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम, स मेने न वदिष्य इत्यथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तꣳ हास्मै ददौ तꣳह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥ १॥

को प्राप्त कर चुके हो। तब विदेहराजा जनक ने कहा—हे भगवन्! जो आपने मुझे अभय पद का बोध कराया है, उन आप सद्गुरुदेव को अभय पद प्राप्त हो (क्योंकि इस अमूल्य उपदेश के बदले अन्य कुछ भी नहीं है)। अतः आपको नमस्कार है। यह विदेह देश एवं हम सब आपके अधीन हैं, कृपया इन सभी को यथायोग्य उपदेश करें॥ ४॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम्॥

अथ ज्योतिर्नामतृतीयं ब्राह्मणम्

जनक के मन चाहे प्रश्नों का उत्तर याज्ञवल्क्य ने दिया

एकबार याज्ञवल्क्य विदेहाधिपति जनक के पास गये। उन्होंने ऐसा निश्चय किया था, कि आज मैं कुछ भी नहीं बोलूँगा। पर पहले ही कभी विदेहराज जनक और याज्ञवल्क्य ने अग्निहोत्र के विषय में संवाद किया था। उसी समय याज्ञवल्क्य ने जनक को वरदान दिया था और जनक ने इच्छानुसार प्रश्न करना ही उस वरदान के रूप में माँगा था। यह वरदान याज्ञवल्क्य ने उसे दे भी दिया था। अतएव याज्ञवल्क्य से जनक ने आज्ञा लेने के पूर्व ही प्रश्न करना प्रारंभ कर दिया॥ १॥

याज्ञवल्क्य किंज्योतिरयं पुरुष इति। आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचादित्येनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुत विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ २॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ ३॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ ४॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योतिरेवायं पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषास्ते

हे याज्ञवल्क्य! यह पुरुष किस ज्योति वाला है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट्! यह पुरुष आदित्य ज्योति वाला है, क्योंकि यह आदित्य रूप ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है, कर्म करता है और कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! यह ऐसा ही है॥ २॥ हे याज्ञवल्क्य! पर यह तो बतलावें कि सूर्य अस्त हो जाने पर वह पुरुष किस ज्योति वाला है अर्थात् किस ज्योति से उक्त व्यवहार करता है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट्! उस समय यह पुरुष चन्द्र रूप ज्योति वाला होता है, क्योंकि वह चन्द्र ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है, कर्म करता है एवं कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! यह ऐसा ही है॥ ३॥ हे याज्ञवल्क्य! सूर्य के अस्त हो जाने पर तथा चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट्! उस समय यह पुरुष अग्नि रूप ज्योति वाला हो पूर्वोक्त व्यवहार करता है, क्योंकि वह अग्नि रूप ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है, कर्म करता है और कर्म करके फिर नियत स्थान पर लौट आता है। इस पर जनक ने कहा हे याज्ञवल्क्य! यह ऐसा ही है॥ ४॥ हे याज्ञवल्क्य! सूर्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा के अस्त होने पर तथा अग्नि के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला हो उक्त व्यवहार करता है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट्! यह पुरुष वाणी रूप ज्योति

पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ५ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति ॥ ६ ॥

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥ ७ ॥

वाला है, क्योंकि (वर्षा कालीन निबिड अन्धकार युक्त रात्रि में भ्रान्त पुरुष वाणी रूप ज्योति से बैठता है सभी ओर जाता है तथा कर्म करके पुनः नियत स्थान पर लौट आता है। अतः हे सम्राट्! जहाँ पर अपना हाथ भी नहीं दीखता किन्तु वाणी उच्चारण की जाती है, वहाँ अंधेरे में भी पुरुष उस वाणी के सहारे से चला जाता है। इस पर राजा ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! यह ऐसा ही है ॥ हे याज्ञवल्क्य! सूर्य के अस्त हो जाने पर चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर, अग्नि के बुझ जाने पर और वाणी के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला हो उक्त व्यवहार करता है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया हे सम्राट्! उस समय इस पुरुष की ज्योति आत्मा ही रहता है, क्योंकि यह आत्मा ज्योति से बैठता है और सभी ओर जाता है, कर्म करता है तथा कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है ॥ ६ ॥

आत्म स्वरूप का वर्णन

जनक ने पूछा—आत्मा कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो प्राणों में बुद्धि वृत्तियों के भीतर स्थित विज्ञानमय ज्योति स्वरूप पुरुष है (वही आत्मा है)। वह बुद्धि वृत्तियों के समान होता हुआ इस लोक परलोक दोनों में संचरण करता है। वही बुद्धि वृत्ति के अनुसार चिन्तन करता हुआ-सा और प्राण वृत्ति के अनुसार चेष्टा करता हुआ-सा जान पड़ता है। वही स्वप्न होकर देहेन्द्रिय संघात रूप इस लोक का लंघन कर जाता है, एवं देहेन्द्रिय रूप मृत्यु के रूपों को भी पार कर जाता है ॥ ७ ॥

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः सꣳसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति॥ ८॥

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयꣳ स्वप्नस्थानं तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दाꣳश्च पश्यति य यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति॥ ९॥

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्त्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्त्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता॥ १०॥

जन्म मरण के साथ देहेन्द्रियादि रूप पाप का ग्रहण और त्याग

वह यह प्रकृत आत्मा जन्म धारण करते समय शरीर में आत्मभाव करता हुआ देहेन्द्रियादि रूप पापों से युक्त हो जाता है और मरते समय उन पापों को त्याग देता है॥ ८॥

आत्मा के दो स्थान

उस इस आत्मपुरुष के यह लोक और परलोक़ सम्बन्धी दो ही स्थान हैं, तीसरा स्वप्न स्थान तो संध्यस्थान है। उस संध्य स्थान में रहता हुआ यह पुरुष इस लोक रूप स्थान और परलोक रूप स्थान, इन दोनों को देखता है। यह पुरुष परलोक स्थान के लिये जैसे साधनों से युक्त होता है वैसे साधनों का आश्रय लेकर यह पाप के फल रूप दुःख और पुण्य कर्म के फल रूप सुख दोनों ही को देखता है। जिस समय यह सो जाता है उस समय इस सम्पूर्ण लोकों की मात्रा अर्थात् एक देश को लेकर अपने आप ही इस स्थूल शरीर को चेतना शून्य करके तथा स्वयं अपने ही वासनामय स्वाप्न शरीर को रचकर अपने आत्मज्योति रूप प्रकाश से शयन करता है। अतः इस अवस्था में यह पुरुष स्वयं ज्योति स्वरूप होता है॥ ९॥

स्वप्न में रथादि के न होने से आत्मा स्वयं प्रकाश है

उस स्वप्नावस्था में न रथादि विषय हैं, न रथ में जोते गये अश्वादि हैं और न मार्ग ही है। वहाँ तो वह रथ, रथ में जोते गये घोड़े और रथ के मार्गों की सृष्टि स्वयं ही वासना द्वारा पुरुष कर लेता है। उस समय वह आनन्द मोद और प्रमोद रूप वृत्ति भी नहीं है किन्तु वह स्वप्न द्रष्टा आनन्द मोद एवं प्रमोद की भी सृष्टि कर लेता है। उस समय छोटे-छोटे जलाशय तालाब और नदियाँ भी नहीं हैं। उन जलाशयों, तालाबों, और नदियों की सृष्टि भी वह पुरुष कर लेता है। अतः उनका कर्ता स्वयं स्वप्न द्रष्टा पुरुष ही माना जाता है॥ १०॥

तदेते श्लोका भवन्ति। स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति। शुक्रमादाय पुनरेति स्थानꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥ ११ ॥

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥ १२ ॥

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि। उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति। तं नायतं बोधयेदित्याहुः। दुर्भिषज्यꣳ हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते। अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति ॥ १४ ॥

उक्त विषय में प्रमाण निम्नाङ्कित मन्त्र हैं

इस विषय में यह आत्मा स्वप्न के द्वारा देह को चेष्टा रहित कर स्वयं न सोता हुआ सोये हुए समस्त पदार्थों को सभी ओर से प्रकाशित करता है। वह शुद्ध इन्द्रिय मात्रारूप को लेकर पुनः जाग्रदवस्था में आता है। अतः वह स्वयं ज्योति स्वरूप दोनों अवस्थाओं में तथा इहलोक और परलोकादि में अकेला ही जाने वाला है ॥ ११ ॥ इस निकृष्ट देह की रक्षा प्राणों द्वारा करता है (अन्यथा निद्राकाल में मृत्यु की भ्रान्ति हो सकती है)। वह अविनाशी आत्मा शरीर से बाहर विचरता है। वह अकेला घूमने वाला हिरण्मय अमर पुरुष वहाँ चला जाता है, जहाँ की वासना उसे होती है ॥ २ ॥ इसके अतिरिक्त स्वप्नावस्था में वह आत्मदेव ऊँच-नीच भावों को प्राप्त होता हुआ अनेक वासनामय रूप बना लेता है। वैसे ही वह स्त्रियों के साथ प्रसन्न होता हुआ, मित्रों के साथ हँसता हुआ और कभी व्याघ्रादि भयंकर जन्तुओं से भय का अनुभव करता हुआ-सा विचरता है ॥ १३ ॥

स्वाप्न पुरुष के स्वयं प्रकाशत्व का निश्चय

सभी लोग उस आत्मा की क्रीड़ा सामग्री को तो देखते हैं, उस आत्मा को कोई देखता नहीं। उस सुषुप्त पुरुष को सहसा कोई न जगावे, ऐसा (वैद्य लोग) कहते हैं। जिस इन्द्रिय प्रदेश में यह सोता रहता है, सहसा जगाने पर उस प्रदेश में प्राप्त न होने के कारण उसका शरीर दुश्चिकित्स्य हो जाता है। इसीलिये निःसन्देह कोई-कोई ऐसा कहते हैं, यह स्वप्न स्थान इस पुरुष का जाग्रत् देश ही है अर्थात् जिन पदार्थों को यह जागने पर देखता है सोकर भी उन्हीं को देखता है, (किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं) क्योंकि इस अवस्था में यह पुरुष स्वयं ज्योति होता है। राजा जनक ने पूछा—वह मैं जनक आप आचार्य श्री को एक सहस्र गौएँ देता हूँ। अतः अब इसके आगे मोक्ष के लिये यथार्थ उपदेश करें ॥ १४ ॥

स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याऽद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति॥ १५॥

स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याऽद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति॥ १६॥

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याऽद्रवति स्वप्नान्तायैव॥ १७॥

सुषुप्ति के दृश्य से भी आत्मा असंग है

वह यह स्वयं ज्योति आत्मा इस सुषुप्ति काल में रमण और विहार कर पुण्य तथा पाप को देख कर ही पुनः स्वप्न स्थान को वहाँ ही वापस आ जाता है, जहाँ से आया था और जैसे आया था। वहाँ वह जो कुछ देखता है उससे बँधता नहीं, क्योंकि यह पुरुष असंग है। जनक ने कहा हे याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है। मैं श्रीमान् को सहस्र गौएँ देता हूँ। अतः इसके आगे मोक्ष के लिये ही यथार्थतत्त्व का उपदेश करें॥ १५॥

स्वप्न भोग से आत्मा असंग है

वह यह आत्मा इस स्वप्न काल में रमण और विहार कर एवं पुण्य तथा पाप को देखकर ही पुनः उस जाग्रत् स्थान को ही लौट आता है, जहाँ से वह आया था और जैसे आया था। वह वहाँ जो कुछ देखता है, वहाँ उससे बँधता नहीं, क्योंकि यह पुरुष असंग है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! आप की ये बात यथार्थ ही है। इसके बदले में मैं आपको एक सहस्र गौएँ भेंट करता हूँ। अतः इसके आगे भी आप मोक्ष के विषय में उपदेश करें॥ १६॥

जाग्रत् भोगों से आत्मा असंग है

वह यह पुरुष जाग्रत् काल में रमण और विहार कर तथा पुण्य और पापों को केवल देखकर फिर स्वप्न में उसी मार्ग से लौट जाता है, जिस मार्ग से वह आया था॥ १७॥

तद्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥ १८॥

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः सꣳहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति॥ १९॥

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदꣳ सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः॥ २०॥

उक्त विषय में महामत्स्य का दृष्टान्त

जैसे कोई बड़ा मत्स्य नदी के पर और अपर दोनों तटों पर क्रमशः संचरण करता है अर्थात् जल प्रवाह के वेग से वह विवश नहीं होता, वैसे ही यह पुरुष स्वप्न स्थान और जाग्रत् स्थान इन दोनों ही स्थानों में (प्रारब्ध कर्म से प्रेरित हुआ) क्रमशः विचरता रहता है॥ १८॥

सुषुप्त आत्मा के विश्रान्ति स्थान में बाज पक्षी का दृष्टान्त

जैसे इस भौतिक आकाश में बाज या श्येन पक्षी सभी ओर उड़कर थक जाने पर पंखों को अच्छी प्रकार फैलाकर अपने घोंसले की ओर ही दौड़ने लगता है। ठीक ऐसे ही जीवात्मा (जाग्रत् तथा स्वप्न में प्रारब्धानुसार कर्म फल को भोग कर थक जाने पर) इस सुषुप्ति स्थान की ओर दौड़ता है। जहाँ सोने पर यह किसी भोग की आकांक्षा नहीं करता और न किसी स्वप्न को ही देखता है॥ १९॥

हितानामक नाड़ी में स्वप्न का दर्शन

इस (हस्त पादादि अवयव वाले पुरुष) की वे ये हितानाम की नाड़ियाँ हैं। जिस प्रकार सहस्र भागों में केश विभक्त होता है, वैसे ही ये नाड़ियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं। वे सफेद, नीले, पीले, हरे और लाल रंग के रस से भरी हुई हैं। जहाँ पर इस पुरुष को स्वप्नावस्था में प्रतीत होता है कि कोई इसे मानो मारता है, कोई मानो इसे वश में करता है और कोई इसके चारों ओर मानो हाथी दौड़ा रहा है, या मानो स्वयं यह गर्त में गिर रहा है। इस प्रकार जो कुछ भी जाग्रदवस्था के भय को देखता है, उन्हीं को स्वप्नावस्था में अविद्या के कारण सत्य मानने लगता है और जहाँ पर यह देवता के समान, या राजा के समान, या मैं ही यह सब हूँ, ऐसा अपने को मानता है, यह इसका श्रेष्ठ लोक है॥ २०॥

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयꣳ रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामꣳ रूपꣳशोकान्तरम्॥ २१॥

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति॥ २२॥

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो

स्त्री पुरुष के संमिलन रूप दृष्टान्त से मोक्ष का स्वरूप प्रदर्शन

वह इस पुरुष का रूप निःसन्देह कामना शून्य पाप रहित और अभय स्वरूप है। जैसे व्यवहार में अपनी प्यारी पत्नी का आलिङ्गन करके पुरुष न कुछ बाह्य वस्तु को और न आभ्यन्तर वस्तु को ही जानता है, ऐसे ही यह पुरुष प्रज्ञात्मा से आलिङ्गित हुआ परमार्थ दर्शन काल में न कुछ बाह्य विषय को जानता है और न आभ्यन्तर को ही। यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोक रहित स्वरूप है॥ २१॥

सुषुप्त पुरुष संग तथा शोक रहित होता है

इस सुषप्तावस्था में पिता अपिता हो जाता है माता अमाता हो जाती है अर्थात् वहाँ जन्य-जनक भाव सम्बन्ध नहीं रह जाता। लोक अलोक हो जाते हैं, देव अदेव और वेद अवेद हो जाते हैं अर्थात् सभी साध्य-साधन का अभाव हो जाता है। यहाँ पर चोर अचोर हो जाता है भ्रूण हत्यारा अभ्रूणहा हो जाता है। चाण्डाल चाण्डाल नहीं रह जाता है। पौल्कस अपौल्कस हो जाता है। (शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न संतान को चाण्डाल कहते हैं, शूद्रा में ब्राह्मण से उत्पन्न संतान को निषाद कहते हैं एवं निषाद से क्षत्रिया में उत्पन्न संतान को पुल्कस कहते हैं)। परिव्राजक अपरिव्राजक और वानप्रस्थी अतापस हो जाता है अर्थात् किसी वर्णाश्रम धर्म की या पुण्य पाप की प्रतीति नहीं होती। उस समय यह पुरुष पुण्य से असंबद्ध तथा पाप से भी सम्बन्ध रहित हो जाता है। किंबहुना:- उस अवस्था में हृदयस्थ समस्त शोकों को पार कर जाता है॥ २२॥

सुषुप्ति में आत्मा के स्वयं ज्योतिष्ट्व का प्रदर्शन

वह जो सुषुप्ति में नहीं देखता है, निःसन्देह उस अवस्था में देखता हुआ ही नहीं देखता है, क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता। वह तो

विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्॥ २३॥

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत्॥ २४॥

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते न हि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत्॥ २५॥

यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत्॥ २६॥

यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात्॥ २७॥

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत॥ २८॥

अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह देखे॥ २३॥ वह जो उस अवस्था में सूँघता नहीं (इस का यह अर्थ नहीं है कि उसके गन्ध ग्रहण करने वाली शक्ति का सर्वथा लोप हो गया है) वह तो सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता, सूँघने वाले की सूँघने की शक्ति का सर्वथा लोप होता ही नहीं, क्योंकि वह नाश रहित है। हाँ यह बात सत्य है कि उस समय उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रहती, जिसे कि वह सूँघे॥ २४॥ वहाँ पर वह जो रस नहीं लेता, निःसन्देह वह रस लेता हुआ ही रस नहीं लेता है। रस ग्रहण करने वाले की रस ग्रहणशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु रही ही नहीं, जिसका कि वह रस लेवे॥ २५॥ जो वह बोलता नहीं, निःसन्देह वह बोलता हुआ ही नहीं बोलता, वक्ता की वदन शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह नाश रहित है। सत्य बात यह है कि उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं, जिसके विषय में वह बोले॥ २६॥ वहाँ जो वह नहीं सुनता है, वह निःसन्देह सुनता हुआ ही नहीं सुनता है। श्रोता की श्रवण शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह नाश रहित है। सत्य यह है कि उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह सुने॥ २७॥ जो वह वहाँ पर मनन नहीं करता, सो मनन करता हुआ ही मनन नहीं करता है। मनन करने वाले की मनन शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह नाश रहित है। सच्ची बात यह है कि उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह मनन करे॥ २८॥

यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन्वै तन्न स्पृशति न हि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत्॥ २९॥

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्॥ ३०॥

यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात्॥ ३१॥

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति॥ ३२॥

वह जो उस समय स्पर्श नहीं करता, वह वस्तु का स्पर्श करता हुआ ही स्पर्श नहीं करता। स्पर्श करने वाले की स्पर्शन शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। हाँ उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती जिसे वह स्पर्श करे॥ २९॥ उस सुषुप्तावस्था में वह जो नहीं जानता है, वह वस्तुतः जानता हुआ ही नहीं जानता है। विज्ञाता की विज्ञान शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह तो नित्य है। हाँ उस समय उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह विशेष रूप से जाने॥ ३०॥

जाग्रत् एवं स्वप्न में विशेष ज्ञान का कारण

जिस जाग्रत् या स्वप्न में आत्मा से भिन्न अन्य-सी वस्तु होती है, वहाँ ही अन्य-अन्य को देखता है। अन्य-अन्य को सूँघता है। अन्य-अन्य को चखता है, अन्य-अन्य को बोलता है। अन्य-अन्य का मनन करता है, अन्य-अन्य का स्पर्श करता है और अन्य-अन्य को जानता है, अर्थात् अविद्या की विक्षेप शक्ति से उत्पन्न हुई वस्तु को देखता हुआ-सा प्रतीत होता है॥ ३१॥

सुषुप्ति में आत्मा का अभेद

जैसे जल विशुद्ध और एक है, वैसे ही सुषुप्ति में अद्वैत आत्मा द्रष्टा एक है। हे राजन्! यही ब्रह्म लोक है। ऐसा याज्ञवल्क्य ने जनक को उपदेश दिया। यही इस पुरुष की परम गति है। यह इसकी परम संपत्ति है, यह इसका परमलोक है, यह इसका परमानन्द है। इसी आनन्द की (अविद्या द्वारा उपस्थित विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से होने वाली) कला के आश्रित दूसरे जीव जीते रहते हैं॥ ३२॥

स यो मनुष्याणाꣳ राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्तेऽथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दाः यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो मान्तेभ्य उदरौत्सीदिति ॥ ३३ ॥

तत्त्वज्ञानी के आनन्द की मीमांसा

मनुष्यों में वह जो भी कोई सम्पूर्ण अंगों से युक्त, भोग सामग्री से सम्पन्न, दूसरों का स्वतन्त्र अधिपति और मनुष्य सम्बन्धी सम्पूर्ण भोग सामग्री के कारण सबसे बढ़ा-चढ़ा हो, वह मनुष्यों का परम आनन्द है—अर्थात् मनुष्य लोक में ऐसे व्यक्ति का आनन्द सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ऐसे मनुष्यों के जो सौ गुणे आनन्द हैं वह पितृलोक को जीतने वाले पितृगणों का एक आनन्द माना जाता है और जो पितृलोक को जीतने वाले पितृगणों के सौ आनन्द हैं, वह गन्धर्व लोक का एक आनन्द माना जाता है। तथा जो गन्धर्व लोक के सौ आनन्द हैं, वह अग्निहोत्रादि श्रौत कर्म के द्वारा देवत्व को प्राप्त हुए कर्म देवों का एक आनन्द है। इसी प्रकार कर्म देवों के जो सौ आनन्द हैं वह आजान (जन्म सिद्ध) देवों का एक आनन्द है। तथा आजान देवों के जो सौ आनन्द हैं वह प्रजापति का एक आनन्द है एवं जो पाप तथा कामना रहित श्रोत्रिय विद्वान् है उसका भी वह आनन्द माना जाता है और जो प्रजापति लोक के सौ आनन्द हैं वह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का एक आनन्द है, एवं जो आप्त तथा कामना से शून्य श्रोत्रिय विद्वान् का आनन्द है, वह भी वही है। यही परम उत्कृष्ट आनन्द है। हे राजन्! यही ब्रह्मलोक है, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। इस पर राजा जनक ने कहा-मैं इसके बदले श्रीमान् को एक सहस्र गौएँ देता हूँ। अतः इसके आगे भी आप बन्धन से मुक्त करने के लिये ही उपदेश करें। इस बात को सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य भयभीत हो गये, कि इस बुद्धिमान् राजा ने तो मुझे मोक्ष के साधन रूप में सम्पूर्ण प्रश्नों के सम्यक् निर्णय देने के लिए बाँध लिया है। (काम प्रश्न के बहाने से यह मेरा सारा विज्ञान ले लेना चाहता है)॥ २३॥

स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याऽद्रवति बुद्धान्तायैव ॥ ३४ ॥

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायꣳ शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३५ ॥

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाणिमानं निगच्छति तद्यथाम्रं वौदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याऽद्रवति प्राणायैव ॥ ३६ ॥

संसार रूप जाग्रत् में जीव का लौटना

(जाग्रत् से स्वप्नान्त द्वारा सुषुप्ति में गया हुआ) वह यह पुरुष इस स्वप्नान्त में रमण और विहार कर, पुण्य तथा पाप को केवल देखकर ही पुनः जाने के मार्ग से ही अपने नियत स्थान जाग्रत् अवस्था में ही लौट आता है ॥ ३४ ॥

मरणासन्न की दशा

लोक में जैसे बहुत बोझ से भरा हुआ छकड़ा चलते समय शब्द करता हुआ चलता है, वैसे ही यह शरीरी आत्मा स्वयं प्रकाश परमात्मा से प्रकाशित हो शब्द करता हुआ जाता है जबकि यह ऊर्ध्व श्वास लेता हुआ लिङ्ग उपाधिक मर्म स्थानों को छोड़ने लगता है ॥ ३५ ॥

ऊर्ध्व श्वास का कारण

वह यह हस्त पादादि अवयव वाला देह वृद्धावस्थादि कतिपय कारणों से जब कृशता को प्राप्त होता है। तब जैसे—आम, गूलर, पीपल, के फल बन्धन से छूट जाते हैं, ठीक वैसे ही यह शारीर पुरुष भी इन अंगों से छूटकर पुनः जिस मार्ग से आया था उसी मार्ग से (अपने कर्मानुसार यथा संभव) प्रत्येक योनि में प्राणादि की अभिव्यक्ति के लिये चला जाता है (क्योंकि प्राणादि की विशेषाभिव्यक्ति के बिना कर्म फल भोग का होना सम्भव नहीं है) ॥ ३६ ॥

तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवꣳ हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति॥ ३७॥

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति॥ ३८॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥ (३)॥

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति॥ १॥

शरीरान्तर में जाने का प्रकार

और जैसे अपने राष्ट्र में आते हुए राज्याभिषिक्त राजा की उग्र कर्मा एवं (चौरादि को दण्ड देने के लिये) पाप कर्म में नियुक्त सूत और गाँवड़े के नेता लोग अन्नदान तथा निवास स्थान भोग्य वस्तु को तैयार रखकर "ये आये, ये आये" इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही "यह ब्रह्म आता है यह आता है" इस प्रकार कहते हुए इस कर्म फल के ज्ञाता की सभी भूत प्रतीक्षा करते हैं॥ ३७॥

प्राणों के देहान्तर में जाने की विधि

जैसे जाने के लिये तैयार हुए राजा के सामने होकर उग्र कर्मा और पाप कर्म में नियुक्त सूत एवं गाँव के मुखिया लोग एकत्रित हो जाते हैं। वैसे ही जब यह ऊर्ध्व श्वास लेने लगता है, तो अन्तकाल में सभी प्राण इस जीवात्मा के सम्मुख होकर इसके साथ जाते हैं, अर्थात् जीव के साथ-साथ चक्षुरादि प्राण भी जाते हैं॥ ३८॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥

अथ शारीरनामचतुर्थं ब्राह्मणम्

मरणासन्न जीव की दशा का वर्णन

वह यह आत्मा जब दुर्बलता को प्राप्त हो मानो सम्मूढ़ता (विवेकाभाव) को प्राप्त होता है तब ये वागादि प्राण सामने एकत्रित हो जाते हैं, वह इन प्राणों की तेजोमात्रा को सम्यक् प्रकार से लेकर हृदय में ही अभिव्यक्त विज्ञान वाला होता है। जब यह चाक्षुष पुरुष सभी ओर से पृथक् हो जाता है तब यह मरणासन्न पुरुष रूपादि ज्ञान से हीन हो जाता है॥ १॥

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तꣳ सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति स विज्ञानो भवति स विज्ञानमेवान्ववक्रामति। तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च॥ २॥

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरत्येवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरति॥ ३॥

लिङ्ग देह में इन्द्रियों के लय और उत्क्रमण

नेत्रेन्द्रिय लिङ्गात्मा से जब एक रूप हो जाती है तब लोग कहते हैं, अब यह देखता नहीं, घ्राणेद्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब यह कहते हैं कि यह सूँघता नहीं। जब रसनेन्द्रिय एक रूप हो जाती है, तब यह कहते हैं कि यह चखता नहीं। वागिन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब यह कहते हैं कि यह बोलता नहीं। श्रोत्रेन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब यह कहते हैं कि यह सुनता नहीं। जब मन एक रूप हो जाता है, तब कहते हैं कि यह मनन करता नहीं, जब त्वगिन्द्रिय एक हो जाती है, तब कहते हैं, यह स्पर्श करता नहीं, जब बुद्धि लिङ्गात्मा से एक रूप हो जाती है तब कहते हैं, यह जानता नहीं। उस समय इस हृदय का बाहर जाने वाला मार्ग अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है। उसी से यह आत्मा नेत्र द्वारा, शिर द्वारा या शरीर के किसी अन्य भाग द्वारा बाहर निकल जाता है। उसके निकलते ही उसके साथ प्राण भी निकल जाता और प्राण के निकलने पर सभी इन्द्रियाँ निकल जाती हैं। उस समय यह जीव विशेष विज्ञान वाला होता है और विज्ञान युक्त प्रदेश को ही जाता है। उस समय इसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वानुभवजन्य संस्कार जाता है॥ २॥

शरीरान्तर गमन में जोंक का निदर्शन

जैसे घास पर चलने वाले तृणजलोंका नामक कीड़ा एक तृण के अन्तिम भाग पर पहुँच कर दूसरे तृण रूप आश्रय को पकड़ कर अपने शरीर को सिकोड़ लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा इस वर्तमान देह को मारकर अचेतनावस्था को प्राप्त कराकर दूसरे शरीर रूप आश्रय का आधार ले अपना उपसंहार कर लेता है, अर्थात् उसी देह में आत्म भाव करने लगता है। यही देहान्तर के आरम्भ की विधि है॥ ३॥

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम्॥ ४॥

स वा अयमात्मा ब्रह्म, विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भयवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते॥ ५॥

जीव के देहान्तर बनाने में सोनार का दृष्टान्त

जैसे सोनार सोने की मात्रा को लेकर उससे नूतन और अत्यन्त सुन्दर रूप की रचना करता है, वैसे ही यह जीवात्मा इस वर्तमान देह को नष्ट कर केवल अचेतनावस्था को प्राप्त कराकर दूसरे पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा या अन्य प्राणियों के नूतन तथा अत्यन्त सुन्दर रूप की रचना कर लेता है॥ ४॥ वह यह आत्मा ही ब्रह्म है। वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुमय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय है (अर्थात् बुद्धि, मन, प्राण, नेत्रादि, पृथिव्यादि एवं अन्तःकरण के कामादि जो विकार हैं, इनमें से जिनके साथ वह तन्मय होता है, उस समय वह तद्रूप ही प्रतीत होने लगता है)। किंबहुना—जो कुछ इदंमय प्रत्यक्ष वस्तु और अदोमय परोक्ष वस्तु है सब वह ब्रह्म ही है। वह जैसा करने वाला तथा जैसा आचरण वाला होता है, उसके साथ तादात्म्य हुआ वैसा ही प्रतीत होने लगता है। पुरुष शुभ कर्म करते समय उसमें तन्मयता के कारण शुभ होता है और पाप कर्मा पुरुष पापी हो जाता है (ब्रह्म स्वरूप को भूल कर कर्म तथा उनके साधनों में तन्मयता के कारण ही) पुरुष पुण्य कर्म से पुण्यात्मा होता है और पाप कर्म से पापी होता है। फिर भी कुछ लोग कहते हैं यह पुरुष काममय है। वह जैसी कामना वाला होता है, वैसा ही संकल्प करता है। जैसा संकल्प वाला होता है, वैसा ही शरीरादि साधनों से आचरण करता है (अतः ब्रह्म के सर्वमयत्व और संसारित्व में कामना ही कारण है)॥ ५॥

तदेष श्लोको भवति। तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति॥ ६॥

तदेष श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति। यद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदँशरीरँशेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥ ७॥

कर्मानुसार शुभाशुभ गति और निष्काम को ब्रह्म की प्राप्ति

उस विषय में यह मन्त्र भी है। इसका मन प्रधान लिङ्गदेह जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है। उसमें ही अभिलाषा प्रकट कर कर्म के सहित उसी फल को वह प्राप्त करता है। इस संसार में यह जीव जो कुछ भी करता है उस कर्म का फल प्राप्त करके उस लोक से कर्म करने के लिये पुनः इस मनुष्य लोक में आ जाता है, (क्योंकि यह मनुष्य लोक ही कर्म प्रधान है, पर फलासक्ति के कारण पुनः परलोक में जाता है। निःसन्देह कामना वाला पुरुष ही कर्मानुसार ऐसी शुभाशुभ गति को प्राप्त होता रहता है।) अब जो अकाम पुरुष है, उसके विषय में कहते हैं। जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उस तत्त्वज्ञानी के लिङ्ग देह रूप प्राणों का उत्क्रमण शरीरान्तर के लिये नहीं होता। वह तत्त्ववेत्ता पुरुष ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त करता है॥ ६॥

तत्त्वज्ञानी का अनुत्क्रमण

उसी विषय में यह मन्त्र भी है। जब इसके हृदय में स्थित समस्त कामनाएँ मूल से नष्ट हो जाती हैं, तब यह मरणशील पुरुष अमर हो जाता है और इस वर्तमान शरीर में ही वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे–सर्प की केंचुली सर्प के निवास स्थान बिल के ऊपर मृत एवं सर्प द्वारा त्यागी हुई पड़ी रहती है, वैसे ही सर्प स्थानीय मुक्त पुरुष द्वारा यह अनात्म देह परित्यक्त हो मरे हुए के समान पड़ा रहता है और यह शरीर रहित अमर प्राण पद वाच्य चेतन आत्मा तो ब्रह्म ही है, तेज ही है (अर्थात् देहाध्यास के कारण से प्रतीत होने वाला संसार उस तत्त्ववेत्ता को संतप्त नहीं करता)। इस पर विदेह राजा जनक ने कहा—भगवन्! वह मैं जनक आपको एक सहस्र गौएँ देता हूँ॥ ७॥

तदेते श्लोका भवन्ति। अणुः पन्था विततः पुराणो माꣳ स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव। तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः॥ ८॥
तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलꣳ हरितं लोहितं च। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च॥ ९॥
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥ १०॥
अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधो जनाः॥ ११॥
आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥ १२॥

ब्रह्मज्ञानी को मोक्ष प्राप्ति में प्रमाण

उक्त विषय में ये मन्त्र हैं। यह ज्ञान मार्ग दुर्विज्ञेय होने के कारण सूक्ष्म है, विस्तीर्ण और वेदोक्त होने से पुरातन है। वह ब्रह्मविद्या रूप मोक्ष मार्ग प्राप्त होने के कारण मुझे स्पर्श किया हुआ है तथा उसका फल साधक आत्मज्ञान मैंने प्राप्त किया है। इसी मार्ग से अन्य ब्रह्मवेत्ता पुरुष भी इस लोक में जीते जी मुक्त हुए प्रारब्ध क्षय के बाद इस देह का त्याग कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं॥ ८॥

मोक्षमार्ग के विषय में मतभेद

उस मोक्ष साधन रूप ज्ञान मार्ग में मुमुक्षुओं का वैमत्य है। कोई उसमें शुक्ल और कोई नील वर्ण कहते हैं, तथा अपनी दृष्टि के अनुसार अन्य कोई मुमुक्षु उसमें पिङ्गल वर्ण, हरित और लोहित भी कहते हैं (वस्तुतः श्लेष्मादि रस से पूर्ण होने के कारण सुषुम्नादि नाड़ियों में साधक को उक्त भ्रान्ति हो जाती है) यह मार्ग साक्षात् ब्रह्म द्वारा अनुभूत है। उस मार्ग से पुण्य कर्म करने वाला ब्रह्मवेत्ता पुरुष परमात्म तेज को प्राप्त करता है॥ ९॥

विद्या और अविद्या की उपासना

जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं, वे अन्धेरे में प्रवेश करते हैं और जो कर्म काण्डात्मक त्रयी विद्या में अनुरक्त रहते हैं वे उससे भी अधिक अंधेरे में प्रवेश करते हैं अर्थात् उपनिषदर्थ की उपेक्षा करने वाले दोनों ही अन्धकूप में गिरते हैं॥ १०॥ वे लोक सुख रहित तथा घोर अन्धकार में आवृत हैं, उन्हीं लोकों को वे अज्ञानी अविद्वान् लोग प्राप्त करते हैं अर्थात् आत्मज्ञान ही एकमात्र मोक्ष का साधन है॥ ११॥

आत्मज्ञानी की स्थिति

मैं यह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव ब्रह्म हूँ। इस प्रकार विशेष रूप से आत्मा को साधक पुरुष यदि जान लेवे, तो भला किस चीज को चाहता हुआ, किस भोग के लिये शरीर के पीछे संतप्त होने लगे अर्थात् आत्म बोध के बाद सर्वात्मदर्शी को जन्म जरादि दुःख नहीं सताते॥ १२॥

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः। स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव॥ १३॥

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः। ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥ १४॥

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ १५॥

यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते। तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्॥ १६॥

आत्मा की महिमा

इस अनेकों अनर्थों से परिपूर्ण और विवेक विज्ञान के शत्रु विषम स्थान शरीर में प्रविष्ट हुआ आत्मा जिस ब्रह्मवेत्ता पुरुष को प्राप्त तथा अवगत हो गया है, वह कृत-कृत्य हो गया, वह सभी कर्म का कर्ता है। उसी का सारा लोक है और वह स्वयं भी वह लोकस्वरूप आत्मा ही है॥ १३॥

हम इस अनर्थ पूर्ण शरीर में रहते हुए ही यदि उस आत्मतत्त्व को जान लेते हैं तो कृत-कृत्य हो जाते हैं और यदि उसे नहीं जानते तो बड़ी भारी क्षति होती है। जिसकी पूर्ति अन्यत्र दुःशक्य है। अतः जो साधक उसे जान कर उस तत्त्व को आत्मभावेन साक्षात् कर लेते हैं वे अमर हो जाते हैं। इनसे भिन्न लोग जन्म मरणादि रूप दुःख को ही प्राप्त होते हैं॥ १४॥

अभेद दर्शी को भय नहीं होता

जिस समय भूत और भविष्य के शासक इस प्रकाशमय या कर्म फल दाता आत्मा को आचार्य द्वारा शास्त्र श्रवण के बाद मनुष्य अपरोक्ष रूप से जान लेता है; उस समय अपने को सुरक्षित रखने की इच्छा नहीं करता अर्थात् ब्रह्मवेत्ता को भय के अभाव में सुरक्षा की इच्छा भी नहीं होती॥ १५॥

देवताओं के उपास्य आयु नामक ब्रह्म

जिसके नीचे संवत्सर अहोरात्रादि अपने अवयवों के साथ चक्कर काटता रहता है, उस आदित्यादि ज्योतियों के भी ज्योति स्वरूप अमरणधर्मा परमेश्वर को देवता लोग "आयु" इस रूप से उपासना करते हैं अर्थात् आयुकाम पुरुष ब्रह्म की आयुरूप गुण के द्वारा उपासना करे॥ १६॥

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥ १७॥

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्॥ १८॥

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ १९॥

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्। विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः॥ २०॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनꣳ हि तदिति॥ २१॥

सर्वाधार ब्रह्म के ज्ञान से अमरत्व की प्राप्ति

जिस ब्रह्म में (गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस या ब्राह्मणादि) पाँच पंचजन तथा अव्याकृत नामक आकाश भी प्रतिष्ठित हैं, उस आत्मा को ही मैं अविनाशी ब्रह्म मानता हूँ, (उससे भिन्न आत्मा को मैं नहीं जानता)। अतः मैं इसे जानने वाला ब्रह्मवेत्ता अमृत ही हूँ॥ १७॥

प्राण के प्राणादि रूप से ब्रह्म को जानने वाला ही ज्ञानी है

(ब्रह्म की शक्ति से अधिष्ठित नेत्रादि में दर्शन सामर्थ्य होने से) जो उस ब्रह्म को प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, जानते हैं वे ही उस पुरातन तथा आगे रहने वाले ब्रह्म को जानते हैं॥ १८॥

भेद दर्शी की दुर्गति

(परमार्थ ज्ञान से शुद्ध) मन के द्वारा ही आचार्य उपदेश पूर्वक ब्रह्म को देखना चाहिए। उस ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं है, फिर भी इसमें नाना के समान देखता है वह मरण से मरण को प्राप्त करता है अर्थात् अज्ञान के कारण ही उसे बार-बार मरना पड़ता है॥ १९॥

ब्रह्म दर्शन की विधि

आचार्योपदेश के बाद उस ब्रह्म को (आकाश के समान अन्तर बाह्य शून्य एक-मात्र विज्ञानघन रूप से ही) देखना चाहिए। यह ब्रह्म किसी प्रमाण का विषय नहीं, ध्रुव, निर्मल, आकाश से भी सूक्ष्म, अजन्मा, आत्मा महान् और अविनाशी है॥ २०॥

अधिक शास्त्राभ्यास ब्रह्मनिष्ठा का घातक है

बुद्धिमान् ब्राह्मण को उस ब्रह्म को ही जानकर उसी में बुद्धि लगानी चाहिये। बहुत शब्दों का चिन्तन न करे, क्योंकि वह तो वाणी का व्यायाम (परिश्रम) मात्र ही है॥ २१॥

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वैतत्पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसंगो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः॥ २२॥

आत्मज्ञान तथा आत्म स्थिति का मुख्य साधन संन्यास

वंह यह महान् अजन्मा आत्मा है, जो कि यह प्राणों में विज्ञानमय स्वयं ज्योति स्वरूप है। जो यह हृदय में आकाश है उसमें यह पुरुष रहता है। वह सबको अपने बस में करने वाला शासक और सबका अधिपति है। वह न तो शुभ कर्म से बढ़ता है और न अशुभ कर्म से घटता ही है। यह सर्वेश्वर है, यह समस्त भूतों का अधिपति और पालक है। इन भूरादि लोकों की मर्यादा नष्ट न हो, इसीलिए वह उन्हें धारण करने वाला सेतु के समान सेतु है। उस इस आत्मा को ब्रह्मजिज्ञासु या जाति से ब्राह्मण लोग वेदों के स्वाध्याय से यज्ञ दान तथा निष्काम तप से जानना चाहते हैं। इसी को जानकर मुनि हो जाते हैं। इस आत्मलोक को चाहते हुए त्यागी पुरुष सभी का परित्याग कर संन्यासी हो जाते हैं। इस संन्यास में कारण यह है कि पहले विद्वान् संतान आदि की इच्छा नहीं करते थे, उनका निश्चय था कि हमें प्रजा से क्या लेना है। जिन हम मोक्षाभिलाषी को यह आत्म लोक प्राप्त करना ही अभीष्ट है। अतः वे मुमुक्षु पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से ऊपर उठकर फिर भिक्षाचर्या किया करते थे। जो भी पुत्रैषणा है वह फलतः वित्तैषणा ही है और जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है। ये दोनों साध्य-साधन ऐषणा ही हैं। 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य से बतलाया गया वह यह आत्मा अगृह्य है, इसीलिये वह ग्रहण नहीं किया जाता। वह अशीर्य है, अतः उसका नाश नहीं होता। वह असंग है, अतएव वह कहीं संसक्त नहीं होता। वह कहीं बँधा हुआ नहीं है, इसीलिये वह दुःखी नहीं होता एवं उसका नाश भी नहीं होता। केवल इस आत्मज्ञानी को ही ये दोनों (धर्माधर्म सम्बन्धी) हर्ष-शोक नहीं सताते। इसीलिये मैंने पाप किया है ऐसा पश्चाताप या मैंने पुण्य किया है ऐसा हर्ष उसे नहीं होता, किन्तु इन दोनों को वह पारकर जाता है। इस तत्त्ववेत्ता का किया हुआ और न किया हुआ नित्य नैमित्तिकादि कर्म (फल प्रदान और प्रत्यवाय के द्वारा) ताप नहीं पहुँचाते॥ २२॥

तदेतदृचाभ्युक्तम्। एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति॥ २३॥

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद॥ २४॥

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद॥ २५॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥ (४)॥

ब्रह्मज्ञानी की निष्ठा तथा जनक का आत्मसमर्पण

ब्राह्मण के द्वारा कही गयी यह बात मन्त्र द्वारा भी प्रकाशित की गई है। 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति द्वारा लक्षित यह ब्रह्मदर्शी की नित्य महिमा है (दूसरी महिमा यह है कि) जो कर्म से न तो घटती है और न बढ़ती ही है। अतः उस महिमा के स्वरूप को जानने वाला होना चाहिये उसे जानकर पुरुष धर्माधर्म रूप कर्म से लिप्त नहीं होता। अतः ऐसा जानने वाला बाह्य इन्द्रिय व्यापार से शान्त अन्तःकरण की तृष्णा से रहित होने के कारण दान्त, सम्पूर्ण ऐषणाओं से उपरत, द्वन्द्व को सहन करनेवाला तितिक्षु और समाहित चित्त हो आत्मा में ही आत्मा को देखता है। सभी को आत्मा देखता है उसे धर्माधर्म रूप पाप का स्पर्श नहीं होता। यह सम्पूर्ण पापों को पार कर जाता है। इसे पाप और ताप दुःखी नहीं करते, बल्कि यही संपूर्ण पापों को संतप्त करता रहता है, यह पाप रहित, कामना रहित एवं संशय रहित ब्रह्मवेत्ता हो जाता है। हे राजन्! यही ब्रह्मलोक है, इसलोक में तुम पहुँचा दिये गये हो। ऐसा याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा। तब जनक ने कहा—वह मैं आप श्रीमान् को विदेह देश देता हूँ, साथ ही अपने आप को भी दास कर्म के लिये समर्पित करता हूँ॥ २३॥

अन्नाद तथा वसु दान रूप से आत्मा की उपासना का फल

वह यह महान् अजन्मा ही समस्त अन्नों का भोक्ता एवं सम्पूर्ण भूतों का कर्म फल दाता है। जो कोई इस रूप से ब्रह्म ही उपासना करता है उसे सम्पूर्ण कर्मों का फल प्राप्त होता है॥ २४॥

ब्रह्मवेत्ता की स्थिति

वही यह अजन्मा आत्मा, महान्, अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्मरूप है। अभय ही ब्रह्म है। जो कोई उक्त आत्मा को अभय ब्रह्म समझता है वह अभय ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं॥ २५॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन्॥ १ ॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति॥ २ ॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो३ नेति, नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति॥ ३ ॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति॥ ४॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति॥ ५॥

अथ मैत्रेयीनामपंचमं ब्राह्मणम्

याज्ञवल्क्य को संन्यास की इच्छा

यह बात प्रसिद्ध है कि याज्ञवल्क्य महर्षि की मैत्रेयी तथा कात्यायनी नाम वाली ये दो स्त्रियाँ थीं। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मचर्चा करने वाली थी और कात्यायनी स्त्रियों की-सी (गृह सम्बन्धी प्रयोजन) बुद्धिवाली थी। ऐसी स्थिति में याज्ञवल्क्य गार्हस्थ्य जीवन से भिन्न संन्यासचर्या को आरम्भ करना चाहते थे॥ १ ॥

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद

हे मैत्रेयि! इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने (बड़ी पत्नी को लक्ष्य करके) कहा—मैं इस गार्हस्थ्य जीवन से अन्यत्र सब कुछ त्याग कर जाना चाहता हूँ यानी संन्यास लेना चाहता हूँ। अतः तुम्हारी अनुमति लेना चाहता हूँ, तुम चाहो तो इस कात्यायनी के साथ तुम्हारा बँटवारा कर दूँ॥ २ ॥ उस मैत्रेयी ने कहा—भगवन्! यदि धन से संपन्न सारी पृथिवी मुझे मिल जाय तो उससे मैं अमर हो सकती हूँ? याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं, भोग सामग्री से युक्त मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायगा। धन से अमर होने की आशा है ही नहीं॥ ३ ॥ तब उस मैत्रेयी ने कहा—जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे मैं लेकर क्या करूँगी। आप जो कुछ भी अमरत्व का साधन जानते हों उसी को मेरे लिए कहें॥ ४॥ उन याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा—निःसन्देह तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और अब भी तूने हमारी प्रसन्नता को बढ़ाया है। अतः मैत्रेयी! मैं अत्यन्त संतुष्ट हो तुझसे उस अमरत्व के साधन की व्याख्या करूँगा, तू मेरे द्वारा बतलाये गये विषय का भली प्रकार चिन्तन करना॥ ५ ॥

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳ सर्वं विदितम्॥ ६॥

आत्मा में सर्वाधिक प्रेम

हे मैत्रेयि! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पति के प्रयोजन के लिये पति प्यारा नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये पति प्यारा होता है। स्त्री के प्रयोजन के लिये स्त्री प्यारी नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री प्यारी होती है। पुत्रों के सुख के लिये पुत्र प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही सुख के लिये पुत्र प्यारे होते हैं। धन के प्रयोजन के लिये धन प्यारा नहीं, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्यारा होता है। पशुओं के प्रयोजन के लिये पशु प्यारा नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये पशु प्यारे होते हैं। ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होते हैं। क्षत्रिय के सुख के लिये क्षत्रिय प्यारा नहीं होता किन्तु अपने ही सुख के लिये क्षत्रिय प्यारा होता है। लोकों के सुख के लिये लोक प्यारे नहीं होते किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्यारे होते हैं। देवों के प्रयोजन के लिये देव प्यारे नहीं होते हैं, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये देव प्यारे होते हैं। वेदों के प्रयोजन के लिये वेद प्यारे नहीं होते किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये वेद प्यारे होते हैं। भूतों के प्रयोजन के लिये भूत प्यारे नहीं होते किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये भूत प्रिय होते हैं। (विशेष क्या कहें बस इतना ही समझो) सब के प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं। अतः हे मैत्रेयि! आत्मा ही दर्शनीय, श्रवण के योग्य, मनन के योग्य और ध्यान करने योग्य है। हे मैत्रेयि! निःसन्देह आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन, तथा विज्ञान हो जाने पर ये सभी विज्ञात हो जाते हैं (क्योंकि अधिष्ठान आत्मा से भिन्न यह अध्यस्त वस्तु कुछ भी नहीं है)॥ ६॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो वेदान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा॥ ७॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ८॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ९॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः॥ १०॥

भेददृष्टि की निन्दा कर अभिन्न आत्मतत्त्व का उपदेश

ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मण जाति को आत्मा से भिन्न समझता है। क्षत्रिय जाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न समझता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं, जो लोकों को आत्मा से भिन्न समझता हे। देव उसे परास्त कर देते हैं, जो देवों को आत्मा से भिन्न समझता है। वेद उसे परास्त कर देते हैं, जो वेदों को आत्मा से भिन्न समझता है। भूत उसे परास्त कर देते हैं, जो भूतों को आत्मा से भिन्न जानता है। सभी उसे परास्त कर देते हैं जो सबको ये भिन्न समझता है, क्योंकि यह ब्राह्मण जाति, यह क्षत्रिय जाति, ये लोक, ये देव, ये वेद, ये भूत तथा ये सब जो कुछ भी हैं, यह सब आत्मा ही है॥ ७॥

सर्वात्म दर्शन में दृष्टान्त

वहाँ पर दृष्टान्त यह है कि जैसे—काष्ठादि के द्वारा आघात किये हुए नक्कारे के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में कोई समर्थ नहीं होता, किन्तु नक्कारे या नक्कारे के आघात को ग्रहण कर लेने से उसका शब्द भी गृहीत हो जाता है॥ ८॥ वह दूसरा दृष्टान्त यह है कि जैसे—बजाये गये शंख के बाह्य शब्दों को कोई पकड़ने में समर्थ नहीं होता किन्तु शंख या शंख के बजाने को पकड़ लेने से उसका शब्द भी गृहीत हो जाता है॥ ९॥ वह तीसरा दृष्टान्त यह है कि जैसे—बजायी गयी वीणा के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में कोई समर्थ नहीं होता, किन्तु वीणा या वीणा के बजाने को ग्रहण करने पर उसका शब्द ग्रहीत हो जाता है॥ १०॥

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि॥ ११ ॥

स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिकैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ संकल्पानां मन एकायनमेवꣳ सर्वासां विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणाꣳ हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्॥ १२ ॥

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः॥ १३ ॥

वह चौथा दृष्टान्त यह है कि जैसे—जिसका ईंधन गीला है ऐसा आधान किये गये अग्नि से नाना रंग के धुएँ निकलते हैं। हे मैत्रेयि! वह ही ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्वेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद् ब्राह्मण, वैदिक वस्तु संग्रह, वाक्यरूप सूत्र, सूत्रों की व्याख्या, मन्त्रों की व्याख्या, इष्ट (यज्ञ) हवन किया हुत, खिलाया हुआ, पिलाया हुआ, यह लोक, परलोक तथा संपूर्ण भूत हैं। ये सब इस परमात्मा के ही निःश्वास हैं॥ ११ ॥ वह पाँचवा दृष्टान्त यह है कि जैसे—समस्त जलों का समुद्र ही एकमात्र प्रलय स्थान है, वैसे ही समस्त स्पर्शों का त्वचा एक प्रलय स्थान है। ऐसे ही संपूर्ण गन्धों का दोनों नासिकाएँ एक अयन हैं। ऐसे ही संपूर्ण रसों का जिह्वा एक अयन है। ऐसे ही समस्त रूपों का चक्षु एक अयन है। ऐसे ही समस्त शब्दों का श्रोत्र एक अयन है। ऐसे ही समस्त संकल्पों का मन एक अयन है। ऐसे ही समस्त विद्याओं का हृदय एक अयन है। ऐसे ही समस्त कर्मों का दोनों हाथ एक अयन है। ऐसे ही समस्त आनन्दों का उपस्थ एक अयन है। ऐसे ही समस्त विसर्गों का गुदा एक अयन है। ऐसे ही समस्त मार्गों का दोनों पाद एक अयन है। तथा ऐसे ही समस्त वेदों का वाक् एक अयन है॥ १२ ॥ इस विषय में छठा दृष्टान्त यह है—जैसे नमक का डला बाहर और भीतर सभी से परिपूर्ण रसघन ही है। हे मैत्रेयि! ऐसे ही यह आत्मा भी बाह्यान्तर भेद से रहित परिपूर्ण प्रज्ञानघन ही है। वह इन भूतों से अच्छी प्रकार उठकर उन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है। इसीलिये मर जाने पर इसकी संज्ञा नहीं रह जाती। हे मैत्रेयि! इस प्रकार मैं कहता हूँ ऐसा याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा॥ १३ ॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा॥ १४॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरꣳ रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरꣳ स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कꣳ रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कꣳ स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार॥ १५॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम्॥ (५)॥

निर्विशेष आत्मा के विषय में प्रश्नोत्तर

उस मैत्रेयी ने कहा—(मरने पर इसकी संज्ञा नहीं रहती है ऐसा कहकर) इस प्रज्ञानघन के विषय में ही श्रीमान् ने मुझे मोह में डाल दिया है? अतः उसे मैं विशेष रूप से नहीं समझ पा रही हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—अरी मैत्रेयि! मैं मोह की बात नहीं करता हूँ, अरी! यह आत्मा निःसन्देह अविनाशी है, और उच्छेद धर्म से सर्वथा शून्य है अर्थात् इसमें विनाश या उच्छेद रूप विकार नहीं होता॥ १४॥

उपदेश के बाद याज्ञवल्क्य का संन्यास

हे मैत्रेयि! जिस अविद्यावस्था में द्वैत-सा प्रतीत होता है वहाँ पर ही अन्य-अन्य को देखता है, अन्य-अन्य को सूँघता है, अन्य-अन्य का मनन करता है, अन्य-अन्य को छूता है और अन्य-अन्य को विशेष रूप से जानता है। इसके विपरीत जहाँ पर इस विद्वान् की दृष्टि में सब आत्मा ही हो गया, वहाँ पर किससे किसको देखे, किससे किसको चखे, किससे किसको कहे, किससे किसको सुने, किससे किसको मनन करे, किससे किसको छूवे और किससे किसको जाने? पुरुष जिससे हम सबको जानता है भला उसे किसके द्वारा जाने? वह 'नेति नेति' इस

अथ वंशः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गौतमाद्गौतमः सैतवात्सैतवः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद्गार्ग्यायण उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्यन्दिनायनान्माध्यन्दिनायनः सौकरायणात्सौकरायणः काषायणात्काषायणः सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥

प्रकार बतलाया गया आत्मा अगृह्य है, उसका ग्रहण नहीं होता। अशीर्य है, उसका विनाश नहीं होता। असंग है, वह कहीं पर भी संसक्त नहीं होता। अबद्ध है, अतः वह पीड़ित और क्षीण नहीं होता। हे मैत्रेयि! विज्ञाता को किससे जाने? इस प्रकार हमने तुझे उपदेश कर दिया। अरी मैत्रेयि! बस, तू निश्चय जान। इतना ही अमृतत्व है। ऐसा कह कर याज्ञवल्क्य संन्यासी हो गये ॥ १५ ॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ वंशनामषष्ठं ब्राह्मणम्

अब याज्ञवल्कीय काण्ड का वंश बतलाया जाता है

गौपवन से पौतिमाष्य ने, पौतिमाष्य से गौपवन ने, गौपवन से पौतिमाष्य ने, कौशिक से गौपवन ने, कौण्डिन्य से कौशिक ने, शाण्डिल्य से कौण्डिन्य ने, कौशिक से तथा गौतम से शाण्डिल्य ने और गौतम ने ॥ १ ॥ आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने गार्ग्य से, गार्ग्य ने गार्ग्य से, गार्ग्य ने गौतम से, गौतम ने सैतव से, सैतव ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने गार्ग्यायण से, गार्ग्यायण ने उद्दालकायन से, उद्दालकायन ने जाबालायन से, जाबालायन ने माध्यन्दिनायन से, माध्यन्दिनायन ने सौकरायण से, सौकरायण ने काषायण से, काषायण ने सायकायन से, सायकायन ने कौशिकायनि से, कौशिकायनि ने ॥ २ ॥

घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यःकाप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनान्मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात्प्रध्वꣳसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥ इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ (६) ॥ इति चतुर्थः प्रपाठकः ॥ ४ ॥

घृतकौशिक से, घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण से और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्धनि से, औपजन्धनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्टि से, माण्टि ने गौतम से और गौतम ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कैशोर्यकाप्य से, कैशोर्यकाप्य ने कुमारहारित से, कुमारहारित ने गालव से, गालव ने विदर्भीकौण्डिन्य से, विदर्भीकौण्डिन्य ने वत्सनपाद् बाभ्रव से, वत्सनपाद् बाभ्रव ने पन्था सौरभ से, पन्था सौरभ ने अयास्य आङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूतित्वाष्ट्र से, आभूतित्वाष्ट्र ने विश्वरूपत्वाष्ट्र से, विश्वरूपत्वाष्ट्र ने अश्विनीकुमारों से, अश्विनीकुमारों ने दध्यङ्ङथर्वण से, दध्यङ्ङथर्वण ने अथर्वा-दैव से, अथर्वा-दैव ने मृत्यु-प्राध्वंसन से, मृत्यु-प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से, प्रध्वंसन ने एकर्षि से, एकर्षि ने विप्रचित्ति से, विप्रचित्ति ने व्यष्टि से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग से सनग ने परमेष्ठी से एवं परमेष्ठी ने ब्रह्मा से (यह विद्या प्राप्त की है)। ब्रह्म स्वयंभु है, ब्रह्म को नमस्कार है ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थाध्यायः, षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते॥ पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ ॐ खं ब्रह्म खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम्॥ १॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥ (१)॥

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच दं इति व्यज्ञासिष्टा३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति॥ १॥

अथ खंनामप्रथमं ब्राह्मणम्

ओं खं ब्रह्म की उपासना

आकाश ब्रह्म ओंकार रूप है (यहाँ खं शब्द से भौतिक आकाश नहीं समझना चाहिये) अतः आकाश परमात्मस्वरूप है। जिसमें वायु रहता है। वह आकाश ही खं है, ऐसा कौरव्यायणी पुत्र ने कहा है अर्थात् खं शब्द का मुख्य अर्थ भूताकाश ही होता है। ब्रह्माकाश तो गौण अर्थ है। यह ओंकार, वेद, यानी नाम है इसी से वेदितव्य वस्तु ब्रह्म का प्रकाश होता है। ऐसा ब्राह्मण जानते हैं, क्योंकि जो वस्तु वेदितव्य है उसका इसी ओंकार से बोध होता है॥ १॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥

अथ प्राजापत्यनामद्वितीयं ब्राह्मणम्

देव, मानव और दानव को एक ही "द" अक्षर से अभीष्ट उपदेश की प्राप्ति

देव, नर और असुर ये तीनों प्रजापति के पुत्र थे। उन्होंने पिता प्रजापति के पास शिष्य भाव से ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास किया। ब्रह्मचर्य पूर्वक वास के बाद देवों ने प्रजापति से कहा—आप हमें उपदेश करें। प्रजापति ने उन देवों से "द" यह अक्षर कहा और पूछा—क्या आप लोग समझ गये? इस पर देवताओं ने कहा—हाँ, हम लोग समझ गये। आपने इन्द्रिय दमन करो, ऐसा हमें उपदेश किया है, (क्योंकि देवता स्वभाव से अजितेन्द्रिय होते हैं। अतः उन्हें इन्द्रिय दमन की आवश्यकता होती है) प्रजापति ने कहा—ठीक है, आप लोग समझ गये हो ॥ १॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति॥ २॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयꣳ शिक्षेद्दमं दानं दयामिति॥ ३॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम्॥(२)॥

एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्रयक्षरꣳ हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ १॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥ (३)॥

उसके बाद प्रजापति से मनुष्यों ने कहा—हमें आप उपदेश करें। प्रजापति ने उन्हें भी ''द'' यह अक्षर ही बतलाया और पूछा—समझ गये? मनुष्यों ने कहा—हाँ, हम सब समझ गये। आपने हमें ''दान करो'' ऐसा उपदेश किया है (क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही लोभी होता है) तब प्रजापति ने कहा—हाँ, ठीक है आप लोग समझ गये॥ २॥ फिर प्रजापति से दैत्यों ने कहा—आप हमें उपदेश करें। प्रजापति ने दैत्यों से भी ''द'' यह अक्षर ही कहा और पूछा—क्या आप लोग समझ गये? दैत्यों ने कहा हाँ, हम सब समझ गये। आपने हमें ''दया करो'' ऐसा कहा है। तब प्रजापति ने कहा—हाँ ठीक है, आप लोग समझ गये। उस प्रजापति के अनुशासन का मेघ गर्जनरूपी दैवी वाणी ''द द द'' इस प्रकार आज भी अनुवाद कर रही है अर्थात् दमन करो, दान करो और दया करो। अतः दमन, दान और दया इन तीनों को अपने अधिकारानुरूप सभी ने सीख लिया॥ ३॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम्॥

अथ हृदयनामतृतीयं ब्राह्मणम्

हृदय ब्रह्म की उपासना

जो ''हृदय'' है वह प्रजापति है। यह ब्रह्म है, क्योंकि यह सबका आत्मा है। अतएव यह सर्व भी है। यह ''हृदय'' ऐसा तीन अक्षर नाम वाला है। ''हृ'' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसके प्रति स्व (इन्द्रियाँ) और अन्य शब्दादि विषय बलि समर्पण करते हैं। ''द'' यह एक अक्षर है, इस प्रकार जो उपासना करता है उसे स्वजातीय और असंबद्ध पुरुष भी बलि समर्पण करते हैं। ''यम्'' यह एक अक्षर है, इसे जो जानता है वह स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है (जब नाम के अक्षर की उपासना करने वाले को भी विशिष्ट फल मिलता है, तो ''हृदय'' ब्रह्म की उपासना से प्राप्त होने वाले फल के विषय में कहना ही क्या है)॥ १॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥

तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकान् जित इन्न्वसावसद्य एवमेतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यꣳ ह्येव ब्रह्म॥ १॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥ (४)॥

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाꣳस्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत्त्र्यक्षरꣳसत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतꣳ सत्यभूयमेव भवति नैनं विद्वाꣳसमनृतꣳ हिनस्ति॥ १॥

अथ सत्यनामचतुर्थं ब्राह्मणम्

सत्य ब्रह्म की उपासना

वही यह हृदय ब्रह्म ही वह है, जोकि सत्य ही है। जो कोई भी इस महत्पूज्य प्रथम उत्पन्न हुए को 'यह सत्य ब्रह्म है' इस प्रकार से उपासना करता है। वह इन लोकों को जीत लेता है, उसका उसके वश में हो जाता है और वह असत् स्वरूप हो जाता है। जो इस प्रकार इस महत्पूजनीय प्रथम उत्पन्न हुए को 'सत्य ब्रह्म' इस प्रकार से उपासना करता है, उसे अवश्य पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है, क्योंकि सत्य ही ब्रह्म है। (अतः उपासना के अनुरूप फल मिलना उचित ही है)॥ १॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

अथ सत्यब्रह्मसंस्थाननामपंचमं ब्राह्मणम्

सत्य ब्रह्म तथा सत्य नाम के अक्षरों की उपासना

यह नामरूपात्मक जगत् पहले जल ही था, उसी ने सर्व प्रथम सत्य की रचना की। अतः सत्य ब्रह्म है, ब्रह्म ने विराट् को और विराट् ने देवताओं को उत्पन्न किया। वे देवगण भी सत्य की ही उपासना करते हैं। वह यह सत्य तीन अक्षर वाला है। 'स' यह एक अक्षर है। ईकारानुबन्ध सहित 'ती' यह एक अक्षर वाला है और 'यम्' यह भी एक अक्षर वाला है। इनमें प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य रूप है, क्योंकि उनके मृत्यु का अभाव है और बीच में तकार अनृत है, फिर भी वह यह अनृत तकार दोनों ओर सत्य से व्याप्त है। इसलिये यह सत्य बहुल ही है। इस प्रकार जानने वाले को मृत्यु रूप अनृत नहीं सताता अर्थात् ऐसे उपासक को कभी प्रमाद से कहा हुआ असत्य मारता नहीं॥ १॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ २ ॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयꣳ शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ॥ ३ ॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ (२) ॥

एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरꣳ हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ १ ॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ (३) ॥

उसके बाद प्रजापति से मनुष्यों ने कहा—हमें आप उपदेश करें। प्रजापति ने उन्हें भी "द" यह अक्षर ही बतलाया और पूछा—समझ गये? मनुष्यों ने कहा—हाँ, हम सब समझ गये। आपने हमें "दान करो" ऐसा उपदेश किया है (क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही लोभी होता है) तब प्रजापति ने कहा—हाँ, ठीक है आप लोग समझ गये ॥ २ ॥ फिर प्रजापति से दैत्यों ने कहा—आप हमें उपदेश करें। प्रजापति ने दैत्यों से भी "द" यह अक्षर ही कहा और पूछा—क्या आप लोग समझ गये? दैत्यों ने कहा हाँ, हम सब समझ गये। आपने हमें "दया करो" ऐसा कहा है। तब प्रजापति ने कहा—हाँ ठीक है, आप लोग समझ गये। उस प्रजापति के अनुशासन का मेघ गर्जनरूपी दैवी वाणी "द द द" इस प्रकार आज भी अनुवाद कर रही है अर्थात् दमन करो, दान करो और दया करो। अतः दमन, दान और दया इन तीनों को अपने अधिकारानुरूप सभी ने सीख लिया ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ हृदयनामतृतीयं ब्राह्मणम्

हृदय ब्रह्म की उपासना

जो "हृदय" है वह प्रजापति है। यह ब्रह्म है, क्योंकि यह सबका आत्मा है। अतएव यह सर्व भी है। यह "हृदय" ऐसा तीन अक्षर नाम वाला है। "हृ" यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसके प्रति स्व (इन्द्रियाँ) और अन्य शब्दादि विषय बलि समर्पण करते हैं। "द" यह एक अक्षर है, इस प्रकार जो उपासना करता है उसे स्वजातीय और असंबद्ध पुरुष भी बलि समर्पण करते हैं। "यम्" यह एक अक्षर है, इसे जो जानता है वह स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है (जब नाम के अक्षर की उपासना करने वाले को भी विशिष्ट फल मिलता है, तो "हृदय" ब्रह्म की उपासना से प्राप्त होने वाले फल के विषय में कहना ही क्या है) ॥ १ ॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकान् जित इन्न्वसावसद्य एवमेतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यꣳ ह्येव ब्रह्म॥ १ ॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥ (४)॥

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाꣳस्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत्त्र्यक्षरꣳसत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतꣳ सत्यभूयमेव भवति नैनं विद्वाꣳसमनृतꣳ हिनस्ति॥ १ ॥

अथ सत्यनामचतुर्थं ब्राह्मणम्

सत्य ब्रह्म की उपासना

वही यह हृदय ब्रह्म ही वह है, जोकि सत्य ही है। जो कोई भी इस महत्पूज्य प्रथम उत्पन्न हुए को 'यह सत्य ब्रह्म है' इस प्रकार से उपासना करता है। वह इन लोकों को जीत लेता है, उसका उसके वश में हो जाता है और वह असत् स्वरूप हो जाता है। जो इस प्रकार इस महत्पूजनीय प्रथम उत्पन्न हुए को 'सत्य ब्रह्म' इस प्रकार से उपासना करता है, उसे अवश्य पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है, क्योंकि सत्य ही ब्रह्म है। (अतः उपासना के अनुरूप फल मिलना उचित ही है)॥ १॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

अथ सत्यब्रह्मसंस्थाननामपंचमं ब्राह्मणम्

सत्य ब्रह्म तथा सत्य नाम के अक्षरों की उपासना

यह नामरूपात्मक जगत् पहले जल ही था, उसी ने सर्व प्रथम सत्य की रचना की। अतः सत्य ब्रह्म है, ब्रह्म ने विराट् को और विराट् ने देवताओं को उत्पन्न किया। वे देवगण भी सत्य की ही उपासना करते हैं। वह यह सत्य तीन अक्षर वाला है। 'स' यह एक अक्षर है। ईकारानुबन्ध सहित 'ती' यह एक अक्षर वाला है और 'यम्' यह भी एक अक्षर वाला है। इनमें प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य रूप है, क्योंकि उनके मृत्यु का अभाव है और बीच में तकार अनृत है, फिर भी वह यह अनृत तकार दोनों ओर सत्य से व्याप्त है। इसलिये यह सत्य बहुल ही है। इस प्रकार जानने वाले को मृत्यु रूप अनृत नहीं सताता अर्थात् ऐसे उपासक को कभी प्रमाद से कहा हुआ असत्य मारता नहीं॥ १॥

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष तदस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति॥ २॥

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद॥ ३॥

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा प्रतिष्ठे द्वे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद॥ ४॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम्॥ (५)॥

आदित्य मण्डलस्थ और चाक्षुष पुरुष भी सत्य नाम वाला है

वह जो सत्य है, वह यह आदित्य है। जो जो इस आदित्य मण्डल में पुरुष है और जो भी दाएँ नेत्र में पुरुष है वे दोनों एक दूसरे से प्रतिबिम्बित हैं। रश्मियों द्वारा अनुग्रह करता हुआ यह आदित्य पुरुष चाक्षुष पुरुष में प्रतिष्ठित है और चाक्षुष पुरुष प्राणों के द्वारा उपकार करता हुआ उस आदित्य पुरुष में प्रतिष्ठित है। जिस समय यह आध्यात्मिक चाक्षुष पुरुष शरीर से उत्क्रमण करने लगता है उस समय यह विज्ञानमय इस आदित्य मण्डल को चन्द्रमण्डल के समान रश्मि रहित शुद्ध ही देखता है। फिर ये रश्मियाँ इसके पास आती नहीं (इस प्रकार परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव के कारण ये दोनों एक सत्यात्मा के ही अंश हैं)॥ २॥

आदित्य मण्डलस्थ पुरुष के व्याहृति रूप अवयव

इस मण्डल में जो यह सत्यनामा पुरुष है उसका 'भूः' यह शिर है, क्योंकि शिर एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजाएँ दो हैं और अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' यह चरण है, क्योंकि पाद दो हैं और यह अक्षर भी दो हैं। 'अह' यह उसका गोपनीय नाम है। जो ऐसा जानता है (जो अहर्नामा ब्रह्म की उपासना करता है) वह पापों को मारता है और उसे त्याग देता है॥ ३॥

अहं नामक चाक्षुष पुरुष के व्याहृति रूप अवयव

जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है उसका 'भूः' यह शिर है, क्योंकि शिर एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजाएँ हैं, क्योंकि भुजाएँ दो हैं और यह अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा है, क्योंकि पाद दो हैं और अक्षर भी दो हैं। 'अहं' यह उसका गूढ़ नाम है, क्योंकि यह प्रत्यगात्म स्वरूप है। जो ऐसा जानता है, वह पाप को मारता है और त्याग देता है॥ ४॥

"इति पञ्चमं ब्राह्मणम्"

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ॥ १ ॥ इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ (६)॥

विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥ १ ॥ इति सप्तमं ब्राह्मणम् ॥ (७)॥

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः, स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥ १ ॥ इत्यष्टमं ब्राह्मणम् ॥ (८)॥

अथ मनोनामकषष्ठं ब्राह्मणम्
मनोमय पुरुष की उपासना

प्रकाश ही जिसका स्वरूप है, ऐसा भास्वर यह पुरुष मनोमय है। जैसे—धान या जौ सूक्ष्म होता है, वैसे ही सूक्ष्म परिणाम वाला उस अन्तर्हृदय में वह पुरुष रहता है। वही यह सबका स्वामी और सबका अधिपति है और जो कुछ भी यह जगत् है सबका विशेष रूप से शासन करने वाला वही है (उसकी जो उपासना करता है वह सबका शासक हो जाता है) ॥ १ ॥

अथ विद्युन्नामसप्तमं ब्राह्मणम्
विद्युत् ब्रह्म की उपासना

विद्युत् ब्रह्म है ऐसा कहते हैं। अन्धकार का खण्डन या विनाश करने के कारण विद्युत् है, ऐसे गुण वाले विद्युत् ब्रह्म की जो उपासना करता है वह अपने प्रतिकूल सभी पापों का नाश कर देता है। (क्योंकि यह फल उपास्य के अनुरूप ही है) अतः विद्युत् ही ब्रह्म है ॥ १ ॥

अथ वाग्धेनुनामाष्टमं ब्राह्मणम्
धेनु रूप से वाणी की उपासना

वाग् (ऋग्, यजुः और सामवेद) रूप धेनु की उपासना करे। उस वाग्रूप धेनु के स्वाहाकार, वषट्कार, हन्त और स्वधाकार ये चार स्तन हैं। इनमें से स्वाहाकार और वषट्कार द्वारा देवताओं को हवि दी जाती है। हन्त ऐसा कह कर मनुष्यों को अन्न देते हैं और स्वधाकार के द्वारा पितृगणों को श्राद्ध के योग्य वस्तु देते हैं। (इन्हीं चारों स्तनों के द्वारा वाग् गौ के समान बछड़े स्थानीय देवगणादिकों की कामना की सिद्धि करती है)। उस धेनु का वृषभ प्राण है, क्योंकि प्राण के द्वारा ही वाक् प्रसव करती है, मन उसका बछड़ा है, (क्योंकि मन से ही आलोचना किये हुए विषय में वाणी की प्रवृत्ति होती है)।

॥ इत्यष्टमं ब्राह्मणम् ॥

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषः शृणोति॥ १ ॥ इति नवमं ब्राह्मणम्॥ (९)॥

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व

अथ वैश्वानराग्निनामनवमं ब्राह्मणम्

वैश्वानराग्नि का घोष ग्रहण का चिह्न

जो यह पुरुष के भीतर है यह अग्नि वैश्वानर है। जिससे यह अन्न पकाया जाता है और भक्षण किया जाता है, उसी जठराग्नि का यह घोष हुआ करता है, जिसे पुरुष अंगुलियों से दोनों कानों को बन्द करके सुनता है। जब यह जीव उत्क्रमण करने वाला होता है उस समय इस घोष को नहीं सुनता है (अतः उस प्रजापति रूप वैश्वानराग्नि की उपासना करें) ॥ १ ॥

॥ इति नवमं ब्राह्मणम् ॥

अथ गतिनामदशमं ब्राह्मणम्

उपासनाओं से प्राप्त होने योग्य गति

जब यह पुरुष इस लोक से प्रस्थान करता है, तब वह वायु को प्राप्त करता है। आकाश में घनीभूत वह वायु उसके लिये छिद्रयुक्त हो जाता है और मार्ग दे देता है। वह छेद रथ के पहिये के छेद के समान होता है। उस छेद के द्वारा वह उपासक ऊर्ध्व होकर जाता है, फिर वह सूर्य लोक में पहुँच जाता है। वहाँ पर सूर्य भी उसके लिये वैसा ही छिद्रयुक्त हो मार्ग दे देता है। वह छेद डंबर नामक बाजे के छेद के समान होता है। उसमें प्रविष्ट हो वह उपासक ऊपर की ओर जाता है और वह चन्द्रलोक में पहुँच जाता है। वहाँ चन्द्रमा भी छिद्र युक्त

आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥ १ ॥ इति दशमं ब्राह्मणम् ॥ (१०)॥

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो प्रेतमरण्यꣳ हरन्ति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेद ॥ १ ॥ इत्येकादशं ब्राह्मणम् ॥ (११)॥

हो उसे मार्ग दे देता है। वह छिद्र दुँदुभि के छिद्र के समान होता है। उस छिद्र के द्वारा ही वह उपासक ऊपर की ओर चढ़ता है। वहाँ पर वह मानसिक दुःख से हिम वर्जित अर्थात् शारीरिक ताप से रहित प्रजापति लोक में पहुँच जाता है और उसमें अनन्त वर्षों तक अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्पों तक निवास करता है॥ १ ॥

॥ इति दशमं ब्राह्मणम् ॥

अथ तपोनामैकादशं ब्राह्मणम्

रोगादि में परम तप की दृष्टि

ज्वरादि से ग्रस्त पुरुष को जो ताप होता है यह निःसन्देह परम तप है (क्योंकि ताप और तप दोनों में समान क्लेश होता है इस प्रकार चिन्तन करने वाले तथा रोगादि की निन्दा न करने वाले पुरुष को) जो लोक प्राप्त होता है वह परम लोक ही है, उसी लोक को वह जीतता है। मृत पुरुष को ऋत्विक् लोग अन्त्येष्टि कर्म के लिये ग्राम से बाहर जो वन में ले जाते हैं निश्चय ही यह परम तप है (क्योंकि मृत पुरुष और तपस्वी दोनों को वन में जाना समान ही है)। जो मरणासन्न पुरुष ऐसा जानता है, वह परम लोक पर विजय कर लेता है। अन्त्येष्टि संस्कार के समय मृत पुरुष को जो सब ओर से अग्नि में रखते हैं निःसन्देह यह उसका परम तप है। जो ऐसा जानता है वह निश्चय ही परम लोक को जीत लेता है॥ १ ॥

॥ इत्येकादशं ब्राह्मणम् ॥

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तद्ध स्माह प्रातृदः पितरं किꣳस्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्यां किमेवास्मा असाधु कुर्यामिति स ह स्माह पाणिना मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्नं वै व्यन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि, रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा अस्मिन्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद॥ १॥ इति द्वादशं ब्राह्मणम् ॥ (१२)॥

अथ अन्नप्राणनामद्वादशं ब्राह्मणम्

प्राण और अन्न रूप ब्रह्म की उपासना

कुछ लोग कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्राण के बिना अन्न सड़ जाता है और वह दुर्गन्ध को प्राप्त हो जाता है। ऐसे ही कुछ आचार्यों ने कहा है कि प्राण ब्रह्म है पर यह बात भी ठीक नहीं, क्योंकि अन्न के बिना प्राण सूख जाता है। अतः (इनमें से एक-एक का ब्रह्मत्व सम्भव न होने के कारण) ये दोनों देव एक रूपता को प्राप्त होकर परम भाव अर्थात् ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है, ऐसा निश्चय कर प्रातृद नाम वाले ऋषि ने अपने पिता से कहा था। इस प्रकार जानने वाले का मैं क्या शुभ करूँ या क्या अशुभ करूँ? (क्योंकि उस कृत-कृत्य हुए पुरुष को शुभाशुभ कर्म से कुछ लाभ और हानि नहीं होती)। उसके पिता ने हाथ से रोकते हुए कहा हे प्रातृद! ऐसा न कहो, इन दोनों की एकता को प्राप्त कर किसने ब्रह्मभाव को प्राप्त किया है? इस प्रकार उक्त साधन का निषेध कर प्रातृद ऋषि से उसके पिता ने "वि" ऐसा कहा "वि" यही समस्त भूतों का आश्रय होने से अन्न है, क्योंकि "वि" रूप अन्न में ही सभी प्राणी प्रविष्ट हैं। "रम्" यह प्राण है, क्योंकि इस रम् में ही ये सभी भूत रमण करते हैं। इस प्रकार समस्त भूतों के आश्रय रूप अन्न को और समस्त भूतों के रमण रूप प्राण को जो जानता है, उसमें समस्त प्राणी प्रवेश करते हैं और सभी भूत रमण करते हैं (क्योंकि उपास्य के गुणानुरूप ही उपासक को फल प्राप्त होता है)॥ १॥

॥ इति द्वादशं ब्राह्मणम्॥

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदः सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मादुक्थ-विद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यः सलोकतां जयति य एवं वेद॥ १॥

यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यः सलोकतां जयति य एवं वेद॥ २॥

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्यः सलोकतां जयति य एवं वेद॥ ३॥

क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्रक्षत्रमत्रमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यः सलोकतां जयति य एवं वेद॥ ४॥ इति त्रयोदशं ब्राह्मणम्॥ (१३)॥

अथोक्थदृष्टिनामत्रयोदशं ब्राह्मणम्

उक्थ दृष्टि से प्राण की उपासना

"उक्थ" इस प्रकार प्राण की उपासना करे। इन्द्रियों में प्रधान होने से प्राण ही उक्थ है, क्योंकि प्राण ही इन सबको उठाता है। प्राणहीन कोई भी उठ नहीं सकता। इस उपासक से प्राणवित् वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं। जो ऐसी उपासना करता है वह प्राण के सायुज्य और सालोक्य को जीत लेता है॥ १॥

यजुर्दृष्टि से प्राण की उपासना

"यजुः" इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण के रहने पर ही किसी से योग हो सकता है। अतः प्राण ही यजुः है, क्योंकि प्राण में ही इन सब भूतों का योग होता है। सभी भूत इसकी श्रेष्ठता के कारण श्रेष्ठ भाव से युक्त होते हैं। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह यजुः रूप प्राण के सायुज्य एवं सालोक्य को जीत लेता है॥ २॥

साम दृष्टि से प्राण की उपासना

'साम' इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण ही साम है, क्योंकि प्राण में ही सम्पूर्ण भूत सुसंगत होते हैं। समस्त प्राणी उसके लिये संगत होते हैं और उसकी श्रेष्ठता के लिये समर्थ होते हैं। जो इस प्रकार प्राण की उपासना करते हैं, वे साम के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होते हैं॥ ३॥

क्षत्र दृष्टि से प्राण की उपासना

प्राण ही 'क्षत्र' है। इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण ही क्षत्र है यह प्रसिद्ध है, क्योंकि इस शरीर की शस्त्रादि जनित पीड़ा से रक्षा प्राण ही करता है। अन्य किसी से त्राण न पाने वाले क्षत्र को प्राप्त करते हैं। जो इस प्रकार जानता है। वह क्षत्र के सायुज्य और सालोक्य को जीत लेता है॥ ४॥

॥ इति त्रयोदशं ब्राह्मणम्॥

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद॥ १॥

ऋचो यजूꣳषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद॥ २॥

अथ गायत्रीनामचतुर्दशं ब्राह्मणम्

गायत्री के प्रथम पाद की उपासना

भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ:, इस प्रकार ये आठ अक्षर हैं। गायत्री का पहला पाद भी आठ अक्षर वाला ही प्रसिद्ध है ("द्यौ:" के यकार से ही आठ संख्या की पूर्ति होती है)। यह भूमि आदि ही इस गायत्री का प्रथम पाद है। जो त्रैलोक्यात्मक रूप है, इस प्रकार इस गायत्री के इस त्रैलोक्य रूप पाद को जो जानता है वह उस सभी को जीत लेता है, जो इस त्रिलोक में जितना भी है ॥ १॥

गायत्री के द्वितीय पाद की उपासना

ऋच: यजूँषि और सामानि ये त्रयीविद्या के आठ अक्षर हैं। आठ अक्षर वाला ही गायत्री का दूसरा पाद प्रसिद्ध है। संख्या की समानता होने के कारण यह ऋगादि ही इस गायत्री का दूसरा पाद है। इस प्रकार इस गायत्री के इस त्रयीविद्या रूप द्वितीय पाद को जो जानता है वह उन सभी को जीत लेता है जितनी यह त्रयीविद्या है। अर्थात् त्रयीविद्या से जितना फल प्राप्त किया जा सकता है ॥ २॥

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरः ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवः हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ ३ ॥

गायत्री के तृतीय पाद और चतुर्थ पाद की उपासना

प्राण, अपान और व्यान, ये आठ अक्षर हैं। गायत्री का तृतीय पाद भी आठ अक्षर वाला है। यह प्राण आदि ही संख्या में समानता होने के कारण इस गायत्री का तृतीय पाद है। इस प्रकार गायत्री के इस तृतीय पाद को जो जानता है, वह उस सभी को प्राप्त कर लेता है जितना यह प्राणी समूह है और जो यह प्रकाशित होता है वही इसका (आगे बतलाया जाने वाला) तुरीय दर्शत एवं परोरजा पद है। जो चतुर्थ होता है उसी को तुरीय कहते हैं। "दर्शतं पदम्" इसका अर्थ यह है कि—मानो यह आदित्य मण्डलान्तर्गत पुरुष दीखता है। इसीलिये इसे दर्शत पद कहते हैं। "परोरजा" इस पद का अर्थ यह है, यह सभी रज (लोकों) के ऊपर-ऊपर आधिपत्य स्थापित कर प्रकाशित होता है (सभी लोक पर आधिपत्य दिखलाने के लिये ही इस मन्त्र में "ऊपरि ऊपरि" ऐसा दो बार कहा हुआ है)। जो गायत्री के इस चतुर्थ पद को इस प्रकार जानता होगा, वह उसी प्रकार शोभा और कीर्ति से प्रकाशित होता है जैसा कि यह आदित्य सर्वाधिपत्य रूप शोभा और कीर्ति से तप रहा है॥ ३॥

सैषा गायत्र्येतस्मिंस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वैतत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तद्वैतत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलंः सत्यादोगीय इत्येवंवैषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गयांस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूंः सावित्रीमन्वाहैषैव स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणंस्त्रायते॥ ४॥

तांः हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद्यदिह वा अप्येवंविद्बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकंचन पदं प्रति॥ ५॥

गायत्री की प्राण में प्रतिष्ठा है, गायत्री शब्द की व्युत्पत्ति और उपदेश का फल

पूर्वोक्त तीन पदों वाली वह यह गायत्री इस चतुर्थ दर्शत परोरजा पद में प्रतिष्ठित है। वह तुरीय पद सत्य में प्रतिष्ठित है। नेत्र ही सत्य है, नेत्र ही सत्य है (क्योंकि विवाद करने वाले की सत्यता नेत्र से देखने पर ही सिद्ध होती है) यह प्रसिद्ध है। इसीलिये यदि दो पुरुष "मैंने देखा है, मैंने सुना है" इस प्रकार विवाद करते हुए आवें तो उनमें से "मैंने देखा है" ऐसा जो कहता है, उसी के प्रति हम विश्वास करते हैं। निःसन्देह यह तुरीय पद का आश्रय सत्य, बल में प्रतिष्ठित है। अतएव कहते हैं कि सत्य की अपेक्षा अधिक ओजस्वी बल है। इस प्रकार यह गायत्री अध्यात्म प्राण में स्थित है। इस गायत्री ने वागादि प्राण रूप गयों का त्राण किया था अर्थात् वागादि प्राण ही गय हैं। उनका इसने त्राण किया था, इसने गयों का त्राण किया था इसीलिये तो इसका नाम गायत्री प्रसिद्ध हुआ है। उस आचार्य ने आठ वर्ष के बटुका उपनयन कर उसे जिस सविता देव सम्बन्धी गायत्री का उपदेश किया था, वह यही है। वह आचार्य जिस बटु को इस गायत्री का उपदेश करता है, यह गायत्री उस बटु के वागादि प्राण रूप गय की नरकादि में गिरने से रक्षा करती है॥ ४॥

अनुष्टुप् सावित्री का निषेध और गायत्री, सावित्री की महिमा

कुछ शाखा वाले इस ("तत्सवितुर्वृणीमहे, वयं देवस्य भोजनं, श्रेष्ठं सर्वधातमम्। तुरं भगस्य धीमहि") ऐसे अनुष्टुप् छन्दवाली (तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्)। इस सावित्री का ही उपदेश करे। यदि ऐसा जानने वाले अधिक प्रतिग्रह भी करे तो भी गायत्री के एकपाद के बराबर भी वह प्रतिग्रह समुदाय नहीं हो सकता॥ ५॥

स य इमाꣳस्त्रींल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केन च नाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात्॥ ६ ॥

तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा॥ ७॥

गायत्री के प्रत्येक पद का महत्त्व

जो गायत्री उपासक गौ, अश्वादि धन से पूर्ण इन भूरादि तीन लोकों का दान स्वीकार करता है, उसका वह दान गायत्री के इस प्रथम पाद को व्याप्त करता है, अर्थात् वह प्रतिग्रह इससे अधिक दोष उत्पन्न नहीं कर सकता और जितना यह त्रयीविद्या है, जो उतना दान स्वीकार करता हो, तो वह दान इस गायत्री के उस द्वितीय पाद को व्याप्त कर लेता है; तथा ये जितने प्राणी हैं इनका दान गायत्री उपासक स्वीकार करता है, वह दान इस गायत्री के इस तृतीय पाद को व्याप्त करता है (अर्थात् पूर्वोक्त दान पादत्रय विज्ञान के फल मात्र का नाशक हो सकते हैं, अधिक दोष उत्पन्न नहीं कर सकते। ऐसी कल्पना गायत्री उपासना की स्तुति के लिये की गई है)। एवं यही इसका तुरीय दर्शत परोरजा, पद है। जो यह अन्तरिक्ष में तपता है यह किसी के प्राप्त करने के योग्य नहीं है, क्योंकि इतना दान कोई कहाँ से कर सकता है (दान के अभाव में प्रतिग्रह का तो प्रसंग ही नहीं होता, तात्पर्य यह है कि इस त्रिपद गायत्री की ही उपासना करनी चाहिये) ॥ ६ ॥

गायत्री उपस्थान का फल

उस गायत्री का इस मन्त्र से उपस्थान किया जाता है। हे गायत्रि! तू त्रैलोक्य रूप प्रथम पाद से एक पदी है, त्रयीविद्या रूप द्वितीय पाद से द्विपदी है और प्राणादि रूप तृतीय पाद से त्रिपदी है तथा तुरीय पाद से चतुष्पदी है। वस्तुत: निरुपाधिक होने से तू अपद है अर्थात् तेरा कोई पद नहीं है, जिससे तू जानी जा सकती है। अत: व्यवहार से अतीत संपूर्ण लोकों से ऊपर विद्यमान तेरे दर्शन के योग्य तुरीय पद को नमस्कार है। यह पापरूपी शत्रु इस विघ्न बाधा रूप कार्य में सफलता प्राप्त न करें। एवं यह उपासक जिससे द्वेष करता हो, उसकी कामना पूर्ण न हो। इस प्रकार मन्त्र पढ़ कर गायत्री का उपस्थान करे। इस प्रकार जिसके लिये उपस्थान किया जाता है, उसका अभीष्ट कभी पूर्ण नहीं होता। अथवा मैं इसे प्राप्त करूँ, ऐसी कामना से गायत्री का उपस्थान करे (वहाँ पर उक्त मन्त्र पदों के उपासक को इच्छानुरूप विकल्प हो सकता है)॥ ७॥

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्नु हो तद्गायत्रीविदब्रूथा अथ कथꣳ हस्तीभूतो वहसीति मुखꣳ ह्यस्याः सम्राण्न विदांचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत्संदहत्येवꣳ हैवैवंविद्यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः संभवति॥ ८॥ इति चतुर्दशं ब्राह्मणम्॥ (१४)॥

गायत्री के मुख विधान के लिये अर्थवाद

उस गायत्री विज्ञान के विषय में विदेहराज जनक ने अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल से यही बात कही थी कि तूने जो अपने को गायत्रीतत्त्व का ज्ञाता बतलाया था तो फिर भला प्रतिग्रह दोष के कारण हाथी बनकर भार क्यों ढोता है? इस पर बुडिल ने कहा—हे राजन्! मैं इस गायत्री का मुख नहीं जानता था (अर्थात् एक अंग को न जानने के कारण मेरा गायत्री विज्ञान निष्फल हो गया है)। तब जनक ने कहा—अग्नि ही इसका मुख है, यदि लौकिक पुरुष अग्नि में बहुत-सा ईंधन डाल देवें तो वह अग्नि उस सभी को भस्म कर देती है। इसी प्रकार जो ऐसा जानता है वह प्रतिग्रहादि बहुत-सा पाप करता रहा हो तो भी वह उस सबको भक्षण करके शुद्ध पवित्र अजर और अमर हो जाता है अर्थात् उक्त विज्ञान वाला गायत्री उपासक अग्नि के समान प्रतिग्रह दोष से लिपायमान नहीं होता ॥ ८ ॥

॥ इति चतुर्दशं ब्राह्मणम्॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्। ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर। अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥ १॥ इति पञ्चदशं ब्राह्मणम्॥ (१५)॥ इति पञ्चमः प्रपाठकः॥ ५॥

अथ सूर्याग्निप्रार्थनानामपंचदशं ब्राह्मणम्

ज्ञान कर्म समुच्चय के उपासक की मार्ग याचना

आदित्य मण्डलस्थ सत्य ब्रह्म का द्वार (स्वर्ण के समान चमकीले व्यष्टि और समष्टि अहंकाररूप) ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। अतः हे पूषन्! इस सत्य धर्म जिज्ञासु को उस सत्यात्मा ब्रह्म का दर्शन कराने के लिये तू उस आवरण को हटा दे। हे जगत्पोषक! हे एकर्षे! हे सूर्य! हे प्राजापत्य! तू अपने किरणों को हटा ले और तेज को समेट ले। जिससे कि तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है उसे मैं देख सकूँ। यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूँ। अब मेरा प्राण (आध्यात्मिक-वायु) आधिदैविक-वायु रूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्मान्त हो जावे। हे मेरे संकल्प-विकल्पात्मक मन! अब तू मेरे स्मरण के योग्य शुभ कर्म का स्मरण कर। हे ओम्! हे क्रतो! मेरे किये हुए का स्मरण कर। अब तू स्मरण कर। अपने किये हुए का स्मरण कर (क्योंकि स्मरण का समय आ गया है)। हे अग्नि! हमें अपने कर्म फल भोग के लिए शुभमार्ग से ले चलो। हे देव! तू हमारे सम्पूर्ण ज्ञान एवं कर्म को जानने वाला है। अतः हमारे कुटिल कर्मों को हमसे पृथक् कर दो। इस समय हम मरणासन्न हैं तेरी अन्य कोई सेवा नहीं कर सकते हैं। अतः हम तेरी अनेकों नमस्कारमात्र से परिचर्या करते हैं॥ १॥

॥ इति पञ्चमाध्यायः, पञ्चदशं ब्राह्मणम्॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

ॐ॥ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद, ज्येष्ठश्च स्वानां भवति, प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च, ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति, य एवं वेद॥ १॥

यो ह वै वसिष्ठां वेद, वसिष्ठः स्वानां भवति, वाग्वै वसिष्ठा, वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति, य एवं वेद॥ २॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद, प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा, चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति, प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे, य एवं वेद॥ ३॥

अथ षष्ठाध्याये प्राणसंवादरूपप्रथमं ब्राह्मणम्

ज्येष्ठादिदृष्टि से प्राणोपासना

जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है वह अपने सजातियों से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो कोई इस प्रकार जानकर उपासना करता है, वह अपने सजातियों में तथा और भी जिन लोगों में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ बनना चाहता है, उनमें भी वह ज्येष्ठ-श्रेष्ठ बन जाता है॥ १॥

वसिष्ठादृष्टि से वाणी की उपासना

जो वसिष्ठा को जानता है वह अपने सजातियों में वसिष्ठ हो जाता है। वाक् ही वसिष्ठा है (क्योंकि अच्छे वक्ता धनादि संपन्न होकर सुख पूर्वक बसते हैं और सभा में दूसरों को परास्त कर देते हैं) जो ऐसी उपासना करता है, वह स्वजनों में तथा अन्य लोगों में भी वसिष्ठ हो जाता है, जिनमें वह वसिष्ठ बनना चाहता है॥ २॥

प्रतिष्ठादृष्टि से चक्षु की उपासना

जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है वह समान देश काल में प्रतिष्ठित होता है और दुर्गम्य तथा दुर्भिक्षादि विषम काल में प्रतिष्ठित होता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है, क्योंकि चक्षु से ही समान और दुर्गम देश काल में प्रतिष्ठित होता है। अतः जो प्रतिष्ठा गुणवाले चक्षु की उपासना करता है, वह समान और दुर्गम देश में प्रतिष्ठित होता है॥ ३॥

यो ह वै संपदं वेद, सꣳ हास्मै पद्यते, यं कामं कामयते, श्रोत्रं वै संपच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः, सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते, य एवं वेद॥ ४॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ स्वानां भवत्यायतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनꣳ स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद॥ ५॥

यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो वै प्रजातिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद॥ ६॥

ते हेमे प्राणा अहꣳ श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदꣳ शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति॥ ७॥

संपद्दृष्टि से श्रोत्र की उपासना

जो संपद् को जानता है, वह जिस भोग को चाहता है वह अच्छी प्रकार से उसे प्राप्त हो जाता है। श्रोत्र ही संपद् है, क्योंकि श्रोत्र में ही ये सब वेद भली प्रकार निष्पन्न होते हैं (अर्थात् श्रोत्र वाला ही वेद का अध्ययन करता है और वेद विहित कर्मों के अधीन ही सभी भोग हैं) जो ऐसी उपासना करता है वह जिस भोग को चाहता है, वही उसे सम्यक् प्रकार से मिल जाता है॥ ४॥

आयतनदृष्टि से मन की उपासना

जो आश्रय को जानता है वह स्वजनों का आश्रय होता है तथा अन्यजनों का भी आश्रय हो जाता है। मन ही आयतन है (क्योंकि मनः संकल्प के अधीन इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं और विषय से निवृत्त भी होती हैं) जो इस प्रकार उपासना करता है वह स्वजनों का आयतन होता है तथा अन्य जनों का भी आयतन होता है॥ ५॥

प्रजा की दृष्टि से जननेन्द्रिय की उपासना

जो कोई भी प्रजाति को जानता है वह प्रजा और पशुओं से संपन्न होता है। रेत ही प्रजाति है (क्योंकि रेत से ही प्रजा की उत्पत्ति होती है) जो इस प्रकार उपासना करता है वह प्रजा और पशुओं से संपन्न होता है॥ ६॥

अपनी श्रेष्ठता के लिये विवाद करने वाले वागादि प्राणों को ब्रह्मा द्वारा निर्णय प्राप्त करना

ये वागादि प्राण 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार विवाद करते हुए प्रजापति के पास गये, पूछे जाने पर ब्रह्मा से ये बोले भगवन्! हममें से कौन वसिष्ठ है? ब्रह्मा ने कहा तुममें से जिसके शरीर से निकल जाने पर यह शरीर अत्यन्त पापी माना जाता हो, वही तुममें वसिष्ठ है। (वसिष्ठ को जानते हुए भी दूसरे को अप्रिय न लगे इसी अभिप्राय से प्रजापति ने वसिष्ठ को स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा)॥ ७॥

वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा कला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक्॥ ८॥

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाऽन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः॥ ९॥

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम्॥ १०॥

उत्कृष्टता के लिए सर्व प्रथम वाणी की परीक्षा

पहले वाक् ने इस शरीर से उत्क्रमण किया, उसने एक वर्ष तक बाहर रहकर वापस आकार कहा—तुम लोग मेरे बिना कैसे जीवित रह सके? इस पर वे बोले—जैसा गूँगा वाणी से न बोलते हुए, प्राण से प्राणन व्यापार करते हुए, नेत्र से देखते, कान से सुनते, मन से कर्तव्याकर्तव्य को जानते, जननेन्द्रिय से प्रजा को उत्पन्न करते हुए जीते रहते हैं, वैसे ही हम लोग भी जीवित रहे। यह सुनकर वाक् अपने को वसिष्ठ न समझ कर शरीर में प्रवेश कर गया॥ ८॥

परीक्षा में असफल हो चक्षु का पुनः शरीर में प्रवेश

चक्षु ने शरीर से उत्क्रमण किया, एक वर्ष तक प्रवास कर लौटकर अन्य प्राणों से उसने कहा—तुम लोग मेरे बिना कैसे जीवित रह सके? अन्य इन्द्रियों ने कहा—जैसे अन्धे नेत्र से न देखते हुए भी प्राण से प्राणन करते, वाक् से बोलते, कान से सुनते, मन से जानते, शिश्न से संतान उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम भी जीवित रहे। यह सुनकर नेत्र शरीर में प्रवेश कर गया॥ ९॥

परीक्षा में असफल श्रोत्र का पुनः देह मे प्रवेश

श्रोत्र ने उत्क्रमण किया, एक वर्ष तक बाहर रहकर लौटकर उसने कहा-कि तुम मेरे बिना कैसे जीवित रहे? अन्य प्राणों ने कहा-जैसे बहरे कानों से न सुनते हुए भी प्राण से प्राणन करते, वाक् से बोलते, नेत्र से देखते, मन से मनन करते, शिश्न से प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम सब जीवित रहे। उसके बाद श्रोत्र ने भी देह में प्रवेश किया॥ १०॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वाꣳसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः॥ ११॥

रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः॥ १२॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून्संवृहेदेवꣳ हैवेमान्प्राणान्संववर्ह ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति॥ १३॥

परीक्षा में असफल मन का पुनः प्रवेश

मन ने उत्क्रमण किया, एक वर्ष तक बाहर रहकर लौटने पर उसने अन्य प्राणों से कहा–तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके? उन्होंने कहा—जैसे मुग्ध पुरुष मन से न जानते हुए भी प्राण से प्राणन करते, वाक् से बोलते, नेत्र से देखते, कानों से सुनते, शिश्न से प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम लोग भी जीवित रहे। इसके बाद मन भी शरीर में प्रवेश कर गया॥ ११॥

परीक्षा में असफल रेत का देह में पुनः प्रवेश

रेत ने उत्क्रमण किया, उसने भी एक वर्ष तक बाहर रहने के बाद लौट कर अन्य प्राणों से कहा—तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके? उन्होंने कहा—जैसे नपुंसक शिश्न से प्रजा न उत्पन्न करते हुए भी प्राण से प्राणन करते, वाक् से बोलते, नेत्र से देखते, कानों से सुनते और मन से जानते हुए जीवित रहते हैं, ऐसे ही हम लोग भी जीवित रहे। यह सुनकर वीर्य ने भी पुनः शरीर में प्रवेश किया॥ १२॥

उत्क्रमण करने के समय ही प्राण की श्रेष्ठता का इन्द्रियों द्वारा स्वीकार करना

उसके बाद जब मुख्य प्राण उत्क्रमण करने लगा (उसी समय वागादि प्राण अपने स्थान से विचलित हो गये) जैसे सिन्धु देश में उत्पन्न अच्छी जाति का घोड़ा परीक्षा के समय पैर बाँधने के खूटों को उखाड़ डालता है, वैसे ही मुख्य प्राण ने भी इन वागादि प्राणों को अपने स्थान से विचलित कर दिया। उन वागादि ने कहा—हे भगवन्! आप उत्क्रमण न करें, क्योंकि आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकते। प्राण ने कहा—(तुम्हें मेरी श्रेष्ठता का पता लग गया है। अतः अब तुम लोग) मुझे भेंट दिया करो। वागादि प्राणों ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कह कर प्राण को भेंट देना स्वीकार किया॥ १३॥

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुर्यद्वा अहꣳ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किंचाश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं य एवमेतदन्नस्यान्नं वेद तद्विद्वाꣳसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते॥ १४॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥ (१)॥

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं, तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमार३ इति स भो३ इति प्रतिशुश्रावानुशिष्टोऽन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच॥ १ ॥

वागादि द्वारा प्राण की स्तुति और भेंट प्रदान करना

उस वागिन्द्रिय ने कहा—मैं जो वशिष्ठा हूँ, वह वस्तुतः उस वशिष्ठत्व गुण से युक्त तुम्हीं हो। मैं जो प्रतिष्ठा हूँ वह तुम्हीं उस प्रतिष्ठा से युक्त हो ऐसा नेत्र ने कहा। श्रोत्र ने कहा—मैं जो संपद् हूँ, वह तुम्हीं उस संपद् गुण से युक्त हो। मन ने कहा—जो मैं आयतन हूँ, वह वस्तुतः तुम्हीं आयतन हो। रेत ने कहा—मैं जो प्रजाति हूँ, वह भी वस्तुतः तुम्हीं उस प्रजातित्व गुण से युक्त हो। (प्राण ने कहा—कोरी वस्तु से क्या लाभ है, अब बतलाओ कि) ऐसे गुणों से युक्त होने पर मेरा अन्न क्या है? वस्त्र क्या है? वागादि ने कहा—लोक में कुत्ते, कृमि और कीट पतंगादि से लेकर यह जो कुछ भी है, वही सब तेरा अन्न है और जल ही तेरा वस्त्र है। इस प्रकार जो प्राण के अन्न को जानता है, उसके द्वारा अभक्ष्य का भक्षण नहीं होता और न अभक्ष्य का प्रतिग्रह ही होता है। ऐसा जानने वाले श्रोत्रिय विद्वान् भोजन से पूर्व आचमन करते हैं और भोजन के पश्चात् भी। उसी को वे उस प्राण को अनग्न करना अर्थात् वस्त्र पहराना मानते हैं॥ १४॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥

अथ कर्मविभागनामद्वितीयं ब्राह्मणम्

प्रवाहण और श्वेतकेतु का संवाद

प्रसिद्ध आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु एक बार पाञ्चालों की सभा में आया। वह जीवल के पुत्र प्रवाहण नामक पाञ्चाल राज के पास पहुँचा। उस समय वह राजा सेवकों से सेवा करा रहा था (राजा ने उसके विद्याभिमान और गर्व के विषय में पहले से ही सुन रखा था। अतः विनीत बनाने के लिये) उसे आते देखते ही प्रवाहण ने कहा—भो कुमार! उसने उत्तर दिया भो! (ब्राह्मण के लिये क्षत्रिय को 'भो' शब्द से सम्बोधित नहीं करना चाहिये, फिर भी क्रोधावेश में उसने ऐसा किया) प्रवाहण ने कहा—क्या पिता ने तुझे शिक्षा दी है? तब श्वेतकेतु ने कहा हाँ पिता ने मुझे शिक्षा दी है॥ १॥

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति नेति होवाच वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न संपूर्यता ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यतिथ्यामाहुत्याᳬ हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वापि हि न ऋषेर्वचः श्रुतम्। द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति नाहमत एकंचन वेदेति होवाच॥ २॥

प्रवाहण के पाँचों प्रश्नों से श्वेतकेतु सर्वथा अनभिज्ञ

जैसे मरने के बाद यह प्रजा विभिन्न मार्गों से जाती है, उसे क्या तू जानता है। श्वेतकेतु ने कहा—नहीं। राजा ने पूछा—जैसे वह फिर इस लोक में लौट कर आती है, क्या तू उसे जानता है। श्वेतकेतुने कहा—नहीं। राजा ने पूछा—इस प्रकार बार-बार बहुतों के मर कर जाने पर भी जैसे वह लोक मरता नहीं, उसे क्या तू जानता है। श्वेतकेतु ने कहा—नहीं। राजा ने पूछा—कितने बार की आहुति के हवन करने पर जल पुरुष संज्ञा को प्राप्त हो उठकर बोलने लगता है, उसे क्या तू जानता है। श्वेतकेतु ने कहा—नहीं। राजा ने पूछा—देवयान मार्ग का ज्ञान-कर्म रूप साधन या पितृयान मार्ग का कर्म रूप साधन को क्या तू जानता है, जिसे अनुष्ठान कर जीव देवयान या पितृयान को प्राप्त हो जाते हैं, हमने तो ऋषिका यह वचन सुन रक्खा है अर्थात् पितरों के और देवों के दो मार्ग हमने सुने हैं, जो ये दोनों ही मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इन दोनों मार्गों से जाने वाला लोग भली प्रकार से जाता है और ये द्युलोक और पृथिवी के मध्य में हैं, जिन्हें माता-पिता भी कहते हैं। इस पर श्वेतकेतु ने कहा—मैं इन प्रश्न समुदाय में से एक को भी नहीं जानता, मुझे किसी का पता नहीं॥ २॥

अथैनं वसत्योपमंत्रयांचक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव स आजगाम पितरं तꣳ होवाचेति वाव किल नो भवान्पुरानुशिष्टानवोचदिति कथꣳ सुमेध इति पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकंचन वेदेति कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार॥ ३॥

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंच वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयांचकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार तꣳ होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति॥ ४॥

राजा के आतिथ्य को अनादर कर श्वेतकेतु का पिता के पास आकर उलाहना देना

इसके बाद राजा ने श्वेतकेतु से विनय पूर्वक ठहरने के लिये प्रार्थना की, किन्तु वह कुमार उस निवास का अनादर कर अपने पिता के पास चला गया। वह अपने पिता के पास आया और अपने पिता से उसने समावर्तन संस्कार के समय की बात याद दिलायी। आपने समावर्तन के समय यही कहा था कि सभी विषयों की शिक्षा तुम्हें देदी गयी है। आरुणि ने पुत्र का उलाहना सुन कर कहा—हे सुन्दर धारणा वाले! तुम्हें इस प्रकार दुःख कैसे हुआ। पुत्र ने कहा—मुझ से एक क्षत्रिय बन्धु ने पाँच प्रश्न पूछे, पर मैं तो उनमें से एक को भी नहीं जानता। पिताने कहा—वे प्रश्न कौन से हैं। उसने कहा—ये प्रश्न थे, ऐसा कह कर श्वेतकेतु ने राजा से पूछे गये प्रश्नों के संकेत बतलाए॥ ३॥

उक्त विषय में अनभिज्ञ आरुणि का प्रवाहण के पास आना

(क्रुद्ध पुत्र को शान्त करने के लिये) उस पिता ने कहा—हे वत्स! तू हमसे इतना निश्चित जान कि जो कुछ मैं जानता था वह सब तुझ से मैंने कह दिया था (राजा के इन प्रश्नों को तो मैं भी नहीं जानता अतः) अब चल हम दानों वहीं चलें और ब्रह्मचर्य पूर्वक उसके यहाँ निवास करें। पुत्रने कहा—आप ही जाँय (मैं तो उसका मुख भी देखना नहीं चाहता) तब वह गौतम जैवलि, प्रवाहणकी जहाँ बैठक थी, वहाँ आया। राजा ने उस आरुणि के लिए उचित आसन देकर सेवकों से जल मँगवाया और पुरोहित द्वारा मन्त्र पूर्वक उसे अर्घ्यदान किया। फिर राजा ने कहा—मैं भगवान् गौतम को वर देता हूँ॥ ४॥

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति॥ ५॥

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति॥ ६॥

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य, मा नो भवान्बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्योऽभूदिति स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास॥ ७॥

स होवाच यथा नस्त्वं गौतम माऽपराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति॥ ८॥

कुमार से पूछे हुए प्रश्न के उत्तर के लिये आरुणि की प्रार्थना

उस गौतम ने कहा—आपने मुझे वर देने के लिये जो प्रतिज्ञा की है उसके बदले में मैं यही चाहता हूँ कि मेरे पुत्र के समीप प्रश्न रूप में जो बात आपने कही थी, वही मुझ से कहिये॥ ५॥

दैववर को छोड़ मानुष वर माँगने के लिये प्रवाहण का कहना

उस राजा ने कहा—हे गौतम! वह वर तो देव सम्बन्धी वरों में से है, तुम मानुष वरों में से कोई वर माँगो॥ ६॥

वाङ्मात्र से प्रवाहण का शिष्यत्व स्वीकार करना

उस गौतम ने कहा—आप जानते ही हैं, वह मनुष्य सम्बन्धी स्वर्णादि वर तो मेरे पास भी है, मुझे सुवर्ण, गौ, अश्व, दासी, परिवार और वस्त्रादि परिधान भी प्राप्त हैं। आप अनन्त और निस्सीम धन के दाता होकर भी केवल मेरे लिए अदाता न हों। राजा ने कहा—हे गौतम! शास्त्रोक्त विधि से उस विद्या को प्राप्त करने की इच्छा करो। गौतम ने कहा—अच्छी बात, मैं आपके प्रति शिष्यभाव से उपसन्न होता हूँ। पहले भी ब्राह्मण लोग आपत्ति काल में विद्या प्राप्ति के लिये क्षत्रियादि के प्रति जाते रहे हैं, सेवा पूर्वक नहीं। इस प्रकार उपसत्ति का वाणीमात्र से कथन करके गौतम वहाँ रहने लगे॥ ७॥

गौतम के प्रति प्रवाहण की क्षमा प्रार्थना और विद्यादान

उसे दुःखी समझकर उस राजा ने कहा—हे गौतम! हमारे अपराध को आप वैसे ही न मानें, जैसे आपके पितामहादि पूर्वजों ने हमारे पितामहों का अपराध नहीं माना था। इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण के यहाँ नहीं रही (इसे आप जानते भी हो, यह विद्या सदा क्षत्रिय परम्परा से आई है।) अब उसे मैं तुमसे कहता हूँ, क्योंकि इस प्रकार विनय पूर्वक बोलने वाले तुम्हें निषेध करने में कौन समर्थ हो सकता है अर्थात् योग्य अधिकारी के प्रति विद्या संप्रदान उचित ही है॥ ८॥

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति॥ ९ ॥

पर्जन्यो वाऽग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति॥ १० ॥

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नꣳसंभवति॥ ११ ॥

चतुर्थ प्रश्न का उत्तर

हे गौतम! यह द्युलोक ही अग्नि है (अग्नि न होने पर भी स्त्री और पुरुष के समान द्युलोक में अग्नि दृष्टि का विधान किया गया है) आदित्य ही उसका ईंधन है, क्योंकि आदित्य से उसका उद्दीपन होता है। किरणें धूप हैं, दिन ज्वाला है, उपशम में समानता होने से दिशाएँ अंगारे हैं तथा विस्फुलिङ्गों के समान बिखरी हुई होने के कारण अवान्तर दिशाएँ चिनगारियाँ हैं। ऐसे गुणों से युक्त इस द्युलोक रूप अग्नि में इन्द्रादि देव श्रद्धा का हवन करते हैं। उस आहुति से पितरों और ब्राह्मणों का राजा सोम उत्पन्न होता है॥ ९ ॥

पर्जन्य रूप अग्नि का वर्णन

हे गौतम! मेघ ही अग्नि है, सम्वत्सर ही उसका ईंधन है, बिजली ज्वाला है, इन्द्र का वज्र अंगार है, मेघगर्जन चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवगण सोमराजा को हवन करते हैं। उस सोम की आहुति से वर्षा होती है॥ १० ॥

यह लोकरूप अग्नि का वर्णन

हे गौतम! यह लोक ही अग्नि है, पृथिवी इसका ईंधन है, अग्नि धूम है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अंगार है और नक्षत्र चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवगण वर्षा का हवन करते हैं। उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है। (समिधा के सम्बन्ध से ज्वाला और धूम उत्पन्न होता है।) अतः पार्थिव द्रव्यरूप ईंधन से अग्निरूप धूम की छायारूप रात्रि (अन्धकार) उत्पन्न होता है। अंगारे के समान होने से चन्द्रमा को अंगार कह दिया गया है॥ ११ ॥

पुरुषो वाऽग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः संभवति॥ १२॥

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्ने-तस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते॥ १३॥

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति॥ १४॥

पुरुषाग्नि का वर्णन

हे गौतम! (हस्तपादादि अवयवों वाला) प्रसिद्ध पुरुष ही अग्नि है, उसका खुला हुआ मुख ही समिधा है, प्राण धूम है, वाणी ज्वाला है, (क्योंकि ज्वाला के समान वाणी से ही वस्तु का प्रकाश होता है) नेत्र अंगार हैं और श्रोत्र चिनगारियाँ हैं। इस पुरुषाग्नि में देवगण अन्न का हवन करते हैं। उस आहुति से अन्न का परिणाम वीर्य उत्पन्न होता है॥ १२॥

स्त्री रूप अग्नि का वर्णन

हे गौतम! स्त्री ही होमाधिकरण रूप अग्नि है। उपस्थ ही उसकी समिधा है, योनि ज्वाला है और जो मैथुन व्यापार करता है वह अंगार है, आनन्द लेश चिनगारियाँ हैं। इस योषाग्नि में देवगण वीर्य का हवन करते हैं। उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है, वह पुरुष (तब तक) जीवित रहता है जब तक उसके प्रारब्ध क्षीण नहीं होते। प्रारब्ध क्षीण होने पर वह मर जाता है॥ १३॥

अन्त्येष्टि संस्कार रूप अन्तिम आहुति

तब इस मृत पुरुष को अग्नि के लिये ऋत्विक्‌गण ले जाते हैं। उस पुरुष का प्रसिद्ध अग्नि ही होमाधिकरण अग्नि होता है, कोई कल्पित अग्नि नहीं। प्रसिद्ध समिधा ही समिधा होती है, धूम-धूम होता है, ज्वाला-ज्वाला होती है, अंगारे-अंगारे होते हैं। प्रसिद्ध विस्फुलिङ्ग ही विस्फुलिङ्ग होते हैं। अर्थात् पूर्व के जैसे उक्त सभी कल्पित नहीं होते। उस इस अग्नि में देवगण पुरुषरूप अन्तिम आहुति का हवन करते हैं। आहुति से (गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के सभी संस्कार से सम्पन्न हो जाने के कारण) पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान् हो जाता है॥ १४॥

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाꣳ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः॥ १५॥

देवयान मार्ग विषयक पंचम प्रश्न का उत्तर

वे जो (गृहस्थ इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से) इस पंचाग्नि विद्या को जानते हैं और जो संन्यासी या वानप्रस्थी श्रद्धा युक्त हो वन में हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वे सभी ज्योति के अभिमानी देव को प्राप्त होते हैं। ज्योति के अभिमानी देव से दिन के अभिमानी देव को, दिन के अभिमानी देव से शुक्ल पक्ष के अभिमानी देव को, शुक्ल पक्ष के अभिमानी देव से उन उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देव को प्राप्त होते हैं, जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर होकर चलता है। पुनः छः मास के अभिमानी देवों से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को और आदित्य से विद्युत् के अभिमानी देवों के पास (ब्रह्मा के द्वारा मन से रचा हुआ ब्रह्मलोकवासी) एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकों में ले जाता है। वे लोग उन ब्रह्मलोकों में (ब्रह्ममान से मित अनेक संवत्सर पर्यन्त) अनेक वर्ष तक रहते हैं, उनका पुनरागमन नहीं होता है॥ १५॥

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताꣳस्तत्र देवा यथा सोमꣳ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳस्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्॥ १६॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम्॥ (२)॥

धूमयान मार्ग का वर्णन

पूर्वोक्त उपासकों से भिन्न जो केवल कर्मी यज्ञ, दान और तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं, वे मरने पर धूमाभिमानी देव को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि के अभिमानी देव को, रात्रि से कृष्ण पक्ष के अभिमानी देव को, कृष्ण पक्ष के अभिमानी देव से उन छः मास के अभिमानी देवों को प्राप्त होते हैं, जिन छः मास में सूर्य दक्षिण की ओर होकर चलता है। छः मास के अभिमानी देव से पितृलोक को, पितृलोक से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। उस चन्द्रमा में पहुँच कर वे अन्न हो जाते हैं। वहाँ पर देवगण इन्हें ऐसे भक्षण कर जाते हैं, जैसे ऋत्विक् लोग "आप्यायस्व अपक्षीयस्व" ऐसा कहकर सोम राजा को भक्षण करते हैं और जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं तब वे इस प्रसिद्ध आकाश को ही प्राप्त हो जाते है। आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को और वृष्टि से पृथिवी को प्राप्त होते हैं। पृथिवी को प्राप्त कर वे कर्मी अन्न हो जाते हैं। पुनः वे पुरुष रूप अग्नि में हवन किये जाते हैं, उससे वे लोक के प्रति उत्थान योग्य होकर स्त्री रूप अग्नि में उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार वे बार-बार आते-जाते रहते हैं। पूर्वोक्त दोनों से भिन्न जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते, वे कीट, पतंग और डाँसे, मच्छर आदि योनियों को प्राप्त होते हैं। (इस प्रकार पुनरावृत्ति रूप दूसरे प्रश्न और उस लोक का न भरना रूप तीसरे प्रश्न का उत्तर हो गया)॥ १६॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम्॥

स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य परिसमूह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्यावृताज्यꣳ सꣳस्कृत्य पुꣳसा नक्षत्रेण मन्थꣳ संनीय जुहोति। यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहꣳस्वाहा॥ १॥

अथ श्रीमन्थनामतृतीयं ब्राह्मणम्

विधि के सहित श्रीमन्थ कर्म की सामग्री का वर्णन

धन और कर्म के अधिकारी जो ऐसा चाहते हैं कि मैं महत्त्व को प्राप्त होऊँ तो वह उत्तरायण में शुक्लपक्ष की पुण्यतिथि पर बारह दिन तक पयोव्रती होकर गूलर की लकड़ी के कटोरे या चमस पात्र में सभी औषधियों को, फल तथा अन्य सामग्रियों को एकत्रित कर वेदी को कुशों से बुहार कर गोबर तथा जल से उसे लीपकर अग्नि का संस्थापन करे। पुनः अग्नि के चारों ओर कुशा बिछाकर गृहसूत्र में बतलायी गयी विधि से घृत का संस्कार करके पुँल्लिङ्ग नाम वाले (हस्तादिक) नक्षत्र में मन्थ को (अपने और अग्नि के) बीच में रखकर (निम्नाङ्कित मन्त्र से) हवन करता है। मन्त्रार्थ यह है:—हे अग्निदेव! तेरे अधीन जितने देवता वक्र-बुद्धि होकर पुरुष की कामनाओं का विघात करते हैं, उनके उद्देश्य से यह आज्य भाग का मैं होम करता हूँ। वे देव तृप्त होकर मुझे सम्पूर्ण भोगों द्वारा तृप्त करें, स्वाहा (स्वाहा शब्द से आहुति दे देवे)। मैं सबकी मृत्यु को धारण करने वाला हूँ, ऐसा समझकर जो वक्र-बुद्धि देव तेरा आश्रय करके रहता है। सभी भोगों को देने वाले उस देव के लिये मैं घृत की धारा से यजन करता हूँ ('स्वाहा' ऐसा कहकर अग्नि में घृत की आहुति दें डाले) ॥ १॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति॥ २॥

होम के मन्त्र

'ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके स्रुवा में बचे घृत को पिष्टपिण्ड रूप मन्थ में डाल देता है। 'प्राणाय स्वाहा, वसिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में होम करके स्रुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है। 'वाचे स्वाहा, प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में होम करे, स्रुवा में बचे घृत को मन्थ में डाले। 'चक्षुषे स्वाहा, संपदे स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में होम करके शेष घृत को मन्थ में डाल देता है। 'मनसे स्वाहा, प्रजात्यै स्वाहा' इस मन्त्र से होम करके स्रुवा में बचे घृत को मन्थ पर डाल देता है। 'रेतसे स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है (औषधियों के पीसे हुए पिण्ड को मन्थ कहते हैं, उसी में अवशिष्ट घृत को डालने के लिये कहा गया है। अतः उक्त मन्त्रों में आए हुए क्रिया का 'डाले' ऐसा अर्थ भी किया जाता है)॥ २॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भविष्यंते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ॥ ३ ॥

'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। 'सोमाय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। 'भूः स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। 'भूः स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। 'भुवः स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ पर डाल देता है। 'स्वः स्वाहा' इस मन्त्र से हवन करके संस्रव को मन्थ पर डाल देता है। 'भूर्भुवःस्वः स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में होम कर संस्रव को मन्थ में डाल देता है। 'ब्रह्मणे स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। 'क्षत्राय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। 'भूताय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। 'भविष्यते स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। 'विश्वाय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। 'सर्वाय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ पर डाल देता है। 'प्रजापतये स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ पर डाल देता है (उक्त सभी स्रुमन्त्रों से आहुतियाँ डालकर स्रुवा में लगे हुए घृत को मन्थ में डालता जाता है और दूसरी उपमथानी से उसका मन्थन करता है क्योंकि अन्यत्र उसका विनियोग नहीं है)॥ १३ ॥

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथ-मस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति॥ ४॥

अथैनमुद्यच्छत्यामꣳ स्यामꣳहि ते महि, स हि राजेशानोऽधिपतिः स माꣳ राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति॥ ५॥

मन्थ के स्पर्श का मन्त्र

इसके बाद उस मन्थ को (भ्रमदसि) इत्यादि मन्त्र के द्वारा स्पर्श करता है (अपने अधिष्ठातृ देव प्राण रूप से एक होने के कारण वह मन्थ द्रव्य सर्वात्मक है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है) तू प्राण रूप से सभी देहों में घूमते हो। अग्नि रूप से सभी जगह प्रज्वलित होते हो। ब्रह्मरूप से परिपूर्ण हो, आकाश रूप से निष्कम्प हो। किसी का भी विरोधी न होने के कारण तू यह विश्वरूप एक सभा के तुल्य हो। यज्ञ के प्रारम्भ में प्रस्तोता द्वारा यज्ञ में किये जाने वाले 'हिङ्क्रियमाण' भी तू ही हो। यज्ञ के आरम्भ में उद्गाता द्वारा उच्चस्वर से गान किया गया 'उद्गीथ' तू ही हो एवं यज्ञ के मध्य में उद्गाता द्वारा 'उद्गीयमान' भी तू ही हो। अध्वर्यु द्वारा श्रावित तथा अग्नीध्र द्वारा प्रत्याश्रावित तू ही हो। मेघ में अच्छी प्रकार से प्रकाशमान तू ही हो। विविध रूप धारण करने वाला विभु तू ही हो और सब कुछ करने में समर्थ प्रभु तू ही हो। तू भोग्यरूप से अन्न हो और अग्नि रूप से ज्योति हो, कारण रूप से सबका प्रलय स्थानं हो और सबका संहारक होने से संवर्ग तू ही हो॥ ४॥

पात्र सहित मन्थ को उठाने का मन्त्र

'आमंसि आमंहि' इत्यादि मन्त्र से पात्र सहित मन्थ को ऊपर उठाता है। हे मन्थ! तू सब जानते हो, मैं भी तेरी महिमा को अच्छी प्रकार जानता हूँ। वह प्राण राजा ईशान और अधिपति है। वह मुझे राजा ईशान और अधिपति बनावे, अर्थात् अपने समान गुणों से युक्त मुझ यजमान को भी बनावें॥ ५॥

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यम्। मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। भूः स्वाहा। भर्गो देवस्य धीमहि। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। भुवः स्वाहा। धियो यो नः प्रचोदयात् । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ ३ अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः। स्वः स्वाहेति। सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदꣳ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वꣳशं जपति॥ ६ ॥

मन्थ की भक्षण विधि

इसके बाद 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्यादि मन्त्र से इस मन्थ का भक्षण करता है। सूर्य के उस वरण करने योग्य श्रेष्ठ पद का मैं ध्यान करता हूँ। हवा शीतल-मन्द-सुगन्ध गति से बह रही है। नदियाँ शहद के समान मधुर रस से युक्त हो बह रही हैं। सभी ओषधियाँ हमारे लिए मधुर रसप्रद हों। भूः स्वाहा (उक्त अर्थवाले मन्त्रों का उच्चारण कर मन्थ का प्रथम ग्रास भक्षण करे) हम सविता देव के तेज का ध्यान करते हैं। वे हमारे लिये दिन-रात सुखप्रद हों। पृथिवी माता के रजकण भी हमें उद्वेगप्रद न हों। द्युलोकरूप पिता हमारे लिये सुखप्रद हो। भुवः स्वाहा (उक्त अर्थ वाले मन्त्र से मन्थ का द्वितीय ग्रास भक्षण करे)। जो सविता देव हमारी बुद्धियों का प्रेरक है, वह हमारे लिये मधुर रसमय सोम होवे। सूर्य हमारे लिये मधु वाला होवे। किरणें, दिशाएँ, गौएँ हमारे लिये सुखप्रद हों। स्वः स्वाहा (उक्त अर्थ वाले मन्त्रों से तृतीय ग्रास खावे)। इसके बाद सम्पूर्ण गायत्री मन्त्र और उक्त समस्त ऋचा तथा 'अहमेवेदं सर्वं भूयासम्' (यह सब मैं ही हो जाऊँ) 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर अन्त में अवशेष सम्पूर्ण मन्थ को खाकर दोनों हाथ धोकर अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होकर बैठे। फिर प्रातः काल 'दिशामेकपुण्डरीकमस्यहम्' (तू दिशाओं में एक पुण्डरीक है, मैं मनुष्यों में एक अखण्ड श्रेष्ठ होऊँ) इत्यादि मन्त्र द्वारा आदित्य को नमस्कार करे, तत्पश्चात् जिस मार्ग से गया था उसी मार्ग से लौटकर अग्नि के पश्चिम भाग में बैठे और आगे कहे जाने वाला वंश का जप करे॥ ६ ॥

तं हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ७॥

एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ८॥

एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनंशुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ९॥

एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ १०॥

एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ११॥

मन्थ कर्म का वंश

उस इस मन्थ का उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य के प्रति उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्थ द्रव्य को सूखे ठूँठ पर डाल देगा, तो उससे शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आयेंगे॥ ७॥ उस इस मन्थ का वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्य को उपदेश करके कहा था— यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डाल देगा तो उसमें भी शाखाएँ उग आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे॥ ८॥ उस इस मन्थ का मधुक पैङ्ग्यने अपने शिष्य चूल भागवित्ति को उपदेश करके कहा था—यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डालेगा तो उसमें भी शाखाएँ फूट आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे॥ ९॥ उस इस मन्थ का चूल भागवित्ति ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण को उपदेश करके कहा था कि यदि कोई इस मन्थ द्रव्य को सूखे ठूँठ पर डाल देगा तो उसमें भी शाखाएँ फूट निकलेंगी और पत्ते निकल आयेंगे॥ १०॥ उस इस मन्थ का जानकि आयस्थूण ने अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल के लिये उपदेश करके कहा था कि यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डाल देगा, तो उसमें शाखाएँ उग आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे॥ ११॥

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतं नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात्॥ १२॥ चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान्दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति॥ १३॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥ (३)॥

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः॥ १॥

उस इस मन्थ का सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को उपदेश करके कहा था—यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डाल दे, तो उसमें भी शाखाएँ फूट आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे। उस इस मन्थ का उपदेश उसे न करे जो पुत्र या शिष्य न हो (शिष्य, वेद पढ़ने वाला, श्रोत्रिय, मेधावी, धनदाता, प्रियपुत्र और शिष्य) एक विद्या सीखकर दूसरी विद्या सिखाने वाला ये छः विद्या के अधिकारी होते हैं। उनमें से इस प्राग् दर्शन युक्त मन्थ विज्ञान को पुत्र और शिष्य दो ही को देने के लिये कहा गया है॥ १२॥

मन्थ कर्म की द्रव्य सामग्री

यह मन्थ कर्म चार औदुम्बर काष्ठ के पदार्थ से युक्त होता है। इसमें गूलर की लकड़ी का स्रुवा, गूलर की लकड़ी का चमस, गूलर की लकड़ी का इध्म और उसी काष्ठ की दो उपमन्थनी होती हैं (इसीलिये इस मन्थ कर्म को चतुरौदुम्बर कहते हैं) इसमें धान्य, जौ, तिल, उड़द, साँवा, काँकनी, गेहूँ, मसूर, बाल और कुलथी ऐसे दस ग्रामीण अन्न होते हैं (इनके अतिरिक्त यज्ञ सम्बन्धी अन्य औषधियाँ भी यथाशक्ति मिलाई जाती हैं) इन्हें पीस करके दही, मधु और घृत में मिलाकर घृत से होम करता है॥ १३॥

"इति तृतीयं ब्राह्मणम्"

अथ पुत्रमन्थनामचतुर्थं ब्राह्मणम्

संतान उत्पत्ति का विज्ञान

इन स्थावर जंगम संपूर्ण भूतों का सारतत्त्व पृथिवी है, पृथिवी का सार जल है, जल का सार औषधियाँ हैं, औषधियों का सार पुष्प है, पुष्प का सार फल है, फलों का सार पुरुष है तथा पुरुष का सार वीर्य है॥ १॥

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियꣳ ससृजे ताꣳ सृष्ट्वाऽध उपास्त तस्मात्स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मान एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत्॥ २॥

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासाꣳ स्त्रीणाꣳ सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्यऽस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते॥ ३॥

उस प्रसिद्ध सृष्टि कर्त्ता प्रजापति ने विचार किया कि इस सारतत्त्व की स्थापना के लिये किसी योग्य आधार भूमि का निर्माण करना चाहिये। उन्होंने स्त्री की सृष्टि की, उसकी सृष्टि करके अधोभाग की उपासना की, अर्थात् मैथुन कर्म किया। अतः उत्तम संतान उत्पत्ति मात्र के लिये स्त्री का अधोभाग का सेवन सद्गृहस्थ करें। (इस मैथुन कर्म में वाजपेय यज्ञ की समानता दिखलायी गयी है) प्रजापति ने इस उत्कृष्ट गतिशील (सोमरस निकालने के लिये) पत्थर के सदृश अपने जननेन्द्रिय को मैथुन काल में कठोर बना दिया और स्त्री की योनि की ओर प्रेरित किया, अर्थात् उससे उस स्त्री का संसर्ग किया (स्मरण रहे यह संतान उत्पत्ति विज्ञान प्रजा उत्पादन योग्य गृहस्थ आश्रम में तरुणों के लिये ही बतलाया गया है, अन्य के लिये नहीं। इस विज्ञान में अश्लील शब्दों का आना अनिवार्य है। अतः पाठक विश्व कल्याण की भावना से इस प्रसङ्ग को पढ़ें)॥ २॥ उस स्त्री की उपस्थ इन्द्रिय वेदी है, वहाँ के रोएँ कुशा हैं, योनि का मध्य भाग लाल वर्ण के कारण प्रज्ज्वलित अग्नि है, योनि के पार्श्व भाग में दो कठोर माँस खण्ड मुष्क हैं, वे दोनों मुष्क ही चर्माधिषवण नाम से प्रसिद्ध चमड़े के बने सोम फलक हैं। वाजपेय यज्ञ अनुष्ठान से यजमान को जितना पुण्यलोक प्राप्त होता है, उतना ही इस मैथुन विज्ञान के जानने वाले उपासक को इस कर्म से भी प्राप्त होता है। जो इस प्रकार जानने वाला पुरुष मैथुन का आचरण करता है, वह विद्वान् इन स्त्रियों के पुण्य को अवरुद्ध कर लेता है, इसके विपरीत जो इसे जानता नहीं और यदि वह मैथुन का सेवन करता है, तो उस अज्ञानी के पुण्य को स्त्रियाँ अवरुद्ध कर लेती हैं॥ ३॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वैतद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्कुमारहारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वाꣳसोऽधोपहासं चरन्तीति बहु वा इदꣳ सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति॥ ४॥

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः। इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः। पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात्॥ ५॥

निश्चय ही मैथुन कर्म को वाजसनेय सम्पन्न ज्ञाता, अरुण नन्दन उद्दालक पूर्वोक्त रीति से कहते हैं। इसे उक्त रूप में जानने वाले मुद्गल के पुत्र नाक कहते हैं तथा इसे उक्त रूप से जानने वाले कुमार हारित भी कहते हैं कि बहुत से ऐसे मरण शील मनुष्य नाममात्र के ब्राह्मण हैं जो असंयत इन्द्रिय पुण्यकर्म रहित अर्थात् मैथुन कर्म में आसक्ति पूर्वक प्रवृत्त होते हैं। वे इस लोक से प्रस्थान करने पर परलोक से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। (जो ब्रह्मचर्य पालन 'पत्नी के ऋतुकाल की प्रतीक्षा करता है') उस प्राण उपासक का यदि राग की प्रबलता के कारण ऋतुकाल प्राप्त होने से पूर्व अधिक या कम मात्रा में सोते या जागते समय वीर्य गिर जाता है (तो वह निम्नाङ्कित प्रायश्चित करे)॥ ४॥ उस वीर्य को हाथ से स्पर्श करे और स्पर्श करते समय इस प्रकार अभिमंत्रित करे—आज जो मेरा रेतःस्खलित होकर पृथिवी पर गिरा है, जो पहले कभी अन्न में भी गिरा और जल में पड़ा है। उस इस रेत को मैं ग्रहण करता हूँ। ऐसा कहकर अनामिका और अंगुष्ठ से उस वीर्य को ग्रहण कर दोनों स्तनों और भौहों के बीच में लगावे, उस समय यह मन्त्र पढ़े। वह इन्द्रिय पुनः मेरे पास लौट आवे, जो वीर्य स्खलित रूप में बाहर निकल गयी थी, मुझे पुनः तेज और सौभाग्य की प्राप्ति हो। जिनका स्थान अग्नि है वे देवगण फिर से मेरे शरीर में उस रेत को यथा स्थान स्थापित कर दें॥ ५॥

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्तदभिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳ सुकृतमिति श्रीर्ह वा एषां स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत ॥ ६ ॥

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ॥ ७ ॥

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवतः ॥ ८ ॥

यदि भूल से जल में रेत स्खलित हो जाय तो वहाँ पर अपनी छाया को देख लेवे और ''मयि तेजः'' इत्यादि मन्त्र से जल को अभिमंत्रित करें। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे देवगण! आप मुझमें तेज, वीर्य, यश, धन और सत्कर्म की प्रतिष्ठा करें (उसके बाद जिसके गर्भ से पुत्र की उत्पत्ति करनी हो उस पत्नी की स्तुति इस प्रकार करे) यह पत्नी समस्त स्त्रियों में लक्ष्मी स्वरूपा है, क्योंकि रजस्वला होने के कारण उसके वस्त्र में रज के चिह्न स्पष्ट दीखते हैं। तत्पश्चात् रजस्वला तथा यशस्विनी पत्नी के तीन रात्रि के बाद स्नान कर चुकने पर उसके पास जाकर कहे। आज हम दोनों को वही करना है, जिससे पुत्र उत्पन्न होवे ॥ ६ ॥ वह धर्मपत्नी यदि इस पति को मैथुन न करने दे, तो पति उसे उसकी इच्छानुसार वस्त्रादि देकर उस पर अपना प्रेम प्रकट करे। इस पर भी यदि वह इसे मैथुन का अवसर न देवे, तो वह पति स्वेच्छानुसार दण्ड का भय दिखला कर उसके साथ बलपूर्वक समागम करे। यदि वह भी संभव न हो तो, ''मैं तुझे शाप देकर वन्ध्या बना दूँगा'' ऐसा कह कर उसके पास जावे और ''मैं अपनी यशः स्वरूप इन्द्रिय द्वारा तेरे, यश को छीन लेता हूँ'' इस मन्त्र का पाठ करे। उस अभिशाप से वह निश्चित वन्ध्या या दुर्भगा शब्द से कही जाने वाली अयशस्विनी हो ही ज़ाती है ॥ ७ ॥ यदि वह पत्नी उस पति को समागम का अवसर दे तो पति उसे आशीर्वाद देते हुए कहे—मैं अपनी यशः स्वरूप इन्द्रिय से तुझमें यश का आधान करता हूँ। इससे वे दोनों दम्पति यशस्वी यानी संतान वाले होते ही हैं ॥ ८ ॥

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे। स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयीति॥ ९॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति॥ १०॥

अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण तें रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति॥ ११॥

वह पुरुष अपनी जिस पत्नी के संबन्ध में ऐसा चाहे कि यह मेरे प्रति कामना युक्त हो, मुझे मन से चाहने लगे, तो उसकी योनि में अपने जननेन्द्रिय को स्थापित कर उसके मुख से अपना मुख मिला कर उसके उपस्थ भाग का स्पर्श करते हुए इस मन्त्र का जप करे। हे वीर्य! तुम मेरे प्रत्येक अंग से उत्पन्न होते हो विशेष रूप से हृदयस्थ नाड़ी द्वारा तुम प्रकट होते हो, तुम मेरे अंग के सार हो। अतः जैसे विषाक्त बाण से घायल हुई मृगी मूर्छित हो जाती है, ऐसे ही तुम मेरी इस पत्नी को मेरे प्रति पागल बना दो, अर्थात् मेरे अधीन इसे कर डालो॥ ९॥ पुरुष अपनी जिस पत्नी के विषय में चाहे यह गर्भवती न हो, तो उसकी योनि में अपने जननेन्द्रिय को स्थापित करके उसके मुखसे मुख मिलाकर अभिप्राणन कर्म करके अपानन क्रिया उस मन्त्र के द्वारा करे—"इन्द्रिय स्वरूप वीर्य के द्वारा मैं तेरे रेत को ग्रहण करता हूँ।" ऐसा करने पर वह गर्भिणी नहीं होती॥ १०॥ पुरुष अपनी जिस पत्नी के विषय में चाहे कि वह गर्भवती हो, वह उसकी योनि में अपनी जननेन्द्रिय को स्थापित कर उसके मुख से अपना मुख मिला कर पहले अपानन क्रिया करे। तत्पश्चात् अभिप्राणन क्रिया करते समय इस मन्त्र का पाठ करे। "मैं इन्द्रिय रूप वीर्य के द्वारा तेरे रेत का आधान करता हूँ" ऐसा करने से वह गर्भवती निश्चय ही हो जाती है॥ ११॥

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद्द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳ शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूꣳस्त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति 'यमेवंविद्ब्राह्मणः शपति तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य द्वारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति॥ १२॥

जिस गृहस्थ विद्वान् की पत्नी का कोई जार पति हो, उस जार पति से द्वेष भाव रखकर वह उसे दण्ड देना चाहे तो, वह मिट्टी के कच्चे बर्तन में (पंच भूसंस्कार पूर्वक) अग्नि की स्थापना करके विपरीत क्रम से अर्थात् दक्षिणाग्र या पश्चिमाग्र रूप से सरकण्डों का बर्हिष बिछा कर उस पर बाणाकार उनकी सीकों को घी से गीला कर उनके अग्रभाग को विपरीत दिशा में रखते हुए उस स्थापित अग्नि में उनकी चार आहुतियाँ निम्नाङ्कित मन्त्रों से देवे। मन्त्रार्थ यह है कि (अरे दुष्ट यौवनादि से प्रज्वलित मेरी पत्नी रूप अग्नि में तूने वीर्य रूप आहुति डाली है। अतः तुझ पापी के प्राण अपान को मैं समाप्त कर देता हूँ) "मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापाणौ त आददे" इसका उच्चारण कर तथा फट् शब्द को बोल कर पहली आहुति दे और "असौ मम शत्रु" ऐसा कहकर शत्रु का नाम लेवे। इसी प्रकार चारों मन्त्रों में पहले मन्त्र से प्राण और अपान को, दूसरे मन्त्र से पुत्र और पशुओं को, तीसरे मन्त्र से यज्ञ और पुण्य को तथा चौथे मन्त्र से प्रार्थना एवं प्रतिज्ञा पूर्ति की प्रतिज्ञा को नष्ट करने के लिये कहा गया है। इस प्रकार मन्थ कर्म को जानने वाला प्राणदर्शी विद्वान् ब्राह्मण जिसे शाप देता है, वह इन्द्रिय रहित एवं पुण्य कर्म से शून्य होकर इस लोक से चला जाता है। अतः पर स्त्रीगमन के ऐसे भयंकर परिणाम को जानने वाला पुरुष किसी श्रोत्रिय विद्वान् की पत्नी से परिहास की भी इच्छा न करे, फिर समागम की तो बात दूर ही रहे, क्योंकि ऐसे अभिचार को जानने वाला विद्वान् उसका शत्रु बन जाता है॥ १२॥

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत्त्र्यहं कंसेन पिबेदहतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात्त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत्॥ १३॥

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै॥ १४॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै॥ १५॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदोदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै॥ १६॥

अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जानयितवै॥ १७॥

जिस पत्नी को रजोधर्म प्राप्त हो, वह पत्नी तीन दिन तक काँसे के बर्तन में न खावे और चौथे दिन स्नान करके ऐसा वस्त्र पहने जो फटा न हो और स्वच्छ हो। स्नान के बाद और पहले भी उस ऋतुमती स्त्री को शूद्रा या शूद्र स्पर्श न करे। वह रजस्वला स्त्री तीन दिन के बाद जब स्नान करले तब उसे धान कूटने के काम में लगावे॥ १३॥ जो पुरुष चाहता हो मेरा पुत्र शुक्ल वर्ण का उत्पन्न हो, एक वेद का अध्ययन करे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे। तो वे दोनों पति-पत्नी दूध और चावल पकाकर उसमें घी डालकर खीर खावें। इससे वे दोनों वैसे पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं॥ १४॥ जो पुरुष चाहे मेरा पुत्र कपिल या पिङ्गल वर्ण का हो, दो वेदों का अध्ययन करे, पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे। तो वे दोनों पति-पत्नी दधि के साथ भात पकाकर घी डालकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न कर सकते हैं॥ १५॥ जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र श्याम वर्ण लाल नेत्रवाला हो तीन वेदों का अध्ययन करे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे तो वे दोनों पति-पत्नी केवल जल में चावल पकाकर घी मिलाकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न कर सकते हैं॥ १६॥ जो पुरुष चाहे कि मेरी पुत्री (गृह शास्त्र में निपुण हो) विदुषी हो जावे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे। तो वे पति-पत्नी तिल और चावल की खिचड़ी बनाकर घी मिलाकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाली कन्या को उत्पन्न कर सकते हैं॥ १७॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति माꣳसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा॥ १८॥

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां संजायां पत्या सहेति॥ १९॥

अथैनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि सꣳरभावहै सह रेतो दधावहै पुꣳसे पुत्राय वित्तय इति ॥ २०॥

जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र लोक विख्यात, पंडित, विद्वानों की सभा में निर्भीक होकर ज़ाने वाला तथा रमणीय संस्कृत सार्थक वाणी बोलने वाला हो, संपूर्ण वेदों का अध्ययन करे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे। तो वे दोनों पति-पत्नी हलके फल के गूदे से मिश्रित चावल को पकाकर उसमें घी मिला कर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं। उक्षा या ऋषभ नामक औषधि के गूदे के साथ खाने पर नियम किया गया है, न कि साँड या बैल के माँस के साथ॥ १८॥ तत्पश्चात् चौथे दिन नित्य क्रिया से निवृत्त हो प्रातः काल ही कूटने से तैयार हुए चावलों को लेकर स्थाली पाक की विधि से घृत का संस्कार करके स्थाली में से थोड़ा-थोड़ा अन्न लेकर 'अग्नये स्वाहा', अनुमतये स्वाहा, देवाय सवित्रे सत्य प्रसवाय स्वाहा इत्यादि मन्त्रों से तीन प्रधान आहुतियाँ देवे। इस प्रकार आहुति देकर स्थाली पाक से बचे हुए चरु को एक पात्र में निकाल कर उसमें घी मिलाकर पति पहले स्वयं भोजन करे, शेष उच्छिष्ट अन्न अपनी पत्नी को देवे। इसके अनन्तर हाथ-पैर धोकर शुद्ध आचमन करके जलपात्र को भरकर उसी जल से अपनी पत्नी का 'उत्तिष्ठात' इत्यादि मन्त्र से तीन बार अभिषेक करे, पर मन्त्र एक ही बार पढ़े॥ १९॥ इसके बाद पति अपनी कामना के अनुसार पत्नी को खीर आदि भोजन कराने के पश्चात् उसके साथ शयन करे। उस समय 'अमोऽहमस्मि' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर पत्नी का आलिङ्गन करे। मन्त्रार्थ यह है—हे दवि! मैं प्राण हूँ, तू वाक् हो, तू वाक् हो मैं प्राण हूँ। मैं साम हूँ, तू ऋक् हो मैं आकाश हूँ, तू पृथिवी हो। अतः आ, हम दोनों दम्पति परस्पर आलिङ्गन करें। एक साथ रेत धारण करें जिससे कि हम लोगों को पुरुषत्व विशिष्ट पुत्र की प्राप्ति हो॥ २०॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिꣳशतु। आसिंचतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्कर-स्रजौ॥ २१॥

हिरणमयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ। तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे। यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी। वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति॥ २२॥

उसके बाद पत्नी के दोनों जंघों को एक दूसरे से पृथक् करे।उस समय "विजिहीथां द्यावापृथिवी" इत्यादि मन्त्र का पाठ करे। अर्थात् हे जंघारूप आकाश और पृथिवी! तुम दोनों पृथक् हो जाओ। इसके बाद पत्नी की योनि में जननेन्द्रिय स्थापित कर उसके मुख से अपना मुख मिलाकर अनुलोम क्रम से (मस्तक से लेकर पैर तक के) पत्नी के अंगों का तीन बार मार्जन करे। उस समय "विष्णुर्योनिं कल्पयतु" इत्यादि मन्त्र का पाठ करे। अर्थात् हे प्रिय! व्यापक परमात्मा पुत्र की उत्पत्ति के लिये तेरी जननेन्द्रिय को सार्थक बनावें। भगवान् सूर्य तेरे तथा जनने वाले बालक के अङ्गों को विभाग पूर्वक पुष्ट एवं दर्शन के योग्य बनावें। विराट् प्रजापति तुझ में अभिन्न भाव से स्थित हो तुझ में गर्भ का आधान करे एवं धाता तेरे गर्भ का धारण पोषण करे। जिसकी अत्यन्त स्तुति की जाती है वह सिनीवाली (अमावस्या) तू हो। अतः इस गर्भ को धारण कर! सूर्य तथा चन्द्रदेव अपनी रश्मि रूप कमलों की माला पहिर कर अभिन्न भाव से तुझमें स्थित हों, तुझमें गर्भ का आधान करें॥ २१॥ प्राचीन काल में अरणि तेजोमयी थी, जिनसे अश्विनी कुमारों ने मन्थन किया। उसी से प्रकट हुए उस अमृत रूप गर्भ को मैं तुझमें स्थापित करता हूँ। इसे तू दशवें मास में उत्पन्न कर। जैसे पृथिवी का गर्भ अग्नि है, जैसे स्वर्ग-भूमि इन्द्र से गर्भवती है। जैसे वायु दिशाओं का गर्भ है, वैसे ही मैं तुझमें पुत्र रूप गर्भ का आधान करता हूँ। हे अमुकदेवि! (अन्त में पत्नी का नाम उच्चारण करे)॥ २२॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति यथा वायुः पुष्करिणीꣳ समिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा। इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः। तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावराꣳ सहेति॥ २३॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कꣳसे पृषदाज्यꣳ संनीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे। अस्योपसंद्यां मा च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा। मयि प्राणाꣳ स्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा। यत्कर्मणात्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्स्विष्टꣳ सुहुतं करोतु नः स्वाहेति॥ २४॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथ दधिमधुघृतꣳ संनीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति। भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति॥ २५॥

प्रसव काल में सुख पूर्वक प्रसव के लिये प्रसव करने वाली स्त्री के ऊपर "यथा वायुः" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर जल सींचे। मन्त्रार्थ यह है—जैसे वायु तालाब के जल को सभी ओर से चंचल कर देता है, वैसे ही तेरा गर्भ अपने स्थान से चले एवं जेर के सहित बाहर आ जावे। प्रसूति वायु रूप इन्द्र के लिये यह योनि मार्ग बना है, जो गर्भ वेष्टन से युक्त है। हे इन्द्र! उस मार्ग पर पहुँचजा और गर्भ एवं माँस पेशियों के साथ बाहर निकल आ॥ २३॥ पुनर्जन्म होने पर पिता उसे अपनी गोद में लेकर अग्नि की स्थापना कर काँसे के कटोरे में दधि मिला हुआ घी रख कर थोड़ा-थोड़ा अंश लेकरके "अस्मिन् सहस्रम्" इत्यादि मन्त्र द्वारा अग्नि में आहुति डाले। मन्त्रार्थ यह है—मैं अपने इस घर में पुत्र रूप से वृद्धि को प्राप्त हुआ सहस्रों मनुष्यों का भरण-पोषण करने वाला होऊँ। मेरी इस संतति में पूजा और पशुओं के सहित संपत्ति का कभी भी विच्छेद न हो, स्वाहा। मुझमें जो प्राण है उसे मैं तुझ पुत्र में होमता हूँ—स्वाहा। मैंने अनुष्ठेय कर्म के साथ कुछ अधिक या न्यून कार्य किया होगा तो मेरे उस कर्म को जानने वाले अग्नि देव अभीष्ट साधक होकर न्यूनातिरिक्त दोष से रहित कर दे स्वाहा॥ २४॥ "स्विष्टकृत" होम के बाद पिता बालक के दाहिने कान को अपने मुख के पास ले जाकर वाक्-वाक् ऐसे तीन बार कहे (अर्थात् तेरी बुद्धि में वेदत्रयी रूप वाणी पुष्ट हो जावे)। इसके अनन्तर काँसे के कटोरे में दधि, मधु और घृत लेकर दूसरे धातु से न मिलने वाले विशुद्ध सोने की चम्मच से "भूस्ते" इत्यादि मन्त्र पढ़ कर बालक को चटावे। मन्त्रार्थ यह है— मैं तुझमें "भूर्लोक" की स्थापना करता हूँ, "भुवर्लोक" की स्थापना करता हूँ, "स्वर्लोक" की स्थापना करता हूँ, "भूर्भुवः स्वः" उन सभी लोकों की तुझमें स्थापना करता हूँ॥ २५॥

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद्गुह्यमेव नाम भवति ॥ २६ ॥

अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति ॥ २७ ॥

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते इलाऽसि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत्। सा त्वं वीरवती भव यास्मान् वीरवतोऽकरदिति तं वा एतमाहुरतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभूः परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन स एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति ॥ २८ ॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ (४) ॥

अथ वꣳशः। पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रो गौत-

---

इसके बाद शिशु का नाम करण करे। 'तू वेद हो' अतः वेद यह उस बालक का गोपनीय नाम ही होता है ॥ २६ ॥ तत्पश्चात् इस बालक को माता की गोद में दे कर 'यस्ते स्तनः' इत्यादि मन्त्र उच्चारण करते हुए बालक के मुख में स्तन देवे। मन्त्रार्थ यह है—हे सरस्वति! तेरा जो स्तन दुग्ध का अक्षय भण्डार तथा जीवन का आधार है, जो रत्नों की खानि के जैसे है एवं संपूर्ण धन का जानने वाला उदार दाता है और जिससे तुम समस्त वरणीय वस्तुओं का पोषण करती हो। इस शिशु के जीवनार्थ उस स्तन को मेरी पत्नी के शरीर में प्रविष्ट कर दो। बालक के मुख में स्तन देदेवे ॥ २७ ॥ इसके बाद 'इलाऽसि' इत्यादि मन्त्रों से इस बालक की माता को अभिमन्त्रित करे। मन्त्रार्थ यह है—हे देवि! तू ही स्तुति के योग्य अरुन्धति है। हे वीरे! तूने वीर पुत्र को जन्म दिया है। अतः तू वीरवती हो, ऐसे पुत्र से तूने मुझे भी वीरवान् बना दिया। इस पुत्र को देखकर दूसरे लोग कहें, तू तो अपने पिता से भी बढ़ गया। निःसन्देह तू अपने पितामह से भी आगे निकल गया। तू लक्ष्मी, कीर्ति तथा ब्रह्मतेज के द्वारा उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया है। ऐसे विशिष्ट ज्ञान से संपन्न पुत्र जिस ब्राह्मण को होता है, तो वह पिता उस पुत्र की भाँति स्तुति का पात्र हो जाता है ॥ २८ ॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अथ वंशनामपञ्चमं ब्राह्मणम्

समस्त प्रवचन वंश का वर्णन

(अब समस्त प्रवचन वंश की आचार्य वंश परंपरा का वर्णन किया जाता

मीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्र औपस्वस्तीपुत्रादौपस्वस्तीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रः कात्यायनीपुत्रा-त्कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात्कौशिकीपुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्र पदीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥ १ ॥

आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्रा-द्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद्वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्रो वार्कारुणीपुत्रा-द्वार्कारुणीपुत्र आर्तभागीपुत्रादार्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गीपुत्रः सांकृतीपुत्रात्सांकृतीपुत्र आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रा-दालम्बीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डूकायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरीपुत्रा-द्राथीतरीपुत्रो भालुकीपुत्राद्भालुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ वैदभृतीपुत्राद्वैदभृतीपुत्रः कार्शकेयीपुत्रात्कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगी-पुत्रात्प्राचीनयोगीपुत्रः सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रः प्राश्नीपुत्रादासुरिवासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः ॥ २ ॥

हैं) पौतिमाषी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने औपस्वस्ती पुत्र से, औपस्वस्ती पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने कौशिकी पुत्र से, कौशिकी पुत्र ने आलम्बी पुत्र से और वैयाघ्रपदी पुत्र से, वैयाघ्रपदी पुत्र ने, काण्वी पुत्र से तथा कापी पुत्र से, कापी पुत्र ने ॥ १ ॥ आत्रेयी पुत्र से, आत्रेयी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वात्सी पुत्र से, वात्सी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से, वार्कारुणी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से, शौङ्गी पुत्र से, शौङ्गी पुत्र ने सांकृति पुत्र से, सांकृति पुत्र ने आलम्बायनी पुत्र से, आलम्बायनी पुत्र ने आलम्बी पुत्र से, आलम्बी पुत्र ने जायन्ती पुत्र से, जायन्ती पुत्र ने माण्डूकायनी पुत्र से, माण्डूकायनी पुत्र ने माण्डूकी पुत्र से, माण्डूकी पुत्र ने शाण्डिली पुत्र से, शाण्डिली पुत्र ने राथीतरी पुत्र से, राथीतरी पुत्र ने भालुकी पुत्र से, भालुकी पुत्र ने क्रौञ्चिकी के दो पुत्रों से, क्रौञ्चिकी के दोनों पुत्रों ने वैदभृती पुत्र से, वैदभृती पुत्र ने कार्शकेयी पुत्र से, कार्शकेयी पुत्र ने प्राचीन योगी पुत्र से, प्राचीनयोगी पुत्र ने साञ्जीवी पुत्र से, साञ्जीवी पुत्र ने आसुरिवासी प्राश्नी पुत्र से, प्राश्नी पुत्र ने आसुरायण से, आसुरायण ने आसुरि से आसुरि ने ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो वाध्योगाज्जिह्वावान्वाध्योगोऽसिताद्वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादादित्यानीमानि शुक्लानि यजूꣳषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते ॥ ३ ॥

समानमासांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रो माण्डूकायनेर्माण्डूकायनिर्माण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात्कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद्वामकक्षायणः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद्वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद्यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात्कावषेयात्तुरः कावषेयः प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ (५) ॥ इति बृहदारण्यकोपनिषत्संपूर्णा ॥ १० ॥

ॐपूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति ॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

याज्ञवल्क्य से, याज्ञवल्क्य ने उद्दालक से, उद्दालक ने अरुण से, अरुण ने उपवेशि से, उपवेशि ने कुश्रि से, कुश्रि ने वाजश्रवा से, वाजश्रवा ने जिह्वावान् वाध्योग से, जिह्वावान् वाध्ययोग ने असित वार्षगण से, असित वार्षगण ने हरित कश्यप से, हरित कश्यप ने शिल्प कश्यप से, शिल्प कश्यप ने कश्यप नैध्रुवि से, कश्यप नैध्रुवि ने वाक् से, वाक् ने अम्भिनी से, अम्भिनी ने आदित्य से। अतएव आदित्य से प्राप्त हुई ये शुक्ल यजुः श्रुतियाँ वाजसनेयी याज्ञवल्क्य द्वारा प्रसिद्ध की गयी हैं ॥ ३ ॥ साञ्जीवी पुत्र पर्यन्त यह एक ही वंश है। साञ्जीवी पुत्र ने माण्डूकायनी से, माण्डूकायनी ने माण्डव्य से, माण्डव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्थि से, माहित्थि ने वामकक्षायण से, वामकक्षायण ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने वात्स्य से, वात्स्य ने कुश्रि से, कुश्रि ने यज्ञवचा राजस्तम्बायन से, यज्ञवचा राजस्तम्बायन ने तुर कावषेय से, तुर कावषेय ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्मा से यह विद्या प्राप्त की है। ब्रह्मा स्वयंभु है, उस स्वयंभु ब्रह्मा को अनेकों बार नमस्कार है ॥ ४ ॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषत्समाप्ता ॥

ॐ

श्वेताश्वतरोपनिषद

ॐसह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ॥ तेजस्वि-नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति। किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १ ॥

कालःस्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्। संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

ॐ सह नाववतु इति शान्तिपाठ, का अर्थ पहिले दिया गया है।

जगत् कारण का विचार

ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं, कि जगत् का कारण ब्रह्म क्या है। हम सब किससे उत्पन्न हुए हैं। किससे हम जीवित हैं और अन्त में किसमें हम सब प्रतिष्ठित होते हैं। हे ब्रह्मवेत्ताओ! किससे प्रेरित हुए हम सब सुख और दुःख में नियम से अनुवर्तन करते हैं। अर्थात् हमारे सुख-दुःख की व्यवस्था करने वाला कौन है ॥ १ ॥

कालादि में जगत् कारणता का निषेध

काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, प्रकृति और पुरुष ये कारण हो सकते हैं या नहीं। इसका भी विचार करना चाहिये। इनका संघात भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि यह संघात अपने शेषी आत्मा के अधीन होता है। वैसे ही जीवात्मा भी जगत्-रचना में स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि यह भी सुख-दुःख के हेतु शुभाशुभ कर्मों के वशीभूत है (अतः यह भी जगत् का कारण नहीं हो सकता)।

१—सम्पूर्ण पदार्थों के रूपान्तर प्राप्ति में कारण होने से कालवादी ने काल को ही जगत् का कारण माना था।

२—किन्तु अग्न्यादि के उष्णतादि स्वभाव के ऊपर काल का प्रभाव पड़ते

नहीं देखा गया। फिर भला काल सम्पूर्ण जगत् का कारण कैसे हो सकता है? इसलिये स्वभाव वादी ने स्वभाव को ही जगत् का कारण माना है।

३—किसी भी वस्तु का स्वभाव नियति, यानी प्रारब्ध के अधीन हुआ करता है। अतः प्रारब्ध को ही जगत् का कारण नियति वादी ने माना।

४—सदा शुभ कर्म में लगे हुए राजा नृग और प्रतापभानु की परिणाम में दुःस्थिति देखकर मानना पड़ेगा, कि नियति से भिन्न यदृच्छा (अचानकपन) ही उक्त दुर्घटना का कारण है। फिर जो संपूर्ण विश्व का रचयिता नियति को कैसे मान सकते हैं। इसलिये यदृच्छा ही विश्व का स्रष्टा है।

५—मानव अपनी अल्पज्ञता के कारण वास्तविकता को न पहचानकर यदृच्छा की कल्पना करता है, क्योंकि उस स्थल में भी किसी-न-किसी निर्धारित कारणों में न्यूनता आने पर ही ऐसी घटना हुआ करती है। मनुष्य अपने संतुलित व्यवहार से संपूर्ण विश्व पर विजय प्राप्त कर सकता है। अतः चार्वाकों ने भूत को ही जगत् कारण माना है।

6—प्रकृति कारण वादी सांख्यों ने कहा कि जब तीनों गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति से महत्तत्त्व, महतत्त्व से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्राएँ और एकादश इन्द्रियाँ तथा पंचतन्मात्राओं से पंचभूत उत्पन्न होते हैं, फिर तो कारण से पंचमकोटि की वस्तु भूतों को जगत् का कारण न मानना चाहिये।

७—चेतन पुरुष के बिना जड़ प्रकृति में स्वतन्त्र व्यापार करने का सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि लोक में ऐसे ही देखा गया है। अतएव जिसकी सत्ता से प्रकृति में व्यापार होता है, उस जीवात्मा पुरुष को ही जगत् का कारण मीमांसकों ने माना है।

८—पुरुष भी कालादि पूर्वोक्त सामग्री के बिना कुछ कर नहीं सकता। अतः इनके संघात को ही जगत् का कारण मानना चाहिये।

९—पर संघात परार्थ हुआ करता है, अर्थात् संघात शेष है और आत्मा शेषी है। शेष, शेषी के अधीन होता है, स्वतन्त्र नहीं। इसलिये शेषी जीवात्मा को ही जगत् का कारण मानना उचित है। किन्तु विचार दृष्टि से देखने पर सुख-दुःख के हेतु शुभाशुभ कर्म के वशीभूत होने से जीवात्मा विश्व को रचने में स्वतन्त्र नहीं है। यदि वह स्वतन्त्र होता तो दुःख और दुःख के कारण को नहीं बनाता॥ २॥

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥ ३॥

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः। अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥ ४॥

ध्यानयोग से कारण भूत ब्रह्मशक्ति का दर्शन

उन श्वेताश्वतर आदि ऋषियों ने चित्त की एकाग्रता रूप ध्यानयोग का अनुगमन कर सत्त्व, रज और तम एवं उनके कार्य कालादि रूप अपने गुणों से ढके हुये परमात्मा की शक्ति का दर्शन किया; जो परमात्मा अकेला ही काल से लेकर आत्मा पर्यन्त समस्त कारणों का एकमात्र आधार है। (जगत् कारण के दर्शन में ऋषियों को औपनिषद ध्यानयोग का आश्रय लेना पड़ा था, क्योंकि चित्त की अनेकाग्रता से उत्पन्न कालादि जगत् रूप कार्य के द्वारा कारण आच्छादित्त था। जिस कारण का दर्शन एकमात्र ध्यानयोग से ही संभव था)॥ ३॥

कारण ब्रह्म का चक्र रूप से वर्णन

उस एक पुट्ठी वाले, तीन पट्टियों से मढ़े, सोलह छोर वाले, पचास अरों वाले, बीस बीच की छोटी-छोटी अरों से जड़े हुए, छः अष्टकों से युक्त, विश्वरूप एक पाशवाले, तीन मार्गों से भिन्न रूप में दीखने वाले, पापपुण्य दोनों के निमित्तरूप और एक मोह वाले कारण को ऋषियों ने देखा। (इस जगत् रूप चक्र में लोहे की पुट्ठी जैसी अत्यन्त सुदृढ़ परमात्मा ही पुट्ठी है। तीनों गुण रूप लोहे की पट्टी से संसार चक्र मढ़ा हुआ है। इस चक्र के पाँच भूत और एकादश इन्द्रियाँ ये सोलह छोर के रूप में हैं, या प्रश्नोपनिषद् में बतलाये गये प्राण से लेकर नाम पर्यन्त नाभि से नेमि पर्यन्त सोलह कलाएँ जिसके छोर हैं। जैसे रथ चक्र में नाभि से नेमि पर्यन्त बीच में पंखड़ी की तरह अरे लगे होते हैं; वैसे ही इस चक्र में भी पचास अरे लगे हैं। पाँच विपर्यय अट्ठाईस अशक्ति, नौ प्रकार की तुष्टि और आठ प्रकार की सिद्धि ये सब मिलकर पचास होते हैं। तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिश्र, ये पाँच विपर्यय के भेद हैं)।

१—तम-सांख्य सम्मत आठ प्रकृतियों में आत्म भाव होना।

२—मोह-अणिमादिक आठ शक्तियाँ ही मोह हैं।

३—महामोह-पाँच लौकिक और पाँच पारलौकिक विषयों में सत्यत्व बुद्धि ही महामोह है।

४—तामिस्र-ऐश्वर्य द्वारा आठ और दश दृष्टानुश्रविक विषयों की प्रयत्न करने पर भी अप्राप्ति के कारण क्रोध होना ही तामिस्र है।

५—अन्धतामिस्र-उक्त अठारह प्रकार के विषयों को पूरा न भोग कर बीच में ही मृत्यु से होने वाले शोक को अन्धतामिस्र कहते हैं।

मूकत्व, बधिरत्वादि ग्यारह बाह्य अशक्तियाँ इन्द्रियों की हैं। पुरुषार्थ की योग्यता रूप तुष्टियों से विपरीत नौ अन्तःकरण की अशक्तियाँ हैं और अष्ट सिद्धियों के विपरीत अशक्तियाँ भी आठ प्रकार की हैं। १-प्रकृति, २-उपादान, ३-काल, ४-तथा भाग्य नाम वाली चार दृष्टि एवं विषयों से उपरति हो जाने के कारण अन्य भी पाँच तुष्टियाँ हैं।

१—प्रकृति के ज्ञानमात्र से अपने को कृतार्थ मानना।

२—संन्यास का चिह्न धारणमात्र से कृतार्थ मान लेना।

३—प्रकृति के ज्ञान हो जाने से बहुत काल बीतने पर स्वयं ही मुक्ति हो जायगी, संन्यास आश्रमादि ग्रहण की आवश्यकता नहीं मानना।

४—भाग्य से मुक्ति हो जायगी, ऐसा मानकर संतुष्ट रहना।

५—विषयों का संग्रह करना असंभव मानकर उससे उपरत हो जाना।

६—विषयों का उपार्जन संभव होने पर भी उनकी रक्षा करना असंभव है, ऐसा मानकर उपरत हो संतुष्ट हो जाना।

७—विषयों में न्यूनाधिकतादि दोष के कारण उनसे उपरत हो संतुष्ट हो जाना।

८—विषय भोग से कभी तृप्ति हो नहीं सकती ऐसा समझकर विषयासक्ति में दोष देखकर उनसे उपरत हो संतुष्ट हो जाना।

९—विषयों के संग्रह में जीवहिंसा अनिवार्य है, जो नरकादि दुःख का कारण है। इस प्रकार हिंसा रूप दोष को देखकर उनसे उपरत हो संतोष कर लेना।

इस प्रकार विषयों के उपार्जन, रक्षण, न्यूनाधिक्य, संग और हिंसा इन पाँच उपरति के साथ पूर्वोक्त चार कालादि सभी नौ तुष्टियों की व्याख्या कर दी। ऊह, शब्द और अध्ययन नाम की तीन सिद्धियाँ। दुःख, विघात नाम की तीन और सुहृत् प्राप्ति एवं दान नाम की दो सिद्धियाँ हैं।

१—उपदेश के बिना ही जन्मान्तरीय संस्कार से प्रकृति आदि के विषय में ज्ञान हो जाना।

२—शब्द अभ्यास के बिना ही श्रवणमात्र से ज्ञान की उत्पत्ति मानना।

३—अध्ययन शास्त्राभ्यास से ही ज्ञान की उत्पत्ति मानना।

४-६ आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखों की उपेक्षा करने से तितिक्षु पुरुष को स्वयं ही ज्ञान हो जाता है। ये आध्यात्मिकादि दुःखों के भेद से तीन प्रकार की सिद्धि है।

७—सुहृत् के प्राप्त होने पर ज्ञान की प्राप्ति मानना, सुहृद् प्राप्ति नाम की सिद्धि है।

८—आचार्यों को प्रिय वस्तु भेंट करने से ज्ञान की प्राप्ति मानना, दान नाम की सिद्धि है। इस प्रकार आठ सिद्धियों की व्याख्या हो गयी।

दश इन्द्रियाँ और उसके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, ग्रहण, गति, त्याग और आनन्द से पूर्वोक्त अरों की दृढ़ता के लिये उनमें लगाई गई बीस शलाकाएँ हैं। अतः उन्हें प्रत्यर भी कहते हैं। इस चक्र में छः अष्टक हैं।

१—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ भेद वाले प्रकृति रूप अष्टक हैं।

२—त्वचा, चर्म, माँस, रुधिर, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये आठ धातु रूप अष्टक हैं।

३—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व, ये ऐश्वर्य नामक अष्टक हैं।

४—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, और अनेश्वर्य, ये आठ भाव रूप अष्टक हैं।

५—ब्रह्मा, प्रजापति, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण और पिशाच, ये देव अष्टक हैं।

६—सभी प्राणियों के प्रति दया, क्षमा अनसूया, शौच, अनायास, मंगल, अकृपणता और अस्पृहा ये गुणरूप अष्टक हैं। इस प्रकार छः अष्टकों का वर्णन किया गया है। स्वर्गादि विषय भेद से काम नामक एक ही पाश अनेक प्रकार से प्रतीत होता है। धर्म, अधर्म और ज्ञान रूप तीन मार्ग जिस संसार चक्र के हों। पाप-पुण्य इन दोनों का निमित्त अनात्मा में आत्माभिमान रूप मोह एक ही है, ऐसे संसार चक्र को ऋषियों ने देखा॥ ४॥

पञ्चस्त्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्। पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५ ॥

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहंते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥

नदी रूप से कार्य ब्रह्म का निरूपण

जिसके पाँच स्त्रोतों में जल धाराएँ हों, जिसके पाँच उद्गम स्थान हों। इसीलिये जो अत्यन्त उग्र और वक्र है। जिसमें पंच प्राण रूप तरंगें हैं, पाँच प्रकार के ज्ञानों का मूल ही जिसका कारण है, जिसमें पाँच भँवर हैं, जो पाँच प्रकार के दुःख समुदाय रूप वेग वाले हैं और जो पाँच जोड़ों वाले हैं। इस पचास भेदों वाली नदी को हम जानते हैं (इस संसार नदी में चक्षुरादि पाँच इन्द्रियों द्वारा ज्ञान रूप जल की धाराएँ चलती हैं। इस संसार के पाँच भूत कारण हैं। इसीलिये यह उग्र और टेढ़ी भी है। पंच प्राण या वागादि पंच कर्मेन्द्रियाँ इस नदी में लहरें हैं। पंच इन्द्रियों से होने वाले पाँच प्रकार के ज्ञान का मूलाधार मन ही इसका मूल है। इसीलिये इसको मन का विलास ही माना गया है। शब्दादि पाँच विषय इस नदी के भँवर हैं, क्योंकि इसी में अज्ञानी जीव डूब मरता है। इसमें गर्भ, जन्म, जरा, व्याधि और मरण—दुःख, ये पाँच संसार नदी के जल प्रवाह हैं और अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश रूप जोड़ इस नदी में हैं। वैसे ही पूर्व श्लोक में बतलाये गये पचास प्रत्यय भेद ही इस संसार नदी के तोड़ हैं, क्योंकि इन्हीं प्रत्यय भेद के कारण लौकिक नदी के समान यह संसार नदी भी पचास जगह से टूटी हुई दिखाई पड़ती है) ॥ ५ ॥

जीव के संसार बन्धन और मोक्ष प्राप्ति

जीव अपने को और सर्व-नियन्ता परमात्मा को पृथक्-पृथक् मानकर इस संपूर्ण भूतों के जीवनाधार तथा सबके प्रलय स्थान महान् ब्रह्मचक्र में भ्रमता रहता है और जब उस सच्चिदानन्द परमात्मा का अभिन्न रूप से सेवन करता है तो वह अमरत्व को प्राप्त करता है। (आत्मा तथा ब्रह्म को अभिन्न रूप से अनुभव करने वाला मुक्त हो जाता है और भेद दृष्टि वाला पुरुष अनेक योनियों में भटकता रहता है, यह इसका तात्पर्य है) ॥ ६ ॥

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च। अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥ ७॥

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः। अनीशश्चात्मा वध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ ८॥

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विंदते ब्रह्ममेतत्॥ ९॥

ब्रह्म की प्राप्ति ही मोक्ष है

प्रपंच के संपूर्ण धर्मों से रहित ब्रह्म कहा गया है। यह ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ है। उसी में भोक्ता, भोग्य और नियामक तीनों स्थित हैं। इसीलिये वह इन तीनों की प्रतिष्ठा अर्थात् उत्तम आश्रय माना गया है, क्योंकि यह अविनाशी है। उसमें प्रवेश का द्वार पाकर ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्म में लीन हो समाधि में तत्पर हुए जन्म मरणादि संसार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। (संपूर्ण बाह्याभ्यन्तर करणों को स्वाधीन कर अमरत्व प्राप्ति की इच्छा से वेदान्त का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करके निर्विशेष ब्रह्म का आत्म भावेन साक्षात् करने वाला पुरुष जीते जी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है)॥ ७॥

जीव ईश्वर का औपाधिक भेद तथा औपनिषद ज्ञान से मोक्ष

क्षर और अक्षर तथा व्यक्त और अव्यक्त रूप परस्पर जुड़े हुए इस विश्व का अपने सत्ता स्फूर्ति द्वारा भरण-पोषण परमात्मा ही करता है, जीवात्मा भोक्तृ भाव के कारण माया के परवश हुआ संसार में बंध जाता है। पर जब वह परब्रह्म को आत्मरूप से जान लेता है, तब संपूर्ण बंधनों से छूट जाता है॥ ८॥

जीव, ईश्वर तथा प्रकृति की विलक्षणता और उनके यथार्थ बोध से मोक्ष

परमात्मा सर्वज्ञ, सर्व-समर्थ तथा स्वतन्त्र है। जीव अल्पज्ञ, असमर्थ तथा परतन्त्र है, ये दोनों ही अजन्मा हैं। भोक्ता जीव के लिये एकमात्र माया ही भोग्य संपादन में जुड़ी हुई है और विश्वात्मा तो अनन्त सर्व रूप एवं अकर्ता है। जब उक्त तीनों को ब्रह्मरूप से साधक जान लेता है तब वह मुक्त हो जाता है॥ ९॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥ १०॥

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥ ११॥

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥ १२॥

प्रधान और परमेश्वर की विलक्षणता एवं उनके तत्त्वज्ञान से कृतकृत्यता

प्रधान नाशवान् है और परमेश्वर अविनाशी है, वही "हर" नाम वाला सच्चिदानन्द, अद्वितीय परमात्म देव, प्रधान और जीव का नियमन करता है। उसी परमात्मा के चिन्तन से उसमें मनोयोग से एवं उसके तत्त्वज्ञान से प्रारब्ध समाप्त होने पर विश्वरूप संपूर्ण प्रपंच की निवृत्ति हो जाती है॥ १०॥

आत्मज्ञान और आत्मा के ध्यान जन्य फलों में भेद

परमात्मा को जानकर अविद्यादि सम्पूर्ण पाशों का नाश हो जाता है और क्लेशों के नाश होने पर जन्म-मरण की भी निवृत्ति हो जाती है। किन्तु उस परमात्मा के ध्यान से शरीर छूटने के बाद सर्व ऐश्वर्यमयी कारण ब्रह्मस्वरूपा तृतीय अवस्था की प्राप्ति होती है। फिर तो आप्तकाम पुरुष कैवल्य पद को प्राप्त हो जाता है॥ ११॥

ब्रह्म ही जानने योग्य है

अपने अन्तःकरण में आत्मरूप से विद्यमान यह ब्रह्म सर्वदा ही जानने योग्य है। इससे श्रेष्ठ और कोई जानने योग्य वस्तु नहीं है। जीव जगत् और उसके नियामक को जानकर पहले कहे गये सभी तीन प्रकार के पदार्थ यह ब्रह्म ही तो है, ऐसा जानना चाहिये (जीव, जगत् और उसके नियामक परमेश्वर के अन्तर्गत ही कालादि सभी पदार्थ आ जाते हैं। इसीलिये उनकी गिनती पृथक् से नहीं की) ॥ १२॥

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः। स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥ १३॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥ १४॥

तिलेषु तैलं ददनीव सर्पिराप: स्त्रोत: स्वरणीषु चाग्नि:। एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥ १५॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्। आत्मविद्यातपोमूलं तद्-ब्रह्मोपनिषत्परं तद्ब्रह्मोपनिषत्परमिति॥ १६॥ इति प्रथमः प्रपाठकः॥ (१)॥

प्रणव चिन्तन से ब्रह्मदर्शन में दृष्टान्त

जैसे अपने आश्रय काष्ठ में अव्यक्त भाव से स्थित अग्नि का स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता और न उसके सूक्ष्म स्वरूप का नाश ही होता है, क्योंकि ईंधन रूप कारण के द्वारा पुनः उस अग्नि का ग्रहण किया जाता है। वैसे ही अग्नि और अग्नि के सूक्ष्म स्वरूप के समान ही इस अधिकारी देह में प्रणव के चिन्तन से आत्मा का परोक्षज्ञान और अपरोक्ष रूप से ग्रहण दोनों ही किया जा सकता है। (काष्ठ मन्थन से पहले भी अग्नि काष्ठ में विद्यमान है। फिर भी वह दीखती नहीं, वैसे ही शरीर में विद्यमान भी आत्मा प्रणव चिन्तन के बिना अनुभव में नहीं आता। अत: काष्ठ मन्थन के समान प्रणव के द्वारा निरंतर आत्मचिन्तन से विशुद्ध आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है)॥ १३॥ अपने देह को नीचे का काष्ठ और ॐकार को ऊपर का काष्ठ बनाकर निरंतर ध्यानरूप मंथन के अभ्यास से अधिकारी पुरुष परमपिता परमात्मा को छिपे हुए अग्नि के समान देखे॥ १४॥ जैसे तिलों में तेल, दही में घी, नदियों में पानी और काष्ठों में अग्नि, स्वल्प प्रयास से प्रकट किये जाते हैं, वैसे ही जो मनुष्य सत्य और तप से इसे देखने का बारम्बार प्रयत्न करता है; उस अधिकारी को यह निर्विशेष आत्मा, आत्मा में ही दिखाई देता है (सबके हितकर प्रियभाषण को सत्य कहते हैं और मन एवं इन्द्रियों की एकाग्रता को तप कहते हैं। इन्हीं साधनों द्वारा अपने देह में निर्विशेष आत्मा का अपरोक्ष दर्शन होता है।)॥ १५॥ आत्मविद्या, और तप ही जिस आत्म-दर्शन में कारण है तथा जिसमें परमश्रेय उपनिषदों का सार आश्रित है, उस सर्व व्यापक आत्मा को दूध में व्यापक घृत के समान साधक देखता है, अर्थात् परमानन्द परम पुरुषार्थ निर्विशेष ब्रह्म का दर्शन आत्म विद्या और तप से हुआ करता है॥ १६॥

॥ इति प्रथमोऽध्याय:॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः। अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥ १॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या॥ २॥

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्। बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ ३॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुना विदेक इन्मही देवस्य सवितः परिष्टुतिः॥ ४॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूँरेः। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥ ५॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

ब्रह्म दर्शन के लिए आवश्यक साधनों का वर्णन

सवितादेव हमारे मन और मुख्य प्राण को परमात्मा में जोड़ते हुए नेत्रादि इन्द्रियों के अभिमानी अग्न्यादि देव के विषय प्रकाशन सामर्थ्य रूप ज्योति का अवलोकन कर इन्हें पार्थिव भौतिकादि विषयों से ऊपर शरीरस्थ इन्द्रियों में तत्त्वज्ञान के लिये स्थिर करें, अर्थात् इन्द्रियाभिमानी देव बाह्य विषय दर्शन में अपनी शक्ति को न लगाकर आत्मदर्शन के लिये अपनी-अपनी इन्द्रियों में ही अपनी शक्ति का आधान करें॥ १॥ योग युक्त मन से दिव्य शक्ति संपन्न स्वयं प्रकाश परमात्मा की प्रेरणा द्वारा परमात्म प्राप्ति के लिये उसके साधन में हम यथा शक्ति प्रयत्न करेंगे (क्योंकि यथोचित साधन सम्पत्ति के बिना प्राप्त वस्तु की भी उपलब्धि नहीं होती। इसके लिये परमात्मा हमें अनुज्ञा प्रदान करें)॥ २॥ मन से पूर्णानन्द स्वरूप आत्मा में समाहित होने के लिये मन के सहित इन्द्रियों को परमात्मा में संयुक्त करे, क्योंकि परमात्मा स्वयं ज्योति-स्वरूप और बुद्धि वृत्तियों से परे अत्यन्त दिव्य है। अतः वह उन इन्द्रियों में सामर्थ्य प्रदान करे॥ ३॥ जो ब्राह्मण अपने मन और इन्द्रियों को विशेष रूप से व्याप्त महान् चेतन परमात्मा में एकाग्र करते हैं, अथवा बुद्धि वृत्ति को समाहित करते हैं। उन्हें चाहिये कि जो एक प्रज्ञावान्, कर्म के रहस्य को जानने वाले एवं होता हैं। उसी सविता देव की विशेष रूप से महती स्तुति करें॥ ४॥ (हे इन्द्रिय वर्ग और उनके अधिष्ठातृ देवगण!) मैं तुमसे प्रकाशित होने वाले पुरातन ब्रह्म में चित्त समाहित रूप अनेक नमस्कारों के द्वारा मन को लगाता हूँ! सन्मार्ग में लगे हुए विद्वानों की भाँति मेरा यह स्तोत्र पाठ विस्तार को प्राप्त हो जावे। अर्थात् विद्वानों की भाँति मेरा यह स्तुति पाठ भी सर्वत्र प्रसिद्ध हो जावे। मेरे इस स्तुति पाठ को ब्रह्म के संपूर्ण प्रसिद्ध पुत्र सुनें, जिन्होंने दिव्यधाम पर अपना पूर्ण अधिकार कर रक्खा है॥ ५॥

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते। सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः॥ ६॥

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्। तत्र योनिं कृण्वसे न हि ते पूर्वमक्षिपत्॥ ७॥

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निरुध्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥ ८॥

प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत। दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥ ९॥

परमेश्वर की अनुज्ञा के बिना क्षति

जहाँ (अग्न्याधानादि कर्म में) अग्नि मथा जाता है, जहाँ (वायु की स्तुति आदि सविता से प्रेरित हुआ) वायु शब्द को अभिव्यक्त करता है और जहाँ सोमरस की अधिकता होती है, उन कर्मों में मनोवृत्ति ठहर जाती है। अर्थात् सविता की आज्ञा के बिना उक्त सकाम कर्म में ही मन का ठहराव होता है। (इसीलिये उपासक योग के प्रारंभ में सविता की अनुज्ञा माँगता है)॥ ६॥

परमेश्वर की अनुज्ञा से लाभ

विश्व स्त्रष्टा परमात्मा से अनुज्ञात होकर अनादि अनन्त ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। उसी ब्रह्म में तुम योनि (समाधि) करो। इस प्रकार करने से पूर्त्तादि सकाम कर्म तुम्हें नहीं बाँधेंगे, (क्योंकि निष्काम भाव से किया गया विहित कर्म अन्तःकरण शुद्धि द्वारा मोक्ष का हेतु माना जाता है। विशुद्ध अन्तःकरण में ब्रह्म जिज्ञासा होती है, तत्पश्चात् वेदान्त विचार से उत्पन्न ब्रह्मात्मैक्य बोध संपूर्ण कर्मों को भस्म कर देता है)॥ ७॥

ध्यान योग का महत्त्व

(छाती, ग्रीवा और शिर इन) तीनों को ऊँचे और शरीर को सीधा रखकर मन से ही इन्द्रियों को हृदय कमल में नियंत्रित कर ॐकार रूप नौका के द्वारा विद्वान् संपूर्ण भयानक जल प्रवाह रूप संसार को पार कर जाता है॥ ८॥

प्राणायाम की विधि और महत्ता

युक्ताहार विहार वाले योगाभ्यासी को चाहिये कि जब प्राण शक्ति क्षीण हो जावे, तब प्राणों का निरोध कर धीरे-धीरे नासिका छिद्र से बाहर निकाले, फिर वह योगी दुष्ट घोड़ों से युक्त रथ के सारथी की भाँति प्रमाद रहित हो मन को नियन्त्रण में करे॥ ९॥

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥ १०॥

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥ ११॥

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥ १२॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च। गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥ १३॥

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधातम्। तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥ १४॥

ध्यान के योग्य स्थानादि

जो देश अधिक ऊँचाई या नीचाई से रहित, समतल, शुद्ध, पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ों से रहित, अग्नि और रेत से रहित हो और जहाँ कलह आदि के शब्द, पनघट और जन सामान्य का निवास न हो। जो मन के अनुकूल और नेत्र को पीड़ा पहुँचाने वाला न हो, ऐसे गुफा आदि वायु के झोकों से रहित, एकान्त स्थान में योगाभ्यास करे॥ १०॥

योग सिद्धि के पूर्व चिह्न

योगाभ्यास से पहले पहल कुहरे, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनु, तेजोमय बिजली, स्फटिकमणि और चन्द्रमा इनका दर्शन ब्रह्म की अभिव्यक्ति कराने वाला होता है, अर्थात् दर्शन से परमयोग सिद्धि की आशा दृढ़ हो जाती है॥ ११॥

रोगादि पर विजय प्राप्त करने का पूर्व लक्षण

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश की अभिव्यक्ति होने पर पंचभूतात्मक योग गुणों का अनुभव हो जाने पर जिस योगी को योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो जाता है उसे न रोग सताता है, न वृद्धावस्था और न असमय मृत्यु ही होती है॥ १२॥ योगी के शरीर में हलकापन, नीरोगता, विषय लोलुपता का अभाव, शारीरिक कान्ति की वृद्धि, स्वरों में माधुर्य, सुगन्ध और मलमूत्र की न्यूनता, इन सबको योग की पहली सिद्धि कहते हैं॥ १३॥

योग सिद्ध का प्रभाव

जैसे मिट्टी आदि से मलिन हुए बिम्ब (सुवर्णादि धातु) अग्नि से शोधन किये जाने पर तेजोमय हो चमकने लगते हैं, वैसे ही देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर अद्वितीय, कृतार्थ तथा शोक रहित हो जाता है॥ १४॥

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १५॥

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ १६॥ यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश। य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥ १७॥ इति द्वितीयः प्रपाठकः॥ (२)॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः। य एवैक उद्भवे संभवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १॥

पूर्वोक्त तत्वज्ञानी की स्थिति

जब योगाभ्यासी साधक दीप के समान प्रकाश स्वरूप अपने आत्मरूप से ब्रह्मरूप का अपरोक्ष अनुभव कर लेता है, तब जन्म रहित, निश्चेल, समस्त तत्त्वों से पवित्र, परमात्मदेव को जानकर वह संपूर्ण अविद्यादि बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १५॥

परमात्म स्वरूप का निरूपण

यही परमात्मदेव पूर्वादि संपूर्ण दिशा तथा ईशानादि उपदिशाओं के रूप में है। यही (हिरण्यगर्भ रूप से) सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ था, यही आज भी गर्भ के भीतर विद्यमान है। शिशुरूप से यही उत्पन्न हुआ है और आगे उत्पन्न होने वाला भी यही है। यही सम्पूर्ण जीवों में अन्तरात्म रूप से स्थित है और सम्पूर्ण प्राणियों के मुख इसके मुख होने के कारण यह सर्वतोमुख है॥ १६॥ जो देव अग्नि में है, जो जल में है और जिसने संपूर्ण भुवन को व्याप्त कर रक्खा है, एवं जो धान्यादि ओषधियों में तथा पीपलादि वनस्पतियों में भी विद्यमान है, उस विश्वात्मा, परमात्मदेव को नमस्कार है, नमस्कार है॥ १७॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

परमात्मा ही शासक और शास्य है

जो एक, मायापति परमात्मा अपनी ईश्वरीय शक्ति से संपूर्ण लोकों पर शासन करता है। जो अकेला ही उत्पत्ति और प्रलय के समय अपने ऐश्वर्य योग से सबको अपने अधीन किये हुए है। उसे जो कोई जानते हैं वे अमर हो जाते हैं (परमेश्वर की माया जाल जैसी है, उसी जाल में परमात्मा विमुख पुरुष को परमात्मा की माया फँसाए रहती है। किन्तु जो उस मायावी को आत्मभाव से प्रत्यक्ष कर लेता है वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है)॥ १॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः। प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति संचुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥ २॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ ३॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः। हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ ४॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी। तया नस्तनुवा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥ ५॥

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिꣳसीः पुरुषं जगत्॥ ६॥

क्योंकि रुद्र एक ही है। अतः ब्रह्मवेत्ता पुरुष स्वतः किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते। वही रुद्र अपनी शक्तियों से (ब्रह्मादि के रूप में) इन लोकों का शासन करता है। वह संपूर्ण प्राणियों के भीतर विद्यमान है और समस्त भुवनों को बनाकर पुनः प्रलयकाल में समेट भी लेता है॥ २॥

जगत् स्त्रष्टा परमेश्वर

वह सब ओर आँखवाला, सब ओर मुँहवाला, सब ओर पाँववाला और सब ओर हाथवाला है। वह अद्वितीय परमात्मदेव द्युलोक और पृथिवी की रचना करता हुआ मनुष्यों को दो हाथों से और पक्षियों को पंखों से युक्त करता है॥ ३॥

परमेश्वर की स्तुति

जो परमात्मा इन्द्रादि देवताओं की उत्पत्ति का तथा विभूति का कारण, संपूर्ण विश्व का अधिपति और सर्वज्ञ है, एवं जिसने पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया वह परमात्मा हमें अच्छी बुद्धि से संयुक्त करे, (जिससे कि हम परमपद को प्राप्त कर सकें)॥ ४॥ हे रुद्र! तुम्हारी जो कल्याणमयी शान्त और स्मृतिमात्र से पाप को नष्ट कर पुण्य को प्रकाशने वाली मूर्ति है। हे गिरि में रहकर सुख का विस्तार करने वाले प्रभो! उसी सुखमयी मूर्ति से हमें देखो, जिससे कि हम कल्याण पथ में दृढ़ता से लग सकें॥ ५॥ हे गिरिशन्त! तुम जीवों की ओर फेंकने के लिये जो हाथ में बाण लिये रहते हो। हे पर्वत के रक्षक! उसे मंगलमय करो। संसार के किसी पुरुष की हिंसा न करो॥ ६॥

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति॥ ७॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ ८॥

यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥ ९॥

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥ १०॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः। सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः॥ ११॥

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः। सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥ १२॥

परमात्म दर्शन अमरत्व का साधन है

उस जगत् रूप—विराट् पुरुष से परे, जो हिरण्यगर्भ से भी उत्कृष्ट एवं व्यापक है। शरीर की भाँति होकर वह संपूर्ण प्राणियों में छिपा हुआ है, वही विश्व का एकमात्र उपसंहार करने वाला है। उस परमेश्वर को जानकर मुमुक्षु जन अमर हो जाते हैं॥ ७॥ अज्ञानांधकार से परे प्रकाश स्वरूप उस महान् आत्मपुरुष को मैं जानता हूँ, उसी को जानकर मृत्यु को पार कर सकता है। इसके अतिरिक्त मोक्ष के लिये अन्य मार्ग नहीं है॥ ८॥ जिससे बढ़कर अन्य कोई तत्त्व नहीं और उससे छोटा या बड़ा कोई नहीं है। वह अद्वितीय परमात्मा अपने दिव्य महिमा में वृक्ष के समान निश्चल भाव से स्थित है। उसी पुरुष से यह संपूर्ण जगत् व्याप्त है॥ ९॥ जो उस कारण ब्रह्म से भी श्रेष्ठतर है, क्योंकि वह कार्य-कारण भाव से शून्य है। अतएव वह रूप और आध्यात्मिकादि त्रिविध तापों से रहित है। इस प्रकार इसे जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं और उनसे भिन्न पुरुष तो दुःख में ही पड़े रहते हैं;॥ १०॥ उस परमात्मा के सभी ओर मुख, मस्तक और ग्रीवा हैं क्योंकि वे संपूर्ण भूतों के हृदय में स्थित हैं। वह भगवान् सर्व व्यापक है। अतः सर्वगत और कल्याण स्वरूप है॥ ११॥ यह महान्, जगत् की सृष्टि आदि में समर्थ, शरीर तथा ब्रह्माण्ड रूप पुर में शयन करने वाला, आत्मस्थिति रूप विशुद्ध तत्त्व की प्राप्ति के लक्ष्य से अन्तःकरण का प्रेरक, सबका शासक, अविनाशी और स्वयं ज्योति रूप है॥ १२॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। हृदा-मनीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १३॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ १४॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ १५॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १६॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥ १७॥

नवद्वारे पुरे देही हꣳसो लेलायते बहिः। वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥ १८॥

(अपनी अभिव्यक्ति के स्थान हृदयाकाश के अनुरूप) यह अँगुष्ठमात्र पुरुष अन्तरात्मा सर्वदा जीवों के हृदय में स्थित है। ज्ञानाध्यक्ष एवं हृदयस्थ मन के द्वारा सुरक्षित है। जो कोई उसे जानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं॥ १३॥

परमात्मा की सर्वरूपता

वह सहस्रों शिर, सहस्रों नेत्र और सहस्रों पाद वाला है। वह परिपूर्ण है, भूमि को सभी ओर से व्याप्त करके शेष अपने अनन्त रूप से जगत् के बाहर भी स्थित है॥ १४॥ जो कुछ भूत, भविष्यत् और वर्तमान है एवं जो अन्नमय कोश रूप से बढ़ता है, वह सब पुरुष ही तो है। वह मोक्ष का भी स्वामी है॥ १५॥

उसके सभी ओर हाथ-पाँव हैं, सब ओर नेत्र, शिर और मुख हैं। एवं सभी ओर कान हैं, किंबहुना वह लोक में सब ओर व्याप्त करके स्थित है॥ १६॥ देह के भीतर स्थित भी आत्मा है देह से असंबद्ध है। वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को प्रकाशित करता हुआ भी समस्त इन्द्रियों से असंबद्ध है। सबका शासक, स्वामी, आश्रय एवं कारण है॥ १७॥ सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत् का स्वामी हंस स्वरूप परमात्मा देहाभिमानी जीव रूप हो नवद्वार वाले पुर में बाह्य विषयों को ग्रहण करने के लिये चेष्टा करता है॥ १८॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥ १९॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः। तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥ २०॥

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्। जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्॥ २१॥ इति तृतीयः प्रपाठकः॥ ३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति। वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ १॥

निर्विशेष ब्रह्म का स्वरूप

वह हाथ-पाँव से रहित होता हुआ भी अत्यन्त वेग वाला और सबका ग्रहण करने वाला है। नेत्र रहित होकर भी देखता है और वह श्रोत्र रहित होकर भी सुनता है। वह सम्पूर्ण वेद्य वर्ग को जानता है, पर उसका जानने वाला कोई नहीं है। उसे यतियों ने सबका आदि कारण, पूर्ण और महान् कहा है॥ १९॥

गुहा निहित आत्मा की कृपा से शोक नाश

यह आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है और महान् से भी महत्तर है। यह प्राणिमात्र के अन्तःकरण रूप गुफा में उनके आत्म रूप से स्थित है। जो पुरुष विषय भोग के संकल्प से रहित, महिमान्वित, उस अपने आत्म रूप परमेश्वर को उसकी अनुकम्पा से अथवा मन इन्द्रियों की स्वच्छता से देखता है वह शोक रहित हो जाता है॥ २०॥

आत्मा के विषय में ब्रह्मज्ञानियों का कथन

ब्रह्मवेत्ता पुरुष जिस परमात्मा को जन्म रहित और नित्य बतलाते है, उस जरा रहित पुरातन, सर्वात्मा तथा व्यापक होने से सर्वत्र विद्यमान परमात्मा को मैं जानता हूँ॥ २१॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

परमेश्वर की प्रार्थना

सृष्टि के प्रारंभ में जो अद्वितीय, जाति आदि विशेष से रहित होकर भी अपनी शक्ति के द्वारा बिना किसी स्वार्थ के ही नाना प्रकार के अनेकों विशेष रूप धारण कर लेता है प्रलय के समय में जिसमें ही विश्व लीन भी होता है। वह प्रकाश स्वरूप विज्ञानैक परमात्मा हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे॥ १॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः॥ २॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवति विश्वतोमुखः॥ ३॥

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः। अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा॥ ४॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ ५॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ ६॥

परमेश्वर की सर्वात्मकता

वह परमात्मा ही अग्नि है, वही सूर्य, वही वायु, वही चन्द्रमा, वही शुद्ध, वही हिरण्यगर्भ स्वरूप, वही जल और वही विराट् रूप प्रजापति है॥ २॥ तू स्त्री हो, तू पुरुष हो, तू ही कुमार या कुमारी हो, तू ही बूढ़ा होकर लकड़ी के सहारे चलते हो और तू ही औपाधिक रूप से उत्पन्न होने पर अनेक रूप हो जाते हो॥ ३॥ तू ही नील वर्ण वाले भँवरे हो, तू ही हरा वर्ण वाला एवं लाल आँखों वाला शुकादि हो, मेघ तथा ग्रीष्मादि ऋतु और सात समुद्र तू ही हो। तू अनादि हो और विभु रूप से सर्वत्र विद्यमान हो, क्योंकि तुझसे ही समस्त लोक उत्पन्न हुए हैं॥ ४॥

प्रकृति के संबन्ध से संसार और त्याग से मोक्ष

अपने समान अनेकों प्रजा को उत्पन्न करने वाली लोहित, कृष्ण और शुक्लवर्ण वाली, एक अजा को (अनादि कामकर्मादि से नष्ट हुए विवेक वाला) एक जीव संसक्त हो भोगता रहता है और दूसरा जीव (परमेश्वर, गुरु तथा शास्त्र की अनुकम्पा से अविद्या अन्धकार को नष्ट कर) भुक्त भोगा प्रकृति को सर्वथा त्याग देता है। अर्थात् वह मुक्त हो जाता है॥ ५॥

जीव ईश्वर के स्वाभाव में परस्पर वैलक्षण्य

सदा एक साथ मिलकर रहने वाले, दो समान नामवाले और सुन्दर चालवाले पक्षी एक ही वृक्ष के आश्रित हैं। उसमें एक अविवेक वश उसके अनेक रसवाले फल को भोगता है और दूसरा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप परमात्मा न भोगता हुआ केवल देखता रहता है॥ ६॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ ७॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ ८॥

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति। अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥ ९॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥ १०॥

उस एक ही शरीर रूपी वृक्ष पर भोक्ता जीव देहाभिमान में डूबकर मोहग्रस्त हो दीन भाव से शोक करता रहता है और जब यह अनेक योग मार्ग वालों से उपासित, देहादि से भिन्न ईश्वर को और उसकी महिमा को देखता है, तब वह शोक रहित हो जाता है॥ ७॥

जगत् के अधिष्ठान ब्रह्म के बोध से कृतकृत्यता

जिस अक्षर ब्रह्म में संपूर्ण देव अधिष्ठित हैं, जिस परमाकाश ब्रह्म में वेद की सभी ऋचाएँ आश्रित हैं अर्थात् जिसे देव और वेद गा रहे हैं। जो उसे नहीं जानता, वह पढ़कर वेदों से भी क्या कर लेगा, किन्तु जो उसे जानते हैं, वे सब कृत-कृत्य हुए स्थित हैं॥ ८॥

मायाधिष्ठाता ही सबका स्रष्टा है

ऋगादि वेद, यूप सम्बन्ध से रहित देव, यज्ञादि कर्म, ज्योतिष्टोमादि याग, चान्द्रायणादि व्रत, भूत, भावी और वर्तमान, तथा जिस अन्य किसी को वेद बतलाते हैं उन संपूर्ण विश्व को मायावी पुरुष अपनी शक्ति के द्वारा रचता है और उस प्रपंच में ही माया से स्वयं जीव भाव को प्राप्त हो बंधा हुआ है॥ ९॥

माया और महेश्वर की सर्वव्यापकता

जगत् कारण प्रकृति को माया जानो और महेश्वर को मायावी समझो। उसी के अवयव रूप कार्य-करण संघात से ही कल्पित (सर्पादि में व्याप्त अधिष्ठान रज्जु की भाँति) यहाँ संपूर्ण जगत् व्याप्त है॥ १०॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्। तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥ ११॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः। हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ १२॥

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः। य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १३॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्त्रष्टारमनेकरूपम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥ १४॥

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः। यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति।॥ १५॥

ब्रह्मज्ञान से परम शान्ति

जो निरुपाधिक परमेश्वर एकाकी, मूल प्रकृति और आकाशादि अन्य प्रकृतियों का भी अधिष्ठाता है। जिसमें यह दृश्यमान संपूर्ण जगत् भली प्रकार से लीन हो जाता है और फिर यथा समय विविध रूप हो जाता है, उस सर्वनियन्ता,वर् दाता, स्तुति के योग्य परमात्म देव को आत्म भाव से प्रत्यक्ष करके साधक पुरुष इस अपुनरावृत्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त होते हैं॥ ११॥

अखण्ड बोध के लिये परमात्मा की स्तुति

जो परमेश्वर ब्रह्मादि देवों की उत्पत्ति और विभूति का कारण है, विश्वाधिपति और सर्वज्ञ है तथा जिसने सर्व प्रथम हिरण्यगर्भ को अपने से उत्पन्न देखा था। वह हमें शुद्ध बुद्धियों से युक्त करे॥ १२॥ जो परमेश्वर ब्रह्मादि देवताओं का अधिपति है, जिसमें संपूर्ण लोक अध्यस्त हैं और जो इस दो पैर वाले मनुष्यादि तथा चार पैर वाले पशु आदि के शासक हैं। उस आनन्दस्वरूप देव की परिचर्या हम चरु पुरोडाश आदि द्रव्यों से करें॥ १३॥

परमात्म ज्ञान से परमशान्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति

वह परमेश्वर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है तथा अविद्या एवं उसके कार्य रूप दुर्गम स्थान में स्थित संपूर्ण विश्व का स्त्रष्टा, नाना रूपवाला और संसार को एकमात्र कर्म फल प्रदान करने वाले कल्याण स्वरूप शिव को जानकर जीव परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है॥ १४॥ वही परमेश्वर अतीत काल में संपूर्ण भुवन का रक्षक था, वही विश्व का साक्षी और संपूर्ण भूतों में छिपा हुआ भी है। ऐसे जिस परमेश्वर में सनकादि ब्रह्मर्षि और देवतागण अभिन्न भाव से स्थित हैं। उस परमात्मा को "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार से जानकर अधिकारी पुरुष अविद्या काम्यकर्मादि पाशों को काट डालता है॥ १५॥

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १६॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १७॥

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासञ्छिव एव केवलः। तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी॥ १८॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः॥ १९॥

घृत के ऊपर रहने वाले उसके सार भाग के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म, सभी भूतों में अन्तर्यामी रूप से स्थित, कल्याणस्वरूप तथा विश्व के एकमात्र भोग प्रदाता स्वयंप्रकाश उस परमात्मा का साक्षात्कार कर पुरुष संपूर्ण बन्धनों से छूट जाता है॥ १६॥

परमात्म प्राप्ति के साधन

यह परमात्मा विश्व रूप कार्य का कर्ता, सर्वव्यापक और सदा सभी प्राणियों के हृदय में (जलादि में सूर्य के प्रतिबिम्ब की भाँति) अच्छी प्रकार से स्थित है। यह ''नेति नेति''इत्यादि निषेध उपदेश, अनात्मा विवेक बुद्धि तथा विचार साध्य एकत्व ज्ञान से ही अभिव्यक्त होता है। इसे जो जानते हैं, वे अधिकारी तत्त्वज्ञानी पुरुष अमर हो जाते हैं॥ १७॥

ज्ञान से द्वैत का नाश

जिस अवस्था में अज्ञान नहीं रहता है वहाँ पर न दिन न रात्रि, न सत् और न असत्, किन्तु एकमात्र शिव तत्त्व ही रह जाता है। वही अविनाशी आदित्य मण्डलाभिमानी देव का भी भजनीय है। उसी के द्वारा पुरातन गुरु परंपरा से आई हुई महावाक्य जन्य प्रज्ञा का प्रसार हुआ है॥ १८॥

ब्रह्म का स्वरूप अनुपम है

उस निरंश निरवयव ब्रह्म को ऊपर से और इधर-उधर से या मध्य में भी कोई ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। जिस का नाम महद् यश है। ऐसे उस ब्रह्म की उपमा एक भी नहीं है॥ १९॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ २०॥

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते। रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्॥ २१॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे॥ २२॥ इति चतुर्थः प्रपाठकः॥ (४)॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे। क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥ १॥

निर्विशेष स्वप्रकाश इस परमेश्वर का स्वरूप नेत्रादि से ग्रहण करने योग्य स्थान में नहीं है। कोई नेत्र के द्वारा उसे नहीं देख सकता। जो इस हृदयस्थ परमात्मा को शुद्ध बुद्धि से इस प्रकार जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं॥ २०॥

परमेश्वर की स्तुति

हे रुद्र! तुम अजन्मा हो। अतः संसार भय से भयभीत मुझ जैसा कोई पुरुष जो आपकी शरण लेता है और इस प्रकार तुम्हारा जो उत्साह-जनक या दक्षिणाभिमुख रूप है। उससे तू मेरी सर्वदा रक्षा कर॥ २१॥ हे रुद्र! तू क्रुद्ध होकर हमारे पुत्र, पौत्र, आयु, गौ और घोड़ों को नाश नहीं करना तथा हमारे वीर सेवकों का भी वध न करना। हम हविष्यान्न पुरोडाशादि से युक्त हो सदा सर्वदा तुम्हारा आवाहन करते हैं॥ २२॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

विद्या अविद्यादि के शासक परमेश्वर के स्वरूपादि का वर्णन

हिरण्यगर्भ से उत्कृष्ट अविनाशी और अनन्त परब्रह्म में विद्या और अविद्या प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है। उनमें से नश्वर अविद्या है और अविनाशी विद्या है तथा जो कोई विद्या और अविद्या का शासन करता है वह उनसे पृथक् है ॥ १॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः। ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्॥ २॥

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः। भूयः सृष्ट्वा यतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा॥ ३॥

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान्। एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः॥ ४॥

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः। सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः॥ ५॥

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्। ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः॥ ६॥

जो अकेला ही पृथिव्यादि प्रत्येक स्थान, संपूर्ण रूप और सभी योनियों का अधिष्ठान है, एवं जिसने सृष्टि के प्रारंभ में कपिल ऋषि को ज्ञान से संपन्न कर दिया था और जन्म लेते हुए भी उसने देखा था (वह विद्या और अविद्या से भिन्न तत्त्व ही इन दोनों का शासक है)॥ २॥ इस मायामय क्षेत्र में यह देव सृष्टि के समय प्रति प्राणी एक-एक महेद्रंजाल को अनेकों प्रकार से विकार वाला करके अन्त में संहार कर लेता है। तथा यह महात्मा ईश्वर ही कल्पान्तर में प्रजापतियों को बारंबार रचकर सबका स्वामी हो बैठता है॥ ३॥ जैसे सूर्य प्रकाशित होता है, वैसे ही यह देव ऊपर, नीचे तथा इधर-उधर संपूर्ण दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ अपने चेतन रूप से देदीप्यमान होता है। ऐसे ही वह द्योतन-स्वभाव संभजनीय परमात्म देव अकेला ही कारण रूप पृथिव्यादि का नियंत्रण करता है॥ ४॥ जगत् का कारण जो परमात्मा है और जो प्रत्येक वस्तु के स्वभाव का निर्माता है। जो पाक के योग्य पदार्थों को पाक रूप में परिणत करता है। अकेला ही जो इस संपूर्ण संसार को अपने अधीन किये रखता है और जो सत्त्वादि सभी गुणों को अपने कार्यों में नियुक्त करता है (ऐसे लक्षण वाला परमात्मा ही है) ॥ ५॥ वह परमात्मा वेदों के गोपनीय भाग उपनिषदों में छिपा हुआ है। उस वेद प्रमाणगम्य आत्मा को ब्रह्मा जानता है। जो पुरातन देवगण और ऋषिगण उसे जानते थे, वे सभी ब्रह्मस्वरूप होकर निःसन्देह अमर हो गये थे (इसीलिये आज भी उसे जानकर ही अमर हो सकते हैं)॥ ६॥

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता। स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः॥ ७॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः। बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः॥ ८॥

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ ९॥

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते॥ १०॥

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासांबुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म। कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते॥ ११॥

त्वं पदार्थ जीव के स्वरूप का वर्णन

जो गुणों से संबद्ध, फल के लिये कर्म करने वाला और उस कृतकर्म के फल का उपभोक्ता भी है। वह नाना रूप वाला, तीनों गुणों से युक्त, (धर्म, अधर्म तथा ज्ञान या देवयान, पितृयान और मर्त्यलोक) ऐसे तीन मार्गों से गमन करने वाला, प्राणों का स्वामी अपने कर्मानुसार संसार में गमनागमन करता है॥ ७॥ अंगूठे के बराबर परिमाण वाला, सूर्य के समान ज्योति स्वरूप बुद्धि के गुण संकल्प अहंकारादि से युक्त, तथा शरीर के गुण जरा मृत्यु आदि से वे अपने को युक्त मानता है। वह अन्य भी आरे के अग्रभाग के समान आकार वाला देखा गया है॥ ८॥ बाल के अग्रभाग के सौ भाग में विभक्त किये जाने पर, उनमें से पुनः एक भाग को सौ भाग में विभक्त किया जाय। इस प्रकार सौ बार विभक्त किये जाने पर अन्त में जो एक भाग शेष रहता है। जीव को उसी के बराबर का समझना चाहिये। वही परमार्थ रूप से अंत रहित हो जाता है॥ ९॥ यह आत्मा उपाधि के बिना स्वयं न स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक ही है। यह जिस-जिस शरीर को धारण करता है उस-उस से यह सुरक्षित रहता है अर्थात् उन-उन शरीर के धर्मों का आत्मा में आरोप कर लेता है॥ १०॥

कर्मानुसार देह की प्राप्ति

जैसे अन्न और जल के सेवन से शरीर की वृद्धि होती है, वैसे ही संकल्प, स्पर्श, दर्शन और मोह से शुभाशुभ कर्म होते हैं। फिर यह जीव क्रमशः नाना शरीरों में जाकर तदनुसार रूप धारण करता है॥ ११॥

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति। क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥ १२॥

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १३॥

भावग्राह्यमनीड्याख्यं भावाभावकरं शिवम्। कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्॥ १४॥ इति पञ्चमः प्रपाठकः॥ ५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः। देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥ १॥

देही जीवात्मा अपने पाप-पुण्य कर्मों के द्वारा अनेक स्थूल-सूक्ष्मं शरीर धारण करता है। पुनः उन शरीरों के कर्मफल और मानसिक संस्कारों के द्वारा जीव के देहान्तर प्राप्ति का अन्य कारण भी देखा गया है अर्थात् कर्माधिकारी शरीर प्राप्ति के बाद पूर्व तथा वर्तमान देह के कर्म संस्कार भी देहान्तर की प्राप्ति में कारण माना जाता है॥ १२॥

परमात्म ज्ञान से मोक्ष

अत्यन्त गंभीर संसार के बीच में रहता हुआ भी यह आत्मा अनादि, अनंत, विश्वका स्रष्टा, विविध रूप धारी, संपूर्ण संसार को एकमात्र व्याप्त करने वाले परमात्मदेव को जानकार अविद्या काम कर्मादि समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १३॥ (शुद्धान्तः करण में वेदान्त श्रवणादि जन्य) ब्रह्माकार वृत्ति से ग्रहण करने योग्य , शरीर रहित, सृष्टि तथा प्रलय करने वाले, कल्याण स्वरूप, प्राणादि कलाओं का स्रष्टा स्वयं प्रकाश देव को जो आत्मभावेन प्रत्यक्ष अनुभव कर लेते हैं। वे जन्म मरणादि देह बन्धनों को त्याग देते हैं अर्थात् फिर उनका शरीरान्तर से सम्बन्ध नहीं होता॥ १४॥

॥ इति पंचमोऽध्याय॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

सृष्टि चक्र का संचालक परमात्म-महिमा है

कुछ बुद्धिमान् पंडित स्वभाव को संपूर्ण विश्व का कारण कहते हैं और दूसरे काल को। किन्तु ये सभी इस विषय में अत्यन्त भ्रान्त हैं। वस्तुतः परमेश्वर की यह महिमा ही है, जिससे लोक में यह ब्रह्मचक्र घूमता है॥ १॥

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः। तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्॥ २॥

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्। एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः॥ ३॥

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः। तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥ ४॥

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः। तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्॥ ५॥

परमेश्वर का स्वरूप तथा माहात्म्य

जिससे यह सम्पूर्ण जगत् सदा व्याप्त है तथा जो काल का भी कर्ता, अपहत-पाप्मत्वादि गुणवाला एवं सर्वज्ञ है। उसी से प्रेरित हो यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाशादि जगत् होते हैं। अतः इसी प्रकार से चिन्तन करना चाहिये॥ २॥ मनुष्य देह से उस कर्म को करके उसका निरीक्षण कर पुनः जो इस परमात्मा के साथ अविद्यारूप एक तत्त्व, धर्माधर्मादि दो, सत्त्वादि तीन गुण या महदादि आठ तत्त्वों के साथ या काल और अन्तःकरण के सूक्ष्म गुणों के साथ अपने सत्ता रूप गुण का सन्बन्ध कर स्वयं स्थित हो जाता है। उसी का चिन्तन करना चाहिये॥ ३॥

परमेश्वरार्पण कर्म परंपरया मोक्ष का साधन

सत्त्वादि गुणों से युक्त कर्म को प्रारंभ करके जो पुरुष उन कर्मों को तथा अपने अत्यन्त विशिष्ट भावों को परमेश्वर में अर्पण कर देता है, फिर उन कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध न रहने से उस जीव के पूर्व संचित कर्मों का नाश हो जाने पर वह साधक पूर्व श्लोक में कहे गये तत्त्वों से पृथक् हुआ विशुद्ध ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥ ४॥

चित्त की एकाग्रता द्वारा उपासना भगवत्प्राप्ति का साधन

वह परमात्मा सबका कारण, देहसंयोग के निमित्त कारण-भूत अविद्या हेतु है। वह तीनों कालों से परे, प्राणादि कलाओं से रहित देखा गया है। अपने हृदय में स्थित उस सर्वरूप एवं विश्वरूप परमात्म देव की ज्ञान उत्पत्ति से पहले उपासना कर (वेदान्त वाक्य जन्य ज्ञान द्वारा) उसे प्राप्त कर लेता है॥ ५॥

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्। धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम॥ ६॥

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥ ७॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ ८॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्। स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥ ९॥

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः। देव एकः स्वमावृणोत् स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम्॥ १०॥

परमेश्वर प्राप्ति का मुख्य साधन ज्ञान है

वह परमात्मा संसाररूप वृक्ष और काल के आकार से भिन्न है तथा प्रपंच से भी पृथक् है। धर्म के प्रापक और पाप के नाशक, स्वयं ऐश्वर्य के स्वामी को जानकर अधिकारी पुरुष बुद्धिस्थ अमृतस्वरूप तथा संपूर्ण विश्व के आधार परमात्मा को प्राप्त कर लेता है॥ ६॥

तत्त्वनिष्ठ के अनुभव का उल्लेख

ब्रह्मादि ईश्वरों के भी परम महान् ईश्वर, इन्द्रादि देवताओं के भी परमदेव, प्रजापतियों के परमपति, अव्यक्तादि पर से भी पर तथा भुवनों के स्वामी स्तुति के योग्य उस देव को हम जानते हैं॥ ७॥

ब्रह्म की महिमा

उस परमेश्वर का शरीर नहीं है और न इन्द्रियाँ ही हैं। उसके समान तथा उससे बढ़कर भी कोई दिखाई नहीं पड़ता। उसकी परा शक्ति नाना प्रकार की सुनी जाती है और वह स्वाभाविकी ज्ञानक्रिया और बलक्रिया से युक्त देखा गया है॥ ८॥ लोक में उसका कोई स्वामी नहीं है न कोई नियन्ता या धूमादिरूप चिह्न ही है। वह सबका कारण है और इन्द्रियाधिष्ठाता जीव का अधिपति है। उसका कोई उत्पत्ति कर्ता एवं स्वामी नहीं है॥ ९॥

अभीष्टार्थ प्राप्ति के लिये परमेश्वर से प्रार्थना

जैसे मकड़ी अपने तन्तुओं से अपने ही को ढक लेती है, जैसे ही एकमात्र अद्वय आत्म देव ने प्रकृतिजन्य कार्यों के द्वारा स्वभाव से ही अपने को ढक लिया है वही हमें अभय ब्रह्म से एकता प्राप्त करावे॥ १०॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ ११॥

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १२॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १३॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १४॥

एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १५॥

परमेश्वर का स्वरूप

समस्त प्राणियों में सर्वव्यापक, संपूर्ण भूतों का अन्तरात्मा, एक परमात्म देव ही गुप्त भाव से स्थित है। यह कर्मों का अध्यक्ष है और सभी प्राणियों में वास कर रहा है। वही सबका साक्षी सबको चेतनता प्रदान करने वाला, उपाधि शून्य और सत्त्वादि गुणों से रहित है॥ ११॥

परमात्म ज्ञान से मोक्ष

जो एक, स्वतन्त्र, परमात्मा बहुत से निष्क्रिय जीव के एक बीज को बहुधा कर देता है। अपने हृदय में स्थित उस आत्म देव को शास्त्र एवं आचार्य के द्वारा जो धीर पुरुष देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख मिलता है॥ १२॥ जो परमात्मा नित्यों में नित्य है, चेतन प्रमाताओं में चेतन है और अकेला ही बहुतों को भोग प्रदान करता है। सांख्य योग द्वारा सब किसी के लिए ज्ञातव्य उस संपूर्ण विश्व के कारण परमात्म देव को जानकर पुरुष अविद्यादि सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १३॥

ब्रह्म ही सबका प्रकाशक है

वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्र और तारे भी प्रकाशित नहीं होते और न ये बिजलियाँ ही चमकती हैं, फिर भला वहाँ अग्नि कैसे प्रकाश कर सकती है। ये सब उसके प्रकाशित होने के बाद ही प्रकाशित होते हैं। उसी के प्रकाश से ये सब प्रकाशमान हो रहे हैं॥ १४॥

ज्ञान ही एकमात्र मोक्ष का साधन है

इस भुवन के मध्य अविद्यादि बन्धन का नाशक एक हंस है वही (पंचम आहुति देह रूप से परिणत हुए) जल में स्थित अग्नि है। उसी को जानकर पुरुष मृत्यु को पारकर जाता है। इसके अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति का कोई अन्य मार्ग नहीं है॥ १५॥

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः सꣳसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः॥ १६॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता। य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय॥ १७॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ १८॥

निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परꣳ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥ १९॥

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥ २०॥

विविध रूप से परमेश्वर का वर्णन

वह विश्व का कर्ता, विश्व का वेत्ता, स्वयंभु, ज्ञाता, काल का प्रेरक, निष्पापत्वादि गुण युक्त और सम्पूर्ण विद्याओं का केन्द्र है। वही प्रधान एवं विज्ञानात्मा पुरुष का स्वामी, गुणों का नियामक एवं संसार के मोक्ष, स्थिति और बन्धन का कारण है॥ १६॥ वह ज्योतिर्मय या विश्वरूप अमरणधर्मा, ईश्वर भाव से स्थित, जानने वाला, सर्वत्र व्यापक और दृश्यमान जगत् का रक्षक है। जो इस विश्व का नित्य शासक है, उसे शासन करने में अन्य कोई समर्थ नहीं॥ १७॥ जिसने सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया और जो उस ब्रह्मा के लिये वेदों को प्रवृत्त करता है। अपने बुद्धि के प्रकाशक उस परमात्म देव की मैं मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ॥ १८॥ जो कला रहित, क्रिया शून्य, शान्त, अनिन्दनीय, निर्लेप, मोक्ष प्राप्ति के लिये उत्कृष्ट सेतु और जो दग्ध ईंधन-प्रदीप्त अग्नि के समान है (उस देव की मैं शरण हूँ)॥ १९॥

परमात्म देव को जाने बिना दुःख का नाश असम्भव

जब मानव अमूर्त और व्यापक आकाश को चमड़े के समान लपेट सकेगा, तब उस देव को जाने बिना ही दुःख का भी अन्त हो जायगा। अर्थात् जैसे व्यापक अमूर्त आकाश को परिच्छिन्न एवं मूर्त स्वरूप चमड़े के समान लपेटना असम्भव है, वैसे ही परमात्मा को जाने बिना दुःख का नाश होना भी असम्भव है॥ २०॥

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्। अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्॥ २१॥

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्। नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥ २२॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मनः इति॥ २३॥ इति षष्ठः प्रपाठकः॥ (६)॥

ॐसह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै॥ तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

॥ इति कृष्णयजुर्वेदीयश्वेताश्वतरोपनिषत्संपूर्णा॥

॥ ॐ तत्सत्॥

ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय परम्परा से अधिकारी को प्राप्त करने योग्य है

श्वेताश्वतर ऋषि ने तप के प्रभाव और देव प्रसाद से उस प्रसिद्ध ब्रह्म को जाना एवं दृढ़ अपरोक्ष अनुभव के पश्चात् ऋषि समुदाय से सेवित इस परम पवित्र ब्रह्मतत्त्व का परमहंस संन्यासियों को भली प्रकार से उपदेश दिया (ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में तपोबल के साथ परमात्मानुकम्पा की आवश्यकता भी कही गयी है। इन दोनों साधनों से पहले स्वयं अपरोक्षानुभव कर लेवे और तत्पश्चात् योग्य अधिकारी को अवश्य बतलावे, विद्या सम्प्रदाय का लोप न करे यही इसका तात्पर्य है)॥ २१॥

अनधिकारी को विद्या देना निषिद्ध है

उपनिषदों में अत्यन्त गोपनीय इस विद्या का उपदेश अधिकारी को ही किया गया था। अतः जिसका चित्त अत्यन्त रागादि मल शून्य न हो तथा जो पुत्र या शिष्य न हो, ऐसे लोगों को इस ब्रह्मविद्या का उपदेश न करे। इसलिये परीक्षा करके ही योग्य अधिकारी को ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिये॥ २२॥

परमेश्वर तथा गुरु भक्ति से ही विद्या सफल होती है

जिसकी परमात्मा में सुदृढ़ भक्ति है और जैसी भक्ति परमात्मा में है, वैसी श्रद्धा भक्ति सद्गुरु में भी है। ऐसे महात्मा के प्रति कहे हुए ही ये उपनिषद् के तात्पर्यार्थ प्रकाशित होते हैं। मन्त्र में 'प्रकाशन्ते महात्मनः' इन पदों की आवृत्ति साधन सम्पन्न मुख्य शिष्य की दुर्लभता, अध्याय की समाप्ति एवं आदर के लिये की गयी है॥ २३॥

ॐसह नाववतु इति शान्तिपाठः

॥ इति श्वेताश्वतरोपनिषत्समाप्ता॥

कैवल्योपनिषद्

कैवल्योपनिषद्वेद्यं कैवल्यानन्दतुन्दिलम्। कैवल्यगिरिजारामं स्वमात्रं कलयेऽन्वहम्॥ ॐ सह नाववत्विति शान्तिः॥

अथ प्रथमः खण्डः

ॐ अथाश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनमुपसमेत्योवाच। अधीहि भगवन्ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम्। यथाऽचिरात्सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान्॥ १॥

तस्मै स होवाच पितामहश्च श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि॥ २॥

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति॥ ३॥

अथ प्रथमः खण्डः

ॐसह नाववतु इति शान्तिपाठः

विधि पूर्वक अश्वलायन ऋषि का ब्रह्मा के पास जाकर ब्रह्मविद्या के विषय में प्रश्न

षड् ऐश्वर्य सम्पन्न परमेष्ठी प्रजापति के पास विधिपूर्वक शिष्य भाव से जाकर अश्वलायन ऋषि ने कहा—हे भगवन्! जो सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है, जिसकी उपासना सदा सत्पुरुष किया करते हैं और जो अत्यन्त गूढ़ है, ऐसी ब्रह्मविद्या का उपदेश मुझे करें! जिस प्रकार तत्त्ववेत्ता पुरुष सम्पूर्ण पापों को दग्ध कर शीघ्र ही परात्पर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है (उसी प्रकार से मुझे भी ब्रह्मविद्या का उपदेश आप करें॥ १॥)

अश्वलायन को ब्रह्मा का उपदेश

उस अश्वलायन ऋषि से उस प्रजापति ब्रह्मा ने कहा—'श्रद्धा, भक्ति और ध्यान योग के द्वारा (परमात्म तत्त्व को) जानो'॥ २॥ पहले भी कुछ महानुभाव न कर्म से, न प्रजा से और न धन से अमरत्व प्राप्त किये हैं, क्योंकि वे अमरत्व रूप मोक्ष को एकमात्र त्याग से ही प्राप्त कर सके थे। जो परतत्त्व स्वर्ग सुख से भी परे हृदय रूपी गुफा में प्रकाशमान हो रहा है और जिसमें शमदमादि साधन सम्पन्न यत्नशील संन्यासी प्रविष्ट होते हैं॥ ३॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥ ४॥

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य॥ ५॥

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्। अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्॥ ६॥

तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्। उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्। ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥ ७॥

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः॥ ८॥

वेदान्त के श्रवणादि जन्य दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान से जिन्हें परतत्त्व का पूर्ण निश्चय हो चुका है। अतएव जिनका अन्तःकरण विशुद्ध है। वे परोक्षज्ञानी यत्नशील पुरुष संन्यास योग के द्वारा ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के शासन के अन्त समय में उत्कृष्ट अमर भाव को प्राप्त हुए उक्त सभी अधिकारी जन्म मरणादि बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं॥ ४॥ अतः अन्त्य (चतुर्थ) आश्रम में स्थित पवित्र हो निर्जन स्थान में सुखासन से बैठकर ग्रीवा, शिर और शरीर को एक सीध में समान भाव से रखता हुआ अपने ब्रह्मविद्या के उपदेशक गुरु को भक्ति पूर्वक प्रणाम करके बाह्य सभी इन्द्रियों को निरुद्ध कर योग में स्थित होवे॥ ५॥

ब्रह्म स्वरूप का वर्णन

उस समय शरीर के मध्य हृदय कमल में स्थित, मल रहित, शोक रहित, चिन्तन के अयोग्य, इन्द्रियों का अविषय होने से अव्यक्त, देश काल एवं वस्तु कृत परिच्छेद शून्य, अत्यन्त शान्त, अविनाशी, वेदप्रमाणैकगम्य, अत्यन्त विशद और विशुद्ध, कल्याण स्वरूप शिव का चिन्तन कर (अधिकारी बन्धन से मुक्त हो जाता है)॥ ६॥ आदि मध्य, और अन्त से हीन, एक, अत्यन्त अद्भुत, रूप रहित, उस व्यापक सच्चिदानन्द, उमापति, ईश्वरों का ईश्वर, सर्व समर्थ, त्रिनेत्र, नीलकण्ठ, अत्यन्त शान्त, अज्ञान अन्धकार से परे, सबके अन्तःकरण का साक्षी और समस्त प्राणियों के एकमात्र कारण परमात्मा का चिन्तन कर मनन शील पुरुष उसी को प्राप्त कर लेता है॥ ७॥

परमेश्वर के सर्वात्म भाव का वर्णन

वही ब्रह्मा है, वह शिव है, वही इन्द्र के सहित संपूर्ण देव रूप, वह, अविनाशी सर्वोत्कृष्ट और स्वयं प्रकाश है। वही विष्णु है, वह हिरण्यगर्भ रूप प्राण है, वह काल, अग्नि और वही चन्द्रमा है॥ ८॥

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्। ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये॥ ९॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना॥ १०॥

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः॥ ११॥

स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोतिः सर्वम्। स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति॥ १२॥

स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितजीवलोके। सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति॥ १३॥

मोक्ष का साधन ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान

जो भूतकाल में थे, जो भविष्यत् में होंगे और जो वर्तमान काल में विद्यमान हैं, ये सब कुछ यही हैं। उसी सनातन तत्त्व को अपरोक्ष रूप से अनुभव कर साधक मृत्यु को पार कर जाता है (शाश्वत शान्ति स्वरूप मोक्ष के लिये उससे भिन्न कोई मार्ग नहीं है)॥ ९॥ संपूर्ण भूतों में स्थित आत्मा को और आत्मा में संपूर्ण भूतों को सम्यक् प्रकार से देखता हुआ परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है अन्य किसी साधन से नहीं॥ १०॥

प्रणव के अभ्यास से ज्ञान की प्राप्ति

विशिष्ट आत्मा को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर विवेक पूर्वक निरंतर चिन्तनरूप अभ्यास से उत्पन्न तत्त्वज्ञान द्वारा पंडित संपूर्ण पाप को जला देता है॥ ११॥

अज्ञानी की स्थिति

वही माया से मोहित हुए अन्तःकरणवाला, देह को आत्मा मानकर समस्त शुभाशुभ कर्म करता है और स्त्री, अन्नपानादि विचित्र भोगों से वही अज्ञानी जीव जाग्रदवस्था में अच्छी प्रकार तृप्त होता है॥ १२॥ अपनी माया के द्वारा कल्पित जीव के संसाररूप स्वप्न में वह जीव सुख और दुःख का भोक्ता हो जाता है और अज्ञानरूप तम से अभिभूत हुआ वह जीव सुषुप्ति काल में सभी स्थूल-सूक्ष्म प्रपंच के कारण में विलीन हो जाने पर अविद्या से आच्छादित स्वरूप सुख को प्राप्त करता है॥ १३॥

पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः। पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्। आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिँल्लयं याति पुरत्रयं च॥ १४॥

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ १५॥

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्। सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं स तत्त्वमेव त्वमेव तत्॥ १६॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते। तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते॥ १७॥

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः॥ १८॥

सुषुप्ति काल में जो जीव सोता है वही जन्मान्तरीय कर्म संबन्ध से (अपने कर्म फल भोग के लिये जग जाता है) इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों पुरों में जो जीव भाव से क्रीड़ा करता रहता है, उसी से संपूर्ण विचित्र जगत् उत्पन्न होते हैं। जो वस्तुतः संपूर्ण विश्व का अधिष्ठान और अखंड बोध स्वरूप है जिसमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये तीनों देह और इसके अभिमानी जीव लय को प्राप्त होते हैं॥ १४॥

परमात्मा से ही विश्व की उत्पत्ति

इस परमात्मा से ही समष्टि-व्यष्टि प्राण उत्पन्न हुआ, मन, सभी इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्व को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न हुई ॥ १५॥ जो परब्रह्म सबका आत्मा सम्पूर्ण संसार का आधार और महान् है। जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म नित्य परमार्थ तत्त्वरूप है, वही तुम हो और तुम्हीं वह हो॥ १६॥

ब्रह्मज्ञान से मोक्ष

जो सच्चिदानन्द जाग्रत् स्वप्न तथा सुषुप्त्यादि संपूर्ण प्रपंच को प्रकाशता है, वह ब्रह्म ही मैं हूँ। इस प्रकार जानकर अधिकारी पुरुष संपूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १७॥

ब्रह्म का लक्षण

जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में जो भोग्य और भोक्ता है। तथा इन दोनों के सम्बन्ध से जो सुखादि का भोग होता है, इन सभी से विलक्षण साक्षी, सदाशिव चिन्मात्र स्वरूप मैं हूँ॥ १८॥

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥ १९॥ इति प्रथमः खण्डः॥ (१)॥

अथ द्वितीयः खण्डः

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमहं विचित्रम्। पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरणमयोऽहं शिवरूपमस्मि॥ १॥

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः। अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्॥ २॥

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्। न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति॥ ३॥ न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च। एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम्॥ ४॥

मुझ सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा में सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। मुझमें सब प्रतिष्ठित हैं तथा अन्त में मुझ में ही सम्पूर्ण विश्व लीन हो जाता है, वही अद्वितीय ब्रह्म मैं हूँ॥ १९॥

॥ इति प्रथमः खंडः॥

अथ द्वितीयः खण्डः

ब्रह्मविद्या का फल

सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मैं ही हूँ, वैसे ही महान्-से-महान् मैं हूँ और विचित्र विश्व मैं हूँ। मैं पुरातन पुरुष हूँ, मैं सम्पूर्ण विश्व का शासक हूँ, मैं हिरण्यमय स्वरूप हूँ तथा कल्याण स्वरूप शिवतत्त्व मैं हूँ॥ १॥ परमार्थतः हस्त पादादि अवयव से रहित, अचिन्त्य शक्तिरूप मैं हूँ। वह मैं बिना आँख के देखता हूँ और बिना कान के सुनता हूँ। मैं एकाकी, असंग रूप होता हुआ भी सबको जानता हूँ, किन्तु मेरा जानने वाला कोई दूसरा नहीं है, क्योंकि मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ॥ २॥ अनेक वेदों से जानने योग्य मैं ही हूँ। वेदान्त का कर्ता और वेद वेत्ता भी मैं ही हूँ। मुझमें पुण्य-पाप नहीं हैं, न मेरा जन्म होता है और न नाश ही होता है मुझमें देह, इन्द्रियाँ और बुद्धि नहीं हैं॥ ३॥ न मुझमें भूमि है, न जल है, न तेज है, न वायु है और न आकाश ही है। इस प्रकार कला रहित, अद्वितीय बुद्धिरूपी गुफा में स्थित परमात्मतत्त्व को जानकर (जीव सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो कृत-कृत्य हो जाता है)॥ ४॥

समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्॥ यः शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आत्मपूतो भवति स सुरापानात्पूतो भवति स ब्रह्महत्यायाः पूतो भवति स सुवर्णस्तेयात्पूतो भवति स कृत्याकृत्यात्पूतो भवति तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवति अत्याश्रमी सर्वदा सकृद्वा जपेत्। अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम्। तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं फलमश्नुते कैवल्यं फलमश्नुत इति॥ ५॥ इति द्वितीयः खण्डः॥ २॥

ॐ सह नाववत्विति शान्तिः

॥ इति कृष्णयजुर्वेदे कैवल्योपनिषत्संपूर्णा॥ १२॥

॥ ॐ तत्सत्॥

कारण सहित सम्पूर्ण प्रपंच के सम्बन्ध से रहित, बाह्याभ्यन्तर समस्त विश्व का साक्षी, विशुद्ध परमात्मस्वरूप, समस्त वेद प्रतिपाद्य तत्त्व को जो जानता है वह अग्नि के समान पवित्र हो जाता है। वह वायु के सदृश पवित्र हो जाता है, वह आत्मा के सदृश पवित्र हो जाता है। वह सुरापान-जन्य पाप से मुक्त हो जाता है। वह ब्रह्महत्या-जन्य पाप से मुक्त हो जाता है। वह स्वर्ण की चोरी से होने वाले पाप से पवित्र हो जाता है। अतः जीते जी वह मुक्त हो जाता है। वह आश्रम धर्म का अतिक्रमण करने वाला पुरुष सर्वदा जपे या एक बार जपे (इससे उसका कोई खास प्रयोजन सिद्ध नहीं होता) सम्पूर्ण संसार सागर के नाशक आत्मज्ञान को उक्त उपाय से प्राप्त कर लेता है। इसलिये इस प्रकार इस आत्मस्वरूप परमात्मा को अपरोक्ष अनुभव कर अधिकारी पुरुष मोक्ष रूप फल को प्राप्त कर लेता है। मोक्ष रूप फल को प्राप्त कर लेता है। 'कैवल्यं फलमश्नुते' की पुनरावृत्ति ग्रन्थ समाप्ति के लिये है॥ ५॥

ॐ सह नाववतु इति शान्तिपाठः

॥ इति कैवल्योपनिषत्समाप्ता॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ महामण्डलेश्वर-स्वामिविद्यानन्दगिरि-प्रणीत-श्रीविद्यानन्दीमिताक्षरान्विता द्वादशोपनिषदः समाप्ताः॥

तार : कैलासाश्रम ऋषिकेश

फोन : ३०५९८

श्री कैलासपीठाधीश्वर अनन्त श्रीविभूषित श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर

श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

एवं श्री कैलास आश्रम के पूर्वाचार्यों की अनुपम कृतियाँ

कैलासविद्या प्रकाशन के सोपान

1. ईशावास्योपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ६८ ... 15.00

२. केनोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्ययुता) क्राउन साइज पृष्ठ १३८ ... 25.00

३. कठोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ १४० ... 25.00

4. प्रश्नोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वयसमलंकृत शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ १२० ... 25.00

5. मुण्डकोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वयसमलंकृत शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ९० ... 25.00

6. माण्डूक्य कारिका (सटिप्पण, हिन्दी, संस्कृत टीका सहित शाङ्करभाष्य) सजिल्द क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ३२० ... 55.00

7. माण्डूक्य कारिका (सानुवाद शांकरभाष्ययुता) ... 25.00

8. तैत्तिरीयोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्य युता) क्राउन साइज पृष्ठ १७८ ... 25.00

9. एतरेयोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्ययुता) क्राउन साइज पृष्ठ ११२ ... 25.00

10. छान्दोग्योपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्ययुता)
क्राउन साइज पृष्ठ ७३४ ... 200.00

11. बृहदारण्यकोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय समलङ्कृत शाङ्कभाष्ययुता)
सजिल्द क्राउन ८ पेजी २ खण्ड, पृष्ठ १६६२ ... 500.00

12. ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य सटिप्पण रत्नप्रभा ललिता व्याख्यायुतम्) ... 500.00

13. ब्रह्मसूत्र (चतुः सूत्री, शांकर भाष्य सटिप्पण ललिता व्याख्यायुतम्) ... 100.00

14. ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्यस ललिता व्याख्यायुतम्) ... 300.00

15. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य सटिप्पण आनन्द गिरि टीका
ललिता व्याख्यायुतम् दो भाग) ... 400.00

16. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य ललिता व्याख्यायुतम्) ... 250.00

17. ईशादिसप्तोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शांकरभाष्योपेता)
क्राउन साइज ... 200.00

18. ईशादि द्वादशोपनिषद् (विद्यानन्दी मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या)
सजिल्द डबल डिमाई १६ पेजी पृष्ठ ५३२ ... 200.00

19. ब्रह्मसूत्र (सानुवाद-विद्यानन्दवृत्ति)
सजिल्द डबल डिमाई १६ पेजी पृष्ठ ५२० ... 200.00

20. ब्रह्मसूत्र (संस्कृत विद्यानन्दवृत्तिपरीक्षोपयोगी)
डबल डिमाई साइज १६ पेजी पृष्ठ २४७ ... 25.00

21. श्रीमद्भगवद्गीता (अष्टादशाह प्रवचन) ... 150.00

22. ईशावास्य प्रवचनसुधा, डिमाई साइज पृष्ठ ३२० ... 25.00

23. ईशावास्य प्रवचनसुधा (आंग्ल अनुवाद) डिमाई १६ पेजी सजिल्द ... 180.00

24. वैयासिक न्यायमाला (सानुवाद ललिता व्याख्यायुता) ... यन्त्रस्थ

25. वेदान्त परिभाषा (अर्थदीपिका एवं सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या)
सजिल्द क्राउन साइज ८ पेजी ... 50.00

26. वेदान्त परिभाषा (परीक्षाब्धिसंतरणी) ... 20.00

27. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी सटिप्पणटीकाद्वय संवलिता)
भाग १-२ ... 180.00

28. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी छात्रतोषिणी टीका
परीक्षाब्धिसंतरणी अष्टोत्तरशतन्यायमाला युता) ... 120.00

29. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी छात्रतोषिणी टीका
परीक्षाब्धिसंतरणी) ... 40.00

30. व्याप्तिपञ्चकम् (सानुवाद माथुरी छात्रतोषिणी संवलितम्) ... 40.00

31. सिद्धान्त लक्षणम् (जागदीशी छात्रतोषिणी हिन्दी
व्याख्या त्रय संवलितं) ... यन्त्रस्थ

32. संक्षेप शारीरकं (सानुवाद-मधुसूदनीसटिप्पणं संवलितं) ... 500.00

33. चतु:सूत्री (भामती परीक्षाब्धि संतरणी) ... 20.00

34. सागरसेतु सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ३२० ... 40.00

35. कैलास आश्रम शताब्दी स्मारिका
सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ४३४ ... 32.00

36. यतीन्द्रतिलक सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ३२४ ... 35.00

37. दिव्यस्मृति पृष्ठ ३८८ ... 10.00

38. आचार संहिता ... 10.00

39. व्यासपूजापद्धति (शङ्खकलशप्रधानवेदीमण्डलैः समलङ्कृता) ... 20.00

40. चित्राञ्जलिः ... 125.00

41. श्रद्धासुमनाञ्जलिः ... 125.00

42. श्रुतिसारसमुद्धरणम् (हिन्दीटीकायुतम्)
क्राउन १६ पेजी पृष्ठ १५२ ... 20.00

43. तत्त्वबोध, आत्मबोध सानुवाद पृष्ठ १०० ... 10.00

44. वेदान्त रत्नाकर क्राउन १६ पेजी पृष्ठ ११६ ... 20.00

45. वेदान्त डिण्डिम घोष (सानुवाद) पृष्ठ ५८ ... 10.00

46. वैराग्यपञ्चक (कुञ्जिका व्याख्या) ... यन्त्रस्थ

47. अद्वैतमुक्तावली (मूल पञ्जाबी का संस्कृत श्लोकों एवं
हिन्दी में अनुवाद) ... 10.00

48. अमर संस्मरण (श्री अमरनाथ यात्रा विवरण) ... 10.00

नोटः— पुस्तक मँगाने वाले सज्जन अग्रिम राशि निम्नांकित कार्यालय में भेजकर मँगावें। पुस्तक के मूल्यातिरिक्त डाक, रेलवे तथा पोस्टेज व्यय पृथक् लगेगा, वी.पी. द्वारा पुस्तक भेजने का क्रम नहीं है।

मुख्य कार्यालयः—

श्री कैलास आश्रम

ऋषिकेश (उ. प्र.) पिनः २४९२०१ ◆ दूरभाष : ३०५९८

प्रकाशकः—

कैलासविद्या प्रकाशन

श्री कैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ. प्र.)
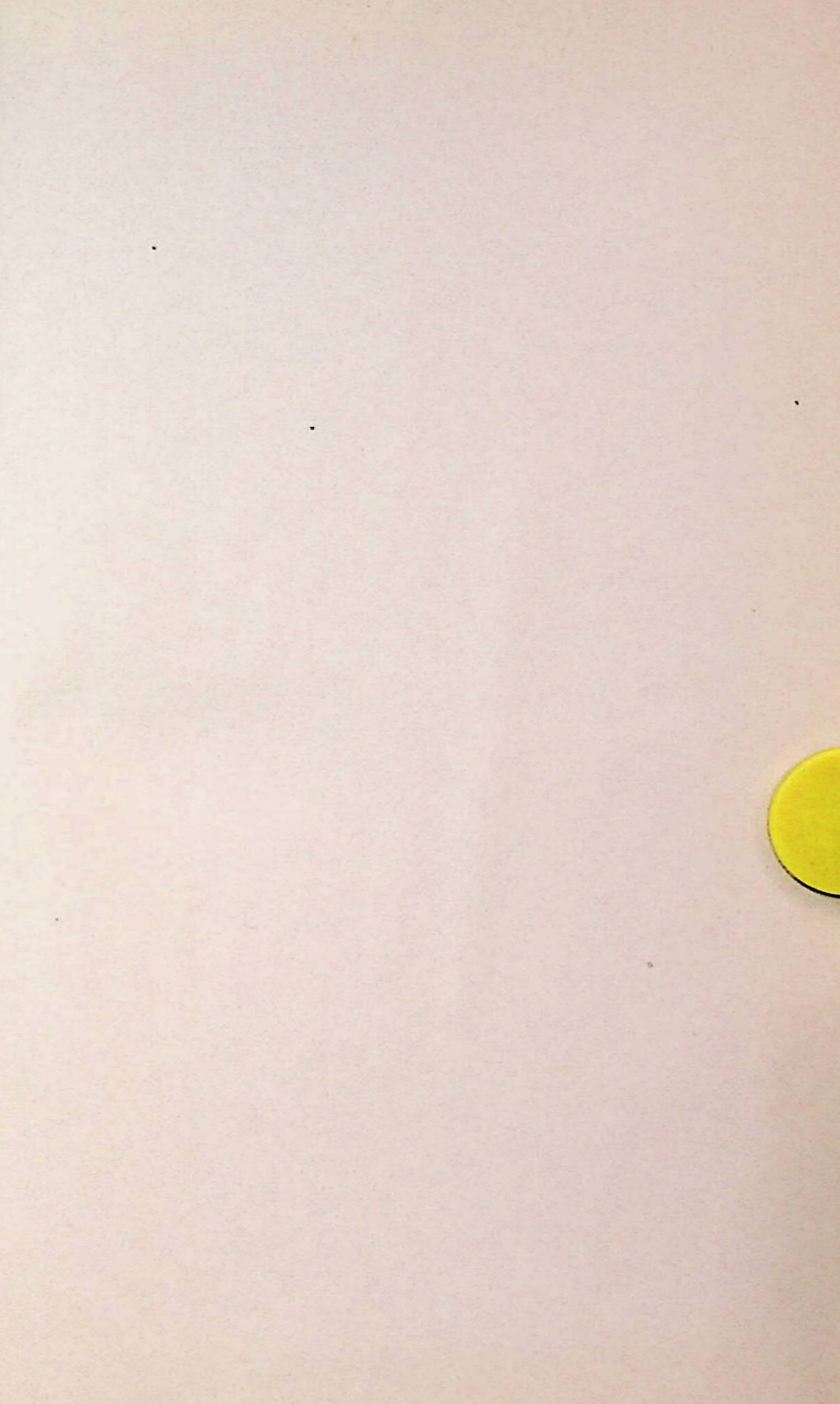
१९५९ ई. में आपने निरञ्जनपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज के अनुरोध पर दिल्लीस्थ विश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य पद का भार संभाला। वहाँ दस वर्षों तक निःशुल्क विद्यामहादान करते हुए विद्यालय की स्थिति को अत्यन्त सुदृढ़ करने में आपने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। प.पू. अनन्तश्री स्वामी नृसिंहगिरि जी महाराज एवं प.पू. अनन्तश्री स्वामी महेशानन्दगिरि जी महाराज की प्रेरणा से माघ कृष्ण द्वितीया वि.सं. २०२४ को आपने संन्यास दीक्षा ली जिसकी रजत जयन्ती १०-१-१९९३ ई. को बड़ी धूमधाम से मनाई गई।

भगवदिच्छा एवं कैलास आश्रम के शुभचिन्तकों के प्रयास से आप दिल्ली छोड़ कैलासपीठाधीश्वर की गद्दी पर आषाढ़ शु. सप्तमी वि.सं. २०२६ को आसीन हुए। उस अवसर पर साधु समाज ने एवं कैलास पीठ के दो पूर्वाचार्यों (प.पू. स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज एवं प.पू. शास्त्री जी महाराज) ने आपका चिरस्मरणीय अभिनन्दन किया और कैलास आश्रम को समुन्नत बनाने के लिए आपसे बहुत आशा व्यक्त की। आपने उन गुरुजनों के जीवन काल में ही उन की आशा से कई गुना अधिक कार्य कर उनकी परम प्रसन्नता एवं आशीर्वाद को प्राप्त किया। आपके प्रतिभाशाली नेतृत्व में कैलास आश्रम एवं शाखा आश्रमों की असाधारण उन्नति हुई। कई नई शाखाओं की स्थापना हुई। आपने अनेकानेक महोत्सवों के व्याज से प्रगति के योजनाबद्ध कार्यक्रमों का आविष्कार किया और उनको अपने अपूर्व प्रयास, लगन एवं निष्ठा से सफल बनाया। इन में कैलास आश्रम शताब्दी महोत्सव (१९८०-८१), आचार्यद्वय जन्मशताब्दी महोत्सव (१९८५-८६), भगवान् आदि शंकराचार्य द्वादश शताब्दी समारोह (१९८७-८८), दिव्य वर्ष पंचकम् (१९९२-१९९७) परम उल्लेखनीय हैं। कैलासाश्रम के सन्तों एवं भक्तों ने कृतज्ञता के भाव से प्रेरित हो आप का पट्टाभिषेक रजतमहोत्सव (१९९३-९४) राष्ट्रीय स्तर पर अत्यन्त उत्साहपूर्वक मनाया।

महाराज श्री भारत के आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र के आचार्यों में अग्रगण्य हैं और आपके निर्देश एवं परामर्शों का सभी साधु समाज अत्यधिक सम्मान करता है। आपने कई ग्रन्थों की रचना की है। कैलास आश्रम की स्वाध्याय व्यवस्था को आपने व्यक्तिगत प्रयास से अत्यन्त सुदृढ़ बनाया है। यहाँ से शिक्षा प्राप्त कर विद्वान् अनेकानेक स्थानों पर जा कर धर्म प्रचार एवं परोपकारी कार्यों से समाज की सेवा करते हैं। आप आध्यात्मिक जगत् की एक दिव्य विभूति हैं। भक्तों, शिष्यों के लिए तो आप कल्पतरु हैं जो कृतज्ञतापूर्वक सदा आपकी वन्दना करते हैं।

जगद्गुरु भगवान् श्री आदि शंकराचार्य जी

चार प्रधान शिष्यों सहित
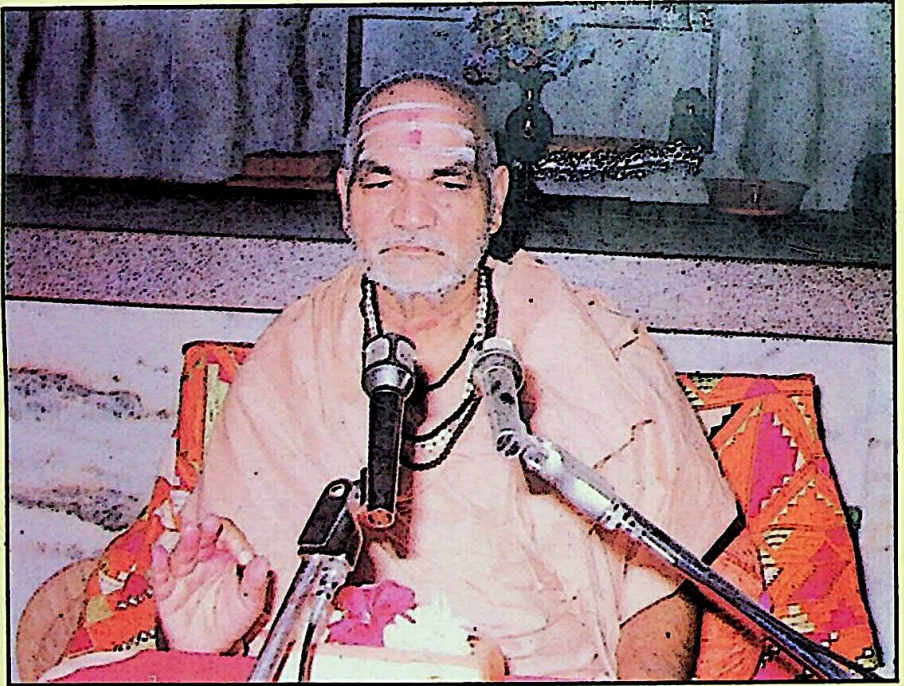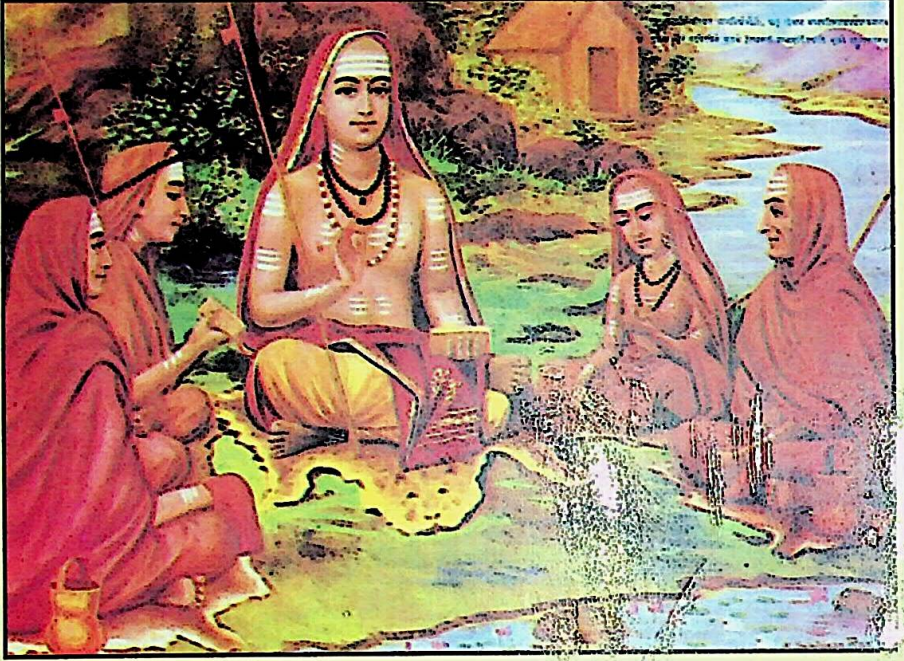
दिव्य ग्रन्थ रचना निपुण, दिव्य बोध आगार।
दिव्य शब्द आलोकघन, दिव्य सकल आचार॥